सुविधि दर्शन

(`सुविधि' लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

- **प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :**

  वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

  ५८०, जूनी माणेकवाड़ी,

  भावनगर-३६४००१

  फोन : (०२७८) ४२३२०७ / २१५१००५

- **गुरु गौरव**

  श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

- **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट**

  विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

  फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

- श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १००० द्वितीयावृत्ति : प्रत : ४००

तृतीयावृत्ति : प्रत : ५०० (३१-१२-०७, कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन

पृष्ठ संख्या : २० + ३०० = ३२०

लागत मूल्य : ५५/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेशन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

बारडोलपुरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय
(तृतीयावृत्ति)

`**सुविधिदर्शन**' नाम के इस लघुकाय ग्रंथ की तृतीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है। जिनागमों में ज्ञानीपुरुषों ने भव्य जीवों के हितार्थ अनेकविध प्रयोजनभूत विषयों का प्रतिपादन किया है, जिसमें निजात्मस्वरूप और इसे प्राप्त करने की विधि - इन दो विषयों का बहुत महत्त्व है।

अध्यात्मयुगसृष्टा परमतारणहार पूज्य गुरुदेवश्री `कानजीस्वामी' ने ४५ साल जो प्रवचनगंगा बहायी इसका मुख्य विषय स्वरूपमहिमा और इसे प्राप्त करने की विधि का ही रहा है। विधि का विषय बारह अंग का सर्वाधिक रहस्यभूत विषय है। परिणाम अंतर्मुख होकर स्वरूप आस्वादन किस विधि से करते हैं यह विषय अति-अति सूक्ष्म रहा है, जिसे केवल ज्ञानीपुरुष के समागम में ही समझना योग्य है, अवगाहन करने योग्य है। अविधि से प्रयत्न करने से जीव को मार्गप्राप्ति नहीं होती, यह वर्तमान परिस्थिति पर से समझा जा सकता है।

निजस्वरूप की पहचान बिना - निश्चय बिना - भावभासन बिना कभी किसी को स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। स्वरूप की पहचान स्वरूप के परिचय बिना नहीं हो सकती, परिचय अवलोकन के बिना नहीं हो सकता, अवलोकन का सातत्य पूर्ण शुद्धि के लक्ष बिना नहीं रह सकता और पूर्ण शुद्धि का लक्ष परिभ्रमण की वेदना में आये बिना नहीं हो सकता। अतः मुमुक्षुजीव का प्रथम कर्तव्य यह है कि, खुद शुद्ध अंतःकरणपूर्वक आत्मकल्याण की भावना में आये।

स्वरूपनिश्चय कहो या अस्तित्वग्रहण कहो, दोनों एकार्थ हैं। परन्तु यह अस्तित्वग्रहण कैसे हो ? मुमुक्षुजीव कैसे अवलोकन करेगा ? कैसी भावना के फलस्वरूप अवलोकन शुरू होगा ? अवलोकन माने

क्या ? भावभासन माने क्या ? स्वभावजाति के भाव और विभावजाति के भावों का परिचय करके स्वभाव का भावभासन कैसे हो ? इत्यादि अनेक विषयों को स्पष्ट करते हुए ये प्रवचन मुमुक्षुजीवों के लिये अवश्य अवश्य प्रकाश के पुँज समान हैं।

महापुरुषों ने - अनुभवी पुरुषों ने शास्त्र में भावों की चर्चा की है। शब्द तो केवल वाचक हैं परन्तु भाव है वह उसका वाच्य है। भावों को समझने के लिये भावों का परिचय चाहिये, यह तो समझ ही सकते हैं। भाव भासित हुए बिना तत्संबंधित रस उत्पन्न नहीं होता। शास्त्रों में दर्शाये हुए भावों को समझने के लिये उपयोग को चलता हुआ जो भी भाव हो उस पर ले जाकर उस भाव को समझना चाहिये तब ही शास्त्रकार का कहने का आशय यथार्थरूप से समझ में आयेगा। धारणा से की हुई समझ और इसप्रकार भावों के अवलोकन द्वारा की गई समझ - दोनों में बहुत बड़ा तफावत है। जो कि अनुभव से समझा जा सकता है।

जैसे बाहरी दुनिया का अपनी जगह एक अस्तित्व है वैसे अंतरंग में भावों की दुनिया है। इस भावों की दुनिया का जीव ने परिचय नहीं किया है। स्वयं के परिणामों को देखने के पीछे पर्यायदृष्टि दृढ़ कराने का हेतु नहीं है अपितु चलते हुए भावों के अनुभव को पिछानकर स्वभाव की पहचान तक पहुँचाने का हेतु है। अवलोकन है सो चलते हुए भावों के अनुभव को देखने का प्रयोग है, जिससे भावों की पहचान होती है, इसमें रस क्या है, इसके पीछे अभिप्राय क्या काम करता है, इसमे वेग कितना है, इत्यादि अनेक पहलू समझ में आते हैं।

स्वयं के चलते हुए भावों का परिचय करके इसे पहचानना, इसमें विभावजाति के भावों की पहचान होगी, स्वभावजाति के भावों की पहचान भी होगी। ज्यों-ज्यों भावों का परिचय विशेष त्यों-त्यों अवलोकन में सूक्ष्मता आयेगी और सूक्ष्मता आनेपर स्वभाव की पहचान होगी।

स्वभाव और विभाव की पहचान हुए बिना भेदज्ञान कैसे होगा ? होगा ही नहीं। भेदज्ञान है वह स्वानुभव के लिये सर्वोत्तम उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः उपरोक्त विधि मुमुक्षुजीव को आत्महित की भावना में आकर अवश्य हस्तगत करने योग्य है।

इस प्रकार आत्मभावना से शुरूआत करके मुमुक्षुजीव अवलोकन में आता है और अवलोकन द्वारा भावों का परिचय साधता है, ऐसे परिचय के फलस्वरूप पहचान होती है, जिस पहचान के बाद भेदज्ञान होता है और भेदज्ञान से स्वानुभव होता है। यह मार्गप्राप्ति का क्रम है।

मार्गप्राप्त पुरुष ही मार्ग दिखा सकते हैं, अन्य कोई मार्ग दिखाने में समर्थ नहीं होता। जो खुद ही इस विषय से अनभिज्ञ हो वह दूसरों को कैसे दिखा सके ? अतः प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए पूज्य भाईश्री शशीभाई के इन प्रवचनों का स्वाध्याय करते वक्त उनकी विशिष्ट दिव्य प्रभा के दर्शन होते हैं। उनका इस विषय पर जो प्रभुत्व है, सरस्वती के वरदान की प्रतीति कराता है। अंतर्मुख होना यह एक कला है जो प्रायः वचनअगोचर है, फिर भी स्वयं के अनुभव में कलम को डूबो-डूबोकर पूज्य भाईश्री ने अनुभव को लेखनी में उतारा है जो उनके इस विषय पर सातिशय असाधारण प्रभुत्व के दर्शन कराती है। उनके प्रवचन-अमृतसमुद्र में यह एक ऐसा अमृतबिंदु है जो मुमुक्षुजीव के नेत्र का अंधत्व दूर करके `सुविधिदर्शन' कराता है।

इस ग्रंथ के मंगल प्रकाशन प्रसंग पर प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन, पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी एवम् परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी का स्मरण करके उन्हें वंदन करते हैं।

इस ग्रंथ में छपे हुए सारे के सारे प्रवचन सर्व प्रथम अक्षरशः ऑडियो केसेट पर से लिख लिये हैं। तत्पश्चात् इसका संपादन कार्य भी केसेट सुनते-सुनते किया जाता है कि जिससे वचन में रहा अंतरध्वनि

(Under tone) व आशय को यथावत रखा जा सके। जहाँ जरूरत लगे वहाँ कौंस भरे हैं। तथा प्रेस में भेजने के पहले दूसरे मुमुक्षु द्वारा केसेट से मिलान कर लिया जाता है, अतः कोई क्षति रह गई हो तो उसे भी मिटायी जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि का विवरण अन्यत्र दिया गया है। ऑडियो केसेट पर से अक्षरसः प्रवचन लिखने से लेकर जिन-जिन मुमुक्षुओं ने इस ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में अपना योगदान दिया है, उनके हम आभारी हैं। ग्रंथ के सुंदर टाईप सेटिंग के लिये `पूजा इम्प्रेशन्स' का एवम् सुंदर मुद्रण कार्य हेतु `भगवती ऑफसेट' के भी हम आभारी हैं।

वीतराग सत् साहित्य प्रकाशन के इस कार्य में एवम् इस हिन्दी अनुवाद में कोई भी प्रकार की क्षति रह गई हो तो मन से, वचन से, काया से शुद्ध अंतःकरणपूर्वक वीतराग देव, गुरु, शास्त्र के प्रति क्षमा याचना करते हैं। पाठकवर्ग को यह हमारा नम्र निवेदन है कि कोई भी क्षति दृष्टिगोचर हो तो निःसंकोच हमें जानकारी दें। अतः भविष्य में ऐसी भूलों का पुनरावर्तन न हो।

अंततः प्रस्तुत ग्रंथ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षुजीव आत्महित करके कल्याणमार्ग को प्राप्त हो, यही भावना।

दि. ३१-१२-२००७ (कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

इस पुस्तक की किसी भी प्रकार से आशातना या विराधना न हो इसका लक्ष रखने की विनती।

सुविधि

स्वरूप प्राप्त करने की कार्यपद्धति - यथार्थ कार्यपद्धति को `सुविधि' कहते हैं। ऐसी सुविधि कोई परिभाषा (Theory) नहीं है। उसी प्रकार से (यह) किसी सूत्र का शब्दार्थ, भावार्थ अथवा धारणा-ज्ञान का प्रकार नहीं है परन्तु स्वरूप साधने के लिये उद्यमवंत जीव का प्रयोगात्मक परिणमन है जो कि उपायरूप है।

यद्यपि एकमात्र आत्महित के लक्ष से द्रव्यश्रुत द्वारा यानी कि आत्मानुभवी पुरुषों की वाणी का श्रवण-वाचन, सत्पुरुष के चरणों में रहकर स्वरूप प्राप्ति की भावना और लगनी सहित करने में आये; वहाँ प्रथम विचार-मनन-चिंतवनपूर्वक श्रुत की धारणा का प्रसंग है। फिर भी धारणारूप समझ को साथ ही साथ उदय प्रसंग में लागू करना - करते ही रहना चाहिये; अन्यथा मात्र धारणा से संतुष्ट होकर वहीं पर रुक जाना अनिवार्यरूप से हो जायेगा। इस प्रकार (की) समझ के बाद परिणमन की दिशा में एक कदम आगे बढ़ने की यह पद्धति है।

ज्ञानीपुरुषों ने आत्महित के उपाय का दो विभाग में वर्णन किया है - एक तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग कि जो सम्यक् पुरुषार्थ सहित होता है और दूसरा उसकी प्राप्ति हेतु पूर्वभूमिका में उस मार्ग पर्यंत पहुँचने के प्रयासरूप मुमुक्षुदशा। इस प्रकार ज्ञानदशा और मुमुक्षुदशा में किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्ण शुद्धिरूप ध्येय को साधने में आता है उस मार्ग की विधि की सूक्ष्मता विकल्प जितनी स्थूल नहीं है तो वचन-कथन की स्थूल परिस्थिति में किस प्रकार समा सके ? ऐसी एक समस्या इस विषय को व्यक्त करने में यहाँ उत्पन्न होती है; तथापि समर्थ सत्पुरुषों ने प्रस्तुत विषय

को यत्किंचित् वचनगोचर किया हुआ होने से, उसके आधार से स्व-पर हितार्थ यहाँ प्रस्तुत है :

प्रथमतः ही जिस जीव को जन्म-मरण के चक्रमें से छूटने का तीव्र भाव / उछाल अंतर से आता है अथवा जो एकमात्र आत्महितार्थ उल्लासित वीर्यवान होकर उसी लक्ष से प्रवर्तता है वैसा जीव अपनी दशा में प्रवर्तमान अवगुणों का नाश करने के दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्श्रुत का अवगाहन करता है, वहाँ प्रथम कार्य विचार-मननपूर्वक शुरू होता है उसमें अपने पूर्वगृहीत अभिप्राय तथा मान्यता से विरुद्ध प्रकारों एवं उपदिष्ट विषय का बहुत मंथन चले और उस मंथन के अंत में सत्य संमत हो जाये, तो भी प्रयोग करके उसे संमत करने की पद्धति रखें - ऐसा प्रकार, यह सुयोग्य प्रकार है।

यथार्थ कार्यपद्धति / विधि के संदर्भ में सोचने पर अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है क्योंकि अवलोकन हुए बिना परिणाम में उत्पन्न रस को जीव स्वयं समझ नहीं सकता और तत्त्वज्ञान का अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो जाता है। ऐसी परलक्षी धारणा का उपयोग नहीं हो सकता और ऐसी उपदिष्ट धारणा प्रायः कृत्रिमता को उत्पन्न करती है अर्थात् धारणानुसार कार्य करने की कर्तृत्वबुद्धि से धारणा का विषय चरितार्थ करने का होता है। वास्तव में तो तत्त्व का अभ्यास स्वलक्षी / आत्मलक्षी होना चाहिये क्योंकि :

१. स्वलक्षीज्ञान ही प्रतीति को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु परलक्षी आगमज्ञान अनादि विपरीत श्रद्धा को पलटने के लिये समर्थ नहीं है। जिस तरह राग से विपरीत श्रद्धा पलटी नहीं जा सकती उसी तरह परलक्षीज्ञान भी सम्यक् श्रद्धा को उत्पन्न करने में असमर्थ है।

२. स्वलक्षीज्ञान गुण को / स्वभाव को साध सकता है परन्तु

परलक्षीज्ञान विकल्पवृद्धि में परिणमता है या प्रायः शास्त्रीय अभिनिवेश आदि दोषों को साधता है।

३. स्वलक्षीज्ञान अनुभव में आ रहे भावों की गहराई में जाता है, जिससे स्वभाव-विभाव जाती की परख होने की क्षमता उत्पन्न होती है परन्तु परलक्षीज्ञान तो स्थूलरूप से ऊपर-ऊपर से प्रवर्तन करके मात्र धारणा करता है।

४. स्वलक्षीज्ञान के साथ प्रतीति सम्मिलित होती है जिसके कारण स्वरूपस्थिरता का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। परन्तु परलक्षीज्ञान विशाल क्षयोपशमवाला होने पर भी उससे उपयोग की स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती।

५. स्वलक्षीज्ञान में हुआ आत्मस्वरूप का निर्णय स्वरूप की अनन्य रुचि, अंतर्मुखी पुरुषार्थ का बल एवं अपूर्व चैतन्यरस (स्वरूप महिमा की वजह से उत्पन्न हुआ) उत्पन्न करता है। परन्तु परलक्षीज्ञान से आगम के आधार से किया हुआ स्वरूप का निर्णय भी आत्मस्वरूप के महिमा-रस-रुचि-पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर सकता।

जीव के परिणमन के विज्ञान अनुसार परिणाम की शक्ति उसमें रहे हुए रस में मौजूद है। इसलिये विभावरस टूटकर स्वभावरस समुत्पन्न हो यह जीव का कर्तव्य है। विभावरस शुभ तथा अशुभ दोनों समानरूप से आत्मा को प्रतिबंधक है - ऐसा अवलोकन बिना किसी तरीके से अपने को अनुभव में (समझ में) नहीं आ सकता। रस तथा रुचि के परिणाम अविनाभावी हैं, इसलिये स्वयं की विभाव की रुचि को पलटाये बिना; जो कोई जीव ध्यान-योगादि प्रयोग द्वारा उपयोग को बहिर्मुखता से पलटाकर अंतर्मुख करना चाहता है उसे मार्ग की यथार्थ विधि के क्रम की खबर नहीं होने के कारण उस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है। वैज्ञानिक परिस्थिति

ऐसी है कि, प्रथम रुचि को पलटाये बिना उपयोग नहीं पलट सकता। इसलिये इस विज्ञान से अनजाने जीव अविधिपूर्वक उपयोग को पलटाने का व्यर्थ में ही परिश्रम करते हैं, उसमें समय और शक्ति का मात्र दुर्व्यय ही होता है।

निज हित की तीव्र भावना के कारण मुमुक्षु जीव जब अवलोकन पद्धति में आता है; तब स्वयं के ही चलते परिणाम का जो अनुभव (है), उसे समझने का अभ्यास चलता है। शास्त्र के निमित्त से निमित्ताश्रित ज्ञानाभ्यास है, जब कि यहाँ उपादान आश्रित ज्ञानाभ्यास है। बारंबार के अवलोकन के दीर्घकालीन अभ्यास से; अवगुण टालने के लक्षवाले जीव को अनेक प्रकार के विभावभाव में आकुलता का अनभुव होता है - ऐसा अनुभवपद्धति से समझता है। तदुपरांत उन-उन विभावों में निहित किन्तु व्यक्त मलिनता को भी अनुभव से समझता है। इसलिये उन-उन भावों की अरुचि पैदा होती है तथा वहाँ से खिसकने की सहजवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार विभावरस मंद पड़ता है। अवलोकन के अभ्यास में आत्मरुचि के कारण सूक्ष्म हुए ज्ञान में अपनी विभाव परिणति मुमुक्षुजीव को भास्यमान होती है।

जीव सामान्यतः संसार में अनुकूलता-प्रतिकूलता की मुख्यता में संयोगों से चिपककर प्रवर्तते रहते हैं। परन्तु आत्मार्थी जीव इस प्रकार में नहीं जाकर के उदय में इष्ट-अनिष्टपने से निवर्तित होने के पुरुषार्थ में लगा रहता है - निजहित की अपूर्व लगनी से लगा हुआ होने के कारण वह अवश्य आत्महित साधेगा।

अवलोकन करनेवाला ज्ञान स्वयं का अवलोकन भी करता है, वहाँ प्रथम ज्ञान की व्याप्ति के अनुभव को बारंबार उदय के प्रसंगों में जाँचता है, जिस जाँच के अभ्यास की फलश्रुति इस प्रकार आती है कि मेरा ज्ञान (पुद्गल के जो-जो कार्य जीवभाव के साथ

निमित्त-नैमित्तिकभाव से परस्पर मेलवाले हो रहे हैं फिर भी) किसी भी संयोगी पदार्थ में व्यापता नहीं है; मात्र जानने की मर्यादा में ही रहता है। विकल्प भी मात्र की ही मर्यादा में रहता है। वह विकल्प भी विकल्पानुसार कार्य का अनुसरण करे ऐसे शरीरादि की पर्यायों में व्यापता नहीं है। इस तरह कार्य-कारण में स्व-पर की भिन्नता अवलोकन से समझ में आने पर जीव का उदय के कार्यों को करने का रस टूटता है और ऐसे परिणाम में परपदार्थ के प्रति का ज़ोर (बल) कम हो जाता है। जहाँ किसी भी कार्य को करने का रस एवं जोर न हो वहाँ तत्संबंधित दुराग्रह और तीव्र कषायरस कैसे हो ?

सर्व दोषों से रहित होने की भावना में, पूर्णशुद्धि प्राप्त करने का अभिप्राय रहा है। अतः पूर्ण शुद्धता का लक्ष-ध्येय दृढ़ मोक्षेच्छा में परिणमित होता है। स्वरूपप्राप्ति की ऐसी भावना में आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है। इसलिये मुमुक्षुजीव को अपना मूलस्वरूप पहचानने की कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासा का अंत जब तक `स्वरूपनिर्णय' में नहीं आता तब तक (यह) अतृप्त जिज्ञासा मुमुक्षुजीव को सभी उदय प्रसंगों में और पंचेन्द्रिय के विषयों में नीरस कर देती है। इतना ही नहीं अपितु इस स्थिति की तीव्रतामें से गुजरने पर नींद भी उड़ जाती है अर्थात् रात-दिन उसकी आत्मा स्वरूप-खोज में लगी रहती है। निर्मोही स्वरूप की खोज की तीव्रता के कारण दर्शनमोह का अनुभाव यथार्थरूप से काफी मात्रा में कम होता है। इसलिये ज्ञान में अनादि से रहे अज्ञान-अंधकार के पटल की प्रगाढ़ता कम होती है, अर्थात् इस भूमिका में ज्ञान स्वरूपनिश्चय हेतु सक्षम / निर्मल होता है - ऐसे मुमुक्षुजीव को आध्यात्मशास्त्र के भाव यथार्थरूप से भासित होते हैं और ऐसे निमित्तों में आध्यात्मरस

वृद्धिगत भी होता है।

दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का दूसरा एक समर्थ कारण भी इस काल में उत्पन्न होता है, वह विद्यमान सत्पुरुष के चरणसानिध्य में सरलतापूर्वक सत्संगप्राप्ति की भावना है। अनादि से अनजान ऐसे सन्मार्ग को दर्शानेवाले सत्पुरुष, मार्ग के सच्चे जिज्ञासु के लिये वास्तव में परमात्मा तुल्य ही हैं, ऐसा मात्र स्वरूप के खोजी जीव को ही लगता है; इसलिये यदि कदाचित किसी सत्पुरुष का योग हो जाये तो सर्वार्पणबुद्धि से सत्संग को मुख्य करता है और यदि ऐसा योग न हो तो, वह ऐसे योग की आश्रयभावना में वर्तता है। इस प्रकार के परिणाम, दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का अति सुगम व सरल उपाय है। `स्वरूपनिश्चय' होने की योग्यता की प्राप्ति-तथारूप वर्तमान पात्रता यहाँ उत्पन्न होती है। दर्शनमोह के विज्ञान अनुसार यह सिद्धान्त है कि `दर्शनमोह मंद हुए बिना वस्तुस्वरूप का भासन होता नहीं और दर्शनमोह का अभाव हुए बिना आत्मा अनुभव में आये ऐसा है नहीं।' आत्मानुभव होने का यह अनिवार्य क्रम है।

उपरोक्त पात्रता में आया हुआ मोक्षार्थी जीव अंतर संशोधन में गहराई में जाता है तब स्वयं के `ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है : इस विधि का प्रसिद्ध नाम `भेदज्ञान' है। वहाँ प्रथम बुद्धिपूर्वक ऊपर-ऊपर से भेदज्ञान का प्रयास चालू होता है। प्रयास मतलब स्वयं मात्र जाननेवाला / ज्ञायक है ऐसे ज्ञायक का ज्ञायकरूप से अभ्यास करे, यानी उदय में जब-जब हर्ष-शोक के भावों के तीव्र रस के प्रसंगों में अपनी जाँच करे (ज्ञान, ज्ञान की जाँच करे) तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मरे ज्ञान में तो वास्तव में कुछ कम-ज्यादा हुआ नहीं अर्थात् हर्ष

होने से मुझे कुछ मिला नहीं और शोक के प्रसंग में मेरेमें से कुछ गया नहीं। यह सिर्फ विकल्प करने मात्र नहीं परन्तु चलते हुए परिणमन में अपने अनुभव की जाँच करके मालूम पड़ी हुई भिन्नता है। बारंबार इस प्रकार भिन्नपने का अध्यास होने से स्वयं को ख्याल आता है कि मिथ्याबुद्धिरूप अभ्यास से जो `परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है, उसका झूठापन समझ में आता है। `परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है, ऐसा अवलोकन से समझ में आता है तब उस भूल को मिटाने की सूझ ख्याल में आती है। अर्थात् सुलटे प्रयोग की रीत समझ में आती है। यह `परप्रवेशभाव' ही जीव के स्वसंवेदन को रोकनेवाला भाव है। इस प्रकार भेदज्ञान के प्रयोगाभ्यास से मालूम पड़ता है कि कोई परज्ञेय (रागादि परभाव भी) वास्तव में मेरे पर - ज्ञान पर किंचित् मात्र असर नहीं पहुँचा सकता है। अनंतकाल से मैंने परपदार्थ का अनुभव किया है ऐसी मान्यता रखी है, वह असत्य है। अनंतकाल से रागादि भावों के असर में अनेकविध विकारीभावरूप अपने को अनुभव करके प्रगाढ़ रसवाले विकारी परिणाम के बीच रहने के बावजूद भी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।

अगर मोक्षार्थी जीव विशेष प्रकार की पात्रता में वर्तता हो और स्वहित में उत्साहित वीर्य से वर्तते हुए प्रत्येक कार्य में - प्रत्येक प्रसंग में, उपयोग में ज्ञान की व्यापकता को अवलोकता हो तो स्वयं `ज्ञानमात्र' रूप भिन्न भासित होता है। इस प्रकार `ज्ञानमात्रपने' का अभ्यास वृद्धिगत होने से `ज्ञानमात्र' में ज्ञानवेदन भास्यमान होता है। वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। अतः ज्ञानवेदन से स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष सहज स्वरूप से है - ऐसा अपने मूल स्वरूप का भावभासन स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता

है, जो वृद्धिगत होने पर कोई अपूर्व पराक्रम से परोक्षपने का विलय करके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्थिरभाव धारण करेगा। इस प्रकार का भेदज्ञान वह विभाव के निषेधपूर्वक प्रगट स्वभाव का आदर-सत्कार है। परमार्थ की तीव्र भावना में वर्तते जीव को इस प्रकार का भेदज्ञान प्रयासरूप से सहज होना योग्य है।

भेदज्ञान के प्रयोग से (अनादि से जो राग की मुख्यता अर्थात् राग में मैंपना / राग में अस्तित्वपना ग्रहण हो रहा है उसको) ज्ञान में मैंपना द्वारा ज्ञान को मुख्य करने से रागादिभावों में अभेदबुद्धि से वर्तने से कर्तापने का नाश होता है। यह स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया (Process) है।

ज्ञान में मात्र ज्ञान को स्वरूप से अवलोकन करने का दृष्टिकोण साध्य करके बारंबार प्रय्तन करने से ज्ञान की स्वभाव जाति की परख आती है; तब विभावजातिवाले भावों की भी परख आती है; इसलिये विभाव का कोई भी रूप - अति शांत मन की शांति के रूप में हो तो भी वह विभाव ही है, ऐसी पहचान आती है, और उस विभाव की मलिनता तथा आकुलता पहचान में आ जाती है।

प्रगट ज्ञान में स्वभावअंश का विकास (- खुलापन) होने से स्वभाव की अनंत शक्ति / सामर्थ्य, शाश्वतपना आदि का निर्णय हो सकता है। जिसे राग के छोटे से छोटे कण में दुःख, मलिनता और अचेतनपने का (-ज्ञानप्रकाश के अभाव का) निर्णय होता है; (युक्ति से नहीं परन्तु अनुभव के अवलोकन से) उसको ज्ञानलक्षण द्वारा स्वभावस्वरूप में स्थित अनंत सुख-सामर्थ्य का भी निश्चय होता है। अवलोकन में चेतना... चेतना... चेतना के सातत्य द्वारा अपना चेतना-गुणमयपना, परद्रव्य से तथा राग से अपने को भिन्न करने का एकमात्र साधन है, इसके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है।

ज्ञान में रहे हुए ज्ञानवेदन द्वारा लक्षरूप आत्मा की प्रसिद्धि है। यह लक्ष-लक्षण की संधि है। जैसा आत्मा केवलज्ञान में जानने में आता है वैसा ही आत्मा लक्षगत होने पर अनंत महिमावंत पदार्थ साक्षात् सिद्ध स्वरूप मैं हूँ, ऐसा लगते ही उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है। यह महिमा आत्मरस द्वारा परिणति को उत्पन्न करती है। बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में स्वरूपशक्ति को देखने से, उसमें निहित अनंत सुख का भंडार प्रतिभासित होने पर निर्विकल्प स्वरूप का रस घुटकर गाढ़ होता जाता है, ऐसी परिस्थिति में स्वभाव की अनन्य रुचि अपूर्व भाव से प्रगट होती है और रुचि अनुयायी वीर्य पुरुषार्थ के द्वारा अनंत प्रत्यक्ष नूर का पुंज ज्ञान में रही हुई परोक्षता को विलीन करके सहज प्रत्यक्षरूप वर्तने लगता है।

जब कि आम तौर से तत्त्वाभ्यास करनेवाले का ऐसा अभिप्राय होता है कि `आत्मा परोक्ष है, अप्रगट है, इसलिये जानने में नहीं आता है' इसका समाधान ऐसे है कि स्वरूप से तो आत्मा प्रत्यक्ष ही है, परन्तु पर्याय अंतर्मुख हो तो `आत्मा प्रत्यक्ष है' ऐसा जानने में आता है। बहिर्मुख ज्ञान की पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष लगता नहीं है, भासित नहीं होता है; परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष ही है। उसके सन्मुख ढलकर देखे तो स्वयं प्रत्यक्ष है, ऐसा भासित होता है। परन्तु सन्मुख कैसे होना अथवा कैसे ढलना इसकी समस्या अवश्य है; इसका समाधान इस प्रकार है कि :

उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को अर्थात् स्व को जाने। ज्ञान के आधार से - निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है। यह निर्णय राग या निमित्त (देव-शास्त्र-गुरु) के आधार से हुआ नहीं है, परन्तु राग से अंशतः मुक्त होकर ज्ञान से ज्ञानस्वभाव

का (स्व का) ज्ञान की अधिकता में (अनादि राग की मुख्यता थी उसको पलटकर के) हुआ भावभासन है, कि जिसमें भवी-अभवी की शंका नहीं रहती।

ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है। इसलिये प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे, तब स्वसन्मुख होकर वेदन का (प्रसंग) बनता है। इस तरह स्वसन्मुख होने की रीति (पद्धति) है। अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को वेदते समय ज्ञान की दिशा किसी बाह्य ज्ञेय पर नहीं होती है, परन्तु यहाँ ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है और अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है। दशा की दिशा पलटना वह अपूर्व है। ऐसे स्वरूपनिर्णय के काल में ही एक अखंड-अभेद वस्तु के द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेद यथार्थरूप से समझ में आते हैं। भेद समझ में आने पर भी, भेद का दृष्टिकोण गौण होकर मुख्यरूप से अभेदता साधने की प्रक्रिया चलती है। वास्तविक परिस्थिति यह है कि वेदन वर्तमान अंश का होने के बावजूद भी अवलंबन अंशी का / स्वभाव का लेना है। जबकि वर्तमान अंशरूप वर्तता हुआ भाव, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में `मैं-पने के भाव से' अभेदता साधकर स्वरूपानुभव करता है; फिर भी वेदन त्रिकाली में नहीं होता है; और पर्याय में राग वेदन गौण होकर ज्ञानवेदन का आविर्भाव होने पर भी उसका इतना मुख्यपना नहीं होता जिससे कि उसका अवलंबन ले लिया जाये।

विधि के संक्षेप का विचार करें तो प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा, स्वभाव की प्रत्यक्षता का प्रतीति के बल से बारंबार उग्रपना होने से (अभेदभाव से `मैं ऐसा ही हूँ') स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है। जिसमें श्रद्धा और ज्ञान की मैत्री है। इसी विधि का स्व. श्री दिपचंदजी ने `अनुभव प्रकाश'में इन शब्दों में वर्णन किया है `ज्ञान के प्रत्यक्ष रस का

भाव में वेदन करना - वह अनुभव है।' - `स्वयं को ही प्रभु स्थापित कर, अपने परमेश्वरपद का दूर अवलोकन न कर।' अर्थात् अपने परमपद का भिन्न रहकर (- अवलोकन की पर्याय में खड़े रहकर) अनुभव नहीं कर सकते हैं।

जिस निजात्मतत्त्व की पहचान होती है वह शक्तिरूप होने पर भी अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से परिणमित होने का उसका स्वभाव है। इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से (-मात्र विचार करने से नहीं), भाने से - शक्ति का व्यक्त परिणमन होने लगता है। द्रव्यानुसारी शुद्ध परिणमन उत्पन्न होने का यह विज्ञान है।

इस तरह वर्णन के अनेक प्रकार होने पर भी `विधि' तो एक ही प्रकार से है।

प्रसिद्ध लक्षण से प्रसाध्यमान स्वभाव की / परमतत्त्व की महानता ही ऐसी है कि समस्त जगत सहज ही गौण हो जाता है। जगत को गौण करने के लिये कृत्रिम विकल्प अथवा कोई अन्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती है।

प्रथम शुद्धोपयोग का जन्म उक्त भेदज्ञान के प्रयास का फल है और तभी सर्व गुणांश ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है, यहाँ से साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। मोक्षमार्गी धर्मात्मा को भेदज्ञान याद नहीं करना पड़ता या रटना नहीं पड़ता परन्तु सहज यानी कि विकल्प किये बिना सविकल्पदशा में भी भेदज्ञान, परिणतिरूप में निरंतर वर्तता है। श्रद्धा तो अखंड स्वरूप में प्रसरित हो जाती है और अपने परमात्मपद के अलावा अन्य किसी द्रव्य-भाव को वह स्वीकारती नहीं है। स्वयं के परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा का नाश हो जाता है। वह शुरूआत से लेकर केवलज्ञान पर्यंत

की पूर्णदशा निकट में वर्तती होने पर भी श्रद्धा उसको विषय नहीं करती; ऐसा ही कोई स्वभाविक गुण सम्यक्श्रद्धा के विषय में है। मोक्षमार्ग में वर्तता सम्यक्ज्ञान स्व-पर प्रकाशन में अपने को शुद्धरूप उपासता रहता है और निर्मलता आदि धर्मसहित पूर्णता के प्रति गतिमान रहता है। ज्ञान की प्रवृत्ति नय-प्रमाणयुक्त होती है। उसमें हमेशा व्यवहारनय की गौणता तथा निश्चयनय की मुख्यता रहने के कारण से निश्चयस्वरूप सधता है और निश्चय के ज़ोर से अशुद्धता टलती जाती है तथा शुद्धता वृद्धिगत होती जाती है। तो भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ के अनुसार सिद्धि के समय का आधार है। अर्थात् पूर्ण शुद्धि को प्राप्त होने में पुरुषार्थ की तीव्रता से अल्प समय में पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति होती है, जितनी शिथिलता रहती है उतना समय ज्यादा लगता है; परन्तु अल्प (असंख्य) समय में साधकदशा की पूर्णता अवश्य हो जाती है; पुरुषार्थ की उग्रता में मोक्षमार्गी धर्मात्मा शुद्धोपयोग में परिणमन करते हैं और पुरषार्थ की मंदता में सविकल्पदशा में रहना होता है; फिर भी परिणति में धर्मध्यान निरंतर चालू ही रहता है, जिसे स्वरूपआचरणचारित्र अथवा आत्मचारित्र कहने में आता है। ये सारे परिणाम अभेदरूप से और अविरुद्धपने से वर्तते हैं - ऐसा जानना चाहिये।

महात्माओं ने समस्त शास्त्रों की रचना भेदज्ञान होने के लिये की है। क्योंकि यह उनका अखंड जाप है अथवा स्वधर्म में रहनेरूप प्रवृत्ति है।

अतः स्वरूपप्राप्ति के अभिलाषी जीवों को समस्त सिद्धांत और उपदेश के सारभूत सम्यक्विधि को जानकर अंगीकार करने योग्य है।

ॐ शांति

‘सुविधि दर्शन’
प्रवचन अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक		पृष्ठ संख्या
०१.	. . . .	००१
०२.	. . . .	०२७
०३.	. . . .	०५०
०४.	. . . .	०७५
०५.	. . . .	१०१
०६.	. . . .	१२७
०७.	. . . .	१५१
०८.	. . . .	१७४
०९.	. . . .	२००
१०.	. . . .	२२०
११.	. . . .	२४६
१२.	. . . .	२७०

‘सुविधिदर्शन’ पुस्तक के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर २,१००/-

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ’

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

ॐ

वीतरागाय नमः

सुविधि दर्शन

१ दि. १८-०२-१९९०

`तत्त्वानुशीलन'में से स्वरूपप्राप्ति की कार्यपद्धति का विषय है। विधि मतलब कार्यपद्धति अथवा कार्य करने की रीत। इसे `विधि' कहते हैं।

प्रश्न :- `तत्त्वानुशीलन' में अनुशीलन माने क्या ?

समाधान :- तत्त्व का अनुशीलन मतलब चिंतवन, तत्त्व संबंधित चिंतवन। सामान्य अर्थ इसका ऐसा है अथवा तत्त्व के अनुसरणपूर्वक

आत्मा को घड़ना। `शील' मतलब घड़ना। `**स्वरूप प्राप्त करने की कार्यपद्धति - यथार्थ कार्यपद्धति को `सुविधि' कहते हैं।**' `सु' विशेषण लगाया है न ! (अर्थात्) यथार्थ पद्धति। क्योंकि स्वरूप प्राप्त करना मतलब स्वरूप का अनुभव करना। प्राप्त नाम अनुभव। स्वरूप तो जहाँ है वहाँ ही है, परंतु अनुभव होवे तब अनुभव में प्राप्ति हुई, ऐसा कहा जाता है। इस विषय में भिन्न-भिन्न अभिप्राय हैं, भिन्न-भिन्न कार्यपद्धति का लोग अनुसरण करते हैं। यहाँ `यथार्थ पद्धति' कौन-सी है, इसकी चर्चा की है।

`**ऐसी सुविधि कोई परिभाषा (Theory) नहीं है।**' इसलिए हमलोग व्याख्या सीख ले कि, इसको स्वरूप प्राप्त करने की विधि कहते हैं, व्याख्या सीख लेने से यह विधि हस्तगत् हो गई ऐसा इसमें नहीं है। यह कोई मात्र परिभाषा नहीं है या कोई धारणा करने का विषय नहीं है (या) याददास्त की चीज़ नहीं है कि, हम सीख ले। (इस प्रकार यह कोई) परिभाषा नहीं है। `**उसी प्रकार से (यह) किसी सूत्र का शब्दार्थ, भावार्थ अथवा धारणा-ज्ञान का प्रकार नहीं है।**'

सूत्र का शब्दार्थ है वह तो शब्दों के अर्थ के क्षयोपशम के साथ संबंध रखता है। भावार्थ है वह आशय के साथ संबंध रखता है और उसे स्मृति में धारण करके रखना - याददास्त में रखना उसे ज्ञान की धारणा कहते हैं। (ये सब प्रकार नहीं हैं तो क्या है, वह कहते हैं)।

`**परंतु स्वरूप साधने के लिये उद्यमवंत जीव का प्रयोगात्मक परिणमन है...**' विधि क्या चीज़ है ? यह नहीं, यह नहीं, इस प्रकार से बात ली तो फिर है क्या ? कि, स्वरूप साधने के लिए जिसका पुरुषार्थ जागृत हुआ है वह अपने पुरुषार्थ का परिणमन करता है,

उसमें विधि-निषेध का प्रयोग चलता है। अर्थात् स्वरूप को ग्रहण करना और अन्य द्रव्य-भाव के ग्रहण का अभाव करना - उसका त्याग करना, ऐसा एक प्रयोगात्मक परिणमन है। पुरुषार्थ का इसके साथ सीधा संबंध है और वह उपायरूप है, मार्गरूप है, साधनारूप है। इस प्रकार उसे अलग-अलग शब्दों से कहा जाता है।

अब यहाँ इतनी जो विधि के विषय में सामान्य बात की इसका यदि विस्तार करे तो इसमें थोड़ा विचार में यह लेना है कि, जीव इस विषय से बिलकुल अनजान है, मार्ग से बिलकुल अनजान है। और सामान्यतया जो संसारी है (यानी कि) जो मिथ्यात्व, अज्ञान में खड़ा है ऐसे जीव को शुरूआत कहाँ से करनी ? क्योंकि ऐसे जीव को प्रथम भूमिका में चौकस प्रकार की पात्रता में आना होगा, फिर पुरुषार्थ की श्रेणी शुरू होती है। पात्रता में आए तो (स्वरूप) निर्णय का अधिकारी है - स्वरूपनिश्चय का अधिकारी है और स्वरूपनिश्चय करे तो निर्णय का बल अर्थात् पुरुषार्थ प्रगट होगा। अतः सीधा उपाय और मार्ग में आ जाए, सीधा ही पुरुषार्थ में आ जाए - ऐसा जीव को नहीं बनता।

प्रश्न :- पात्रता में आने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है या सहजरूप से आना होता है ?

समाधान :- पात्रता में आने के लिए भावना होनी चाहिए। और वह भावना भी एकदम तीखी (तीव्र) भावना, एकमात्र भावना दूसरा कुछ भी नहीं - ऐसा अस्ति-नास्ति से इसके साथ संबंध है। जिसको स्वरूपप्राप्ति की भी भावना है और दूसरी भी भावना है (यानी कि) औदयिक कार्यों को ठीक रखने की, सँभालने की, अनुकूल बनाये रखने की, सावधानी रखने की भी भावना है, तो उसकी यह स्वरूपप्राप्ति की भावना निष्फल जाएगी या पात्रता उत्पन्न

नहीं होगी। इसलिए बात वहीं से शुरू की है, बात को शुरू ही वहाँ से की है।

श्रोता :- धीरे-धीरे आगे नहीं बढ़ सकते ?

पूज्य भाईश्री :- यह धीरे-धीरे ही तो है। इससे फिर और कोई धीरे बात नहीं है। पुरुषार्थ है उसमें पहले जघन्य पुरुषार्थ शुरू होता है, इसके पहले (स्वरूप)निर्णय होता है, इसके पहले भावना होती है - इतना तो धीरे लिया। फिर तो बात ऐसी है कि, जीव को वास्तव में (आत्महित) करना है कि नहीं करना है ? सवाल यह उठता है कि वास्तव में इस जीव को करना है कि नहीं करना है ? यदि वास्तव में करना ही हो तो जीव को सच्चे वेष में आना होगा। वरना तो अनंतकाल से आडंबर करता ही आया है। धर्म के नाम पर बहुत-से कार्य करता है, वह सब आडंबर के अलावा कुछ नहीं है।

श्रोता :- मुनि को धीमी धार बर्दाश्त नहीं होती जबकि हमलोग धीरे-धीरे (करना चाहते हैं) !

पूज्य भाईश्री :- मुनिदशा का पुरुषार्थ तो प्रचुर माना जाता है। वे स्वयं मनुष्य हैं न ? वे कहते हैं कि, यह धीमी धार है ! सम्यग्दर्शन से तो वह पुरुषार्थ बहुत तीव्र है। सम्यग्दर्शन भी कोई अपूर्व पुरुषार्थ गिना जाता है। इसके पहले (स्वरूप)निर्णय से उत्पन्न हुआ पुरुषार्थ तो शुरूआत का एकदम जघन्यभाव है। इसके पहले (आत्महित कर लेने का) निर्णय होता है, इसके पहले भावना होती है, कितना धीरे-धीरे तो किया ! अब और कितना धीरे चाहिए ? इसलिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीव को वास्तव में करना है कि नहीं करना है ? भावना यथार्थ लेकर आया है कि नहीं ?! इतना सवाल है।

श्रोता :- ऐसा सत्पुरुष का योग मिलने पर भी धीरी गति...!

पूज्य भाईश्री :- आत्महित करने की भावना अंतरंग से नहीं हुई। प्रायः जीवों को किसी भी जनसमुदाय में जुड़ने के बाद लोकसंज्ञा खड़ी हो जाती है कि, `हमारा इस समाज में कहाँ स्थान है ? हमारा नाम तो बराबर आगे रहना चाहिए।' अभी तो ऐसी हालत है कि समझने के बाद (भी) ऐसे ही ओघसंज्ञा में पड़ा रहे, फिर इस ओघसंज्ञावश पढ़े, विचार करे, सुने, पूजा-भक्ति करे, दया-दान करे - ऐसा कुछ न कुछ... कुछ न कुछ करे फिर उसमें संतोष मान ले कि `हम कुछ करते हैं !' लेकिन अगर भीतर से छटपटाहट हो कि, `अभी भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ ? अभी भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ ? रोज़ (ऐसे ही) शाम हो जाती है... रोज़ शाम हो जाती है...!' ऐसा लगे तो कुछ विवेक प्रगट हो।

इसमें एक खास विवेक का विषय है - सत्संग। किसका संग करना ? वरना गाड़ी वापिस उलटी पटरी पर चढ़ जाती है। अगर यह विवेक जीव नहीं करता है तो फिर गाड़ी दूसरी पटरी पर चढ़ जाती है। प्रायः ऐसा बनता है कि, जीव प्रथम कदम में संग करने में भूलता है। किसका संग करना ? यह पता नहीं होने से असत्संग को भी सत्संग मान बैठता है - एक तो वहाँ गड़बड़ होती है। अगर सत्संग मिल गया तो उस सत्संग की जितनी महिमा आनी चाहिए - जितनी मात्रा में महिमा आनी चाहिए, उतनी मात्रा में महिमा उसे ओघसंज्ञा के कारण नहीं आती है या उसकी बुद्धि में इस बात का मूल्य नहीं होता, तुलना नहीं होती। अतः जितना वज़न आना चाहिए उतना नहीं आता। ऊपर-ऊपर से चलता है - ऐसा बनता है।

`**एकमात्र आत्महित के लक्ष से...**' ऐसा इसलिए लिया कि दूसरा

नहीं - लक्ष में दो लक्ष नहीं। जीवन में एक लक्ष कहो चाहे ध्येय कहो कि, `**एकमात्र आत्महित के लक्ष से द्रव्यश्रुत द्वारा...**' द्रव्यश्रुत मतलब शास्त्र-सत्शास्त्र। कल्पित शास्त्र नहीं परंतु सत्शास्त्र। सत्शास्त्रों `**यानी कि आत्मानुभवी पुरुषों की वाणी,...**' जो अनुभवी पुरुष की वाणी होती है उस वाणी को `शास्त्र' कहा जाता है। वरना वैसे तो कई लेखक पुस्तकें लिखते हैं परंतु उसे शास्त्र नहीं कहा जाता।

स्वानुभवी `**आत्मानुभवी पुरुषों की वाणी का श्रवण-वाचन, सत्पुरुष के चरणों में रहकर...**' इतनी शर्त है। एकमात्र आत्महित की शर्त - शुरूआत में इतना है। शुरूआत की इतनी शर्त है। एकमात्र आत्महित के लक्ष से सत्शास्त्र के अलावा (यानी कि) असत्शास्त्र नहीं। आत्मानुभवी पुरुषों की वाणी का श्रवण-वांचन... परंतु किस शर्त पर ? `**सत्पुरुष के चरणों में रहकर...**' - अपनी कल्पनानुसार स्वच्छंद से पढ़ें, सो बात नहीं है।

`**स्वरूप प्राप्ति की भावना और लगनी सहित...**' इतनी शर्तें रखी हैं। जो सर्वप्रथम तत्त्व का अभ्यास करना है - तत्त्वज्ञान में प्रवेश करना है इसमें इतनी शर्तें रखी हैं। इतने पहलू साफ होने चाहिए, स्पष्ट होने चाहिए। खुद को तीव्र स्वरूपप्राप्ति की भावना, इसकी लगन-छटपटाहट रहनी चाहिए। जीव को एकमात्र आत्महित के लक्ष को छोड़कर दूसरा कोई (लक्ष) नहीं होना चाहिए और सत्पुरुष के चरणों में रहकर सत्शास्त्रों का अध्ययन करना। यह प्रकार जीव को होना चाहिए।

ऐसा `**करने में आये; वहाँ प्रथम...**' प्रथम मतलब शुरूआत में `**विचार-मनन-चिंतवनपूर्वक श्रुत की धारणा का प्रसंग है।**' यहाँ से सर्व प्रथम धारणा की शुरूआत होती है कि जो बात उसके पढ़ने में विचार में या चिंतवन में आती है, यह खुदने अवधारण की

हुई - धारणा में ली हुई बात को इस प्रकार विचार-मनन-चिंतवन में लेता है, `**फिर भी...**' ऐसे विचार चलते हो, चिंतवन चलता हो, मनन चलता हो उस वक्त भी `**धारणारूप समझ को साथ ही साथ उदय प्रसंग में लागू करना - करते ही रहना चाहिए;...**' लागू करना (और) वारंवार करते ही रहना चाहिए।

जैसे कि देह से आत्मा भिन्न है - ऐसी एक सामान्य बात चली। जड़ और चैतन्य दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जड़ और चैतन्य भिन्न है मतलब आत्मा चैतन्य है, शरीर जड़ है - इसकी भिन्नता को हम कहाँ-कहाँ लागू करते हैं ? सुबह उठने के साथ ही शारीरिक कार्यों की शुरूआत हो जाती है। मुँह साफ करना, नहाना, चाय-पानी पीना, कपड़े पहनना - जो भी है शरीर की क्रियाएँ हैं, उसमें शरीर से खुद - चैतन्य(स्वरूपी) आत्मा - ज्ञानस्वरूपी आत्मा भिन्न है यह लागू करने का (प्रयत्न कितना चला) ? अपनी समझ को वहाँ लागू करना कि, किस प्रकार से यह भिन्न है? यह प्रयास जीव को शुरू करना चाहिए। जो बात समझ में आयी (उसे लागू करनी चाहिए)। यह तो एक बिलकुल सामान्य बात ली।

(ठीक वैसे ही) दूसरी बात जानने में आयी कि, आत्मा ज्ञानस्वरूप है - राग और शरीर स्वरूप नहीं है, तो मेरा अनुभव क्या कहता है ? मैं तो रागरूप (मानता हूँ), राग होता है और मैं वैसा हूँ - राग का कर्ता हूँ, ऐसा अनुभव कर रहा हूँ। ज्ञान हो रहा है फिर भी (मैं) ज्ञानस्वरूपी हूँ वैसा अनुभव नहीं हो रहा है, तो मेरी समझ और मेरे अनुभव के बीच इतना अंतर क्यों ? ऐसे वस्तु का मिलान करना चाहिए। समझ का अपने परिणमन के साथ मिलान करना चाहिए। लागू करना मतलब उसका मिलान करना। यह प्रयास चलना चाहिए।

प्रश्न :- चलता हुआ वर्तमान अनुभव पकड़ना है ?

समाधान :- हाँ, चलती हुई उदय की परिस्थिति में, जिस-जिस उदयमें से गुज़रना हो उस-उस उदय में यह जाँच होनी चाहिए।

प्रश्न :- चौबीसों घंटे ?

समाधान :- जितनी हो सके उतनी, शक्य हो उतनी। वैसे करनी तो चाहिए चौबीसों घंटे परंतु उतनी नहीं हो सके तो जितनी हो उतनी। जैसे कि अमुक कार्य करना चाहा हो लेकिन नहीं होता, अमुक कार्य करना चाहते हैं और हो भी जाते हैं। दोमें से एक होता है न ? या तो हो जाए, या नहीं हो। तो (जब) होता है तब भी मैं भिन्न ही रहा हूँ और हुआ है या मेरी होशियारी से हुआ ? (और) नहीं होता है तब उस वक्त पता है कि, आत्मा से (इसकी) भिन्नता है। इसका मतलब आत्मा कर सकता है - यह तो सवाल ही नहीं है। नहीं होनेवाला था इसलिए नहीं हुआ। इस प्रकार जड़ - चैतन्य की भिन्नता की (जाँच करनी चाहिए)।

दूसरा, राग में आकुलता है - राग में दुःख है (यह) न्याय से तो सम्मत करते हैं क्योंकि चाहे कोई भी अच्छा राग - सुहावना राग छोड़ देना पड़ता है। क्योंकि दुःख है, आकुलता है। तो (हकीकत में) वहाँ दुःख लगता है या दुःख यूँ ही तर्क और न्याय से सम्मत किया है ? दुःख तो लगने की चीज़ है। इस समझ को भीतर में मिलान करते जाना - जाँच करते जाना चाहिए। ऐसा प्रकार तत्त्वज्ञान की समझ के साथ होना चाहिए। प्रायः तत्त्वज्ञान के अभ्यासी सिर्फ धारणा कर लेते हैं, इस प्रकार के अंतर संशोधन में नहीं आते - खोज में नहीं जाते।

वैसे अधिकांश लोगों की तो समझ में ही नहीं आता है, (क्योंकि) इतने ज्ञानावरणीय (कर्म) के विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर रखे होते

हैं कि बात का स्वीकार ही नहीं कर पाते। मेहनत करे, कुछ पूछे, कुछ विचार करे, कुछ पढ़े, अभ्यास करे जब तो कुछ समझ ठीक हो ! बस ! समझ में आते ही उसे लगता है कि, `मुझे समझ में आ गया !' पहले समझ में नहीं आता था, अब समझ में आ गया।' लेकिन हकीकत में अभी भी समझ में नहीं आया क्योंकि अंतर में मिलान करना बाकी है। मिलान करने पर जीव को पता चलता है कि, मेरी समझ बिलकुल खोखली है या फिर कुछ कार्यान्वित हो भी रही है ? मेरी समझ का अमल करने जाता हूँ तब मुझे पता चलता है कि `यह जो मैंने समझ की वह एकदम खोखली चीज़ है।' हकीकत में मैं समझ के अनुसार नहीं चलता हूँ - परिणमन नहीं करता हूँ। यह खुद को पता चलता है। कब (पता चलता है) ? जब भीतर में मिलान करता है तब। अपने उदय में लागू करने जाता है तब यह बात इसकी समझ में आती है।

यह एक नई समझ है। जब तक इस समझ तक नहीं पहुँचता तब तक इसके पहले हुई समझ ओघसंज्ञा में जाती है। ओघसंज्ञा की अगर निवृत्ति करनी हो तो समझी हुई बात को उदय में लागू करनी चाहिए, तब ओघसंज्ञा की निवृत्ति होगी। वरना ओघसंज्ञा छूटेगी नहीं और समझी हुई बात का अभिनिवेश आए बिना रहेगा नहीं। अभिमान हो ही जाएगा कि, `मैं समझता हूँ, पहले नहीं समझता था अब बराबर समझता हूँ !' यह एक नई भूल जीव करता है। और यह भूल है वह बड़ी भूल है, छोटी भूल नहीं है। यह एक छोटी भूल कर बैठता है, सो बात नहीं। समझ होने के पश्चात् ऐसी एक बहुत बड़ी भूल जीव कर बैठता है।

प्रश्न :- यानी कि वह समझ का अभिनिवेश है, यथार्थ समझ

नहीं ?

समाधान :- नहीं, वह समझ चाहे आगम अनुसार हो तो भी `अयथार्थ समझ' है। दूसरों को ऐसा भी लगे कि, `ठीक है, शास्त्र के अनुसार ही यह बात कर रहा है, इसमें कोई गलती नहीं है।' (ज्ञानी कहते हैं,) नहीं ! इसकी यथार्थता की जाँच कर ! समझ समझ में फ़र्क है। यथार्थ समझ ही विकसित होकर सम्यक्ज्ञानरूप परिणमन करती है जबकि अयथार्थ समझ चाहे अंगपूर्व तक की हो तो भी वह हमेशा अज्ञानरूप ही रहती है। एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। सब अभिनिवेश का ही निमित्त हो जाता है। जितना (भी) समझा वह अभिनिवेश का कारण हो जाता है।

प्रश्न :- ग्यारह अंग और नौ पूर्वधारी की भी क्या यही भूल रह गई ?

समाधान :- (वह) पहले से ही दूसरे रास्ते पर चढ़ गया। इसलिए तो विधि का विषय ले रहे हैं। विधि के विषय में यह संकलन करने का कारण यही है कि, मूल में जीव ने शुरूआत की तब कैसे की ? अधिकांश जीव शास्त्र पढ़ने पर जो समझ होती है उसे `ज्ञान' समझते हैं जबकि कुछएक पदार्थों के त्याग को `चारित्र' समझते हैं।

`पूज्य बहिनश्री' ने वचनामृत में यह बात ली है कि, धारणाज्ञान को ज्ञान समझ लेते हैं और बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग के विषय को चारित्र समझ लेते हैं। मान लेते हैं कि, हमें तो ज्ञान भी है (और) चारित्र भी है। पहले ऐसा नहीं था, अब है। जीव ने सिर्फ ऐसे `गृहीत मिथ्यात्व' में आकर उसकी पुष्टि की है, गृहीत (मिथ्यात्व में) आ जाता है ! क्योंकि जो विधि नहीं है उसे विधि मान ली, जो कार्यपद्धति नहीं है उसे कार्यपद्धति मान ली।

प्रश्न :- गृहीत (मिथ्यात्व) माने क्या ?

समाधान :- बुद्धिपूर्वक विपरीत ग्रहण कर लिया वह ! गृहीत का अर्थ क्या है ? धर्म के किसी भी विषय में, जो धर्म नहीं है, धर्म का कारण नहीं है उसे धर्म या धर्म के कारणरूप बुद्धिपूर्वक ग्रहण करना उसका नाम `गृहीत मिथ्यात्व !' ऐसा है। यह गृहीत मिथ्यात्व की परिभाषा (है)। अब यहाँ पर जीव ने क्या किया ? कि, शास्त्र अनुसार जो समझ हुई उसे ज्ञान मान लिया, बाह्य पदार्थों के त्याग को चारित्र मान लिया। (इसलिए) गृहीत मिथ्यात्व में चला गया। अब इस दृष्टिकोण से विचार करे तो शायद ही कोई इस गलती का शिकार नहीं होगा, इतनी बड़ी मात्रा में गड़बड़ चल रही है।

श्रोता :- मुमुक्षु कहलाने पर भी ऐसी भूल तो हो ही जाती है !

पूज्य भाईश्री :- मुमुक्षु कहलाये, मुनि कहलाये, आचार्य कहलाये, श्रावक कहलाये, पण्डित-विद्वान कहलाये या चाहे ज्ञानी कहलाये फिर भी भीतर में विपरीतता हो वह कोई कहलानेमात्र से अविपरीतता थोड़ी न हो जाती है ? बोरे पर लिखा तो हो शक्कर लेकिन अंदर भरा हो चिरायता, तो इससे चिरायता कोई मीठा हो जाएगा ? मीठा हो जाएगा ? वह तो कडुआ ही रहेगा।

यदि (समझ को) उदय प्रसंग में लागू न की जाए तो `**मात्र धारणा से संतुष्ट होकर वहीं पर रुक जाना अनिवार्यरूप से हो जायेगा।**' अनिवार्यरूप से ! रोक नहीं सकेंगे, बच नहीं सकेंगे। समझ में संतुष्ट हुए बिना रहेगा नहीं कि, `इतना मैं समझा इतना मैंने समझ लिया !' ऐसा समझ का संतोष आए बिना रहेगा नहीं। यह बड़ी भयंकर भूल है !! इसे छोटी भूल न समझें। पहले जो होती थी वह भूल मिटनी आसान है, यह भूल को मिटाने में दिक्कत होगी। `मैं समझता हूँ, अब मैं समझ गया हूँ !' यह भूल मिटानी मुश्किल पड़ेगी। बहुत बड़ी भूल होती है।

प्रश्न :- शास्त्र का अभिनिवेश हो जाएगा ?

समाधान :- हाँ, शास्त्र अभिनिवेश हो जाएगा। `**इस प्रकार (की) समझ के बाद परिणमन की दिशा में एक कदम आगे बढ़ने की यह पद्धति है।**' समझ को उदयप्रसंग में लागू करना - यह प्रथम कदम है। हमलोग ऐसा मानते हैं कि समझ कर लेना, यह प्रथम कदम है, परंतु वह समझ उदय में लागू नहीं हुई ऐसी कोरी समझ है, ऐसी तो अनंतबार कर चुका है। `सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन बहुत किये।'

प्रश्न :- धारणा का अहम् हो जाए तब क्या होता है ?

समाधान :- धारणा का अहम् होने पर फिर किसी एक बात का आग्रह हो जाता है। खुद को कोई एक बात विशिष्ट लगे, कीमती लगे फिर उस बात को ही वह हरजगह दोहराता रहेगा और उसका आग्रह रखेगा। इसके सामने कोई उसके आग्रह को थोड़ी-सी ठेस पहुँचाएगा कि घर्षण में आ जाएगा। लेकिन विचार तो यों करना चाहिए कि, `सामनेवाले को (बात दिमाग में) नहीं बैठे तो कोई बात नहीं, सब की श्रद्धा स्वतंत्र है।' श्रद्धागुण का परिणमन हरएक जीव का अपने लिए स्वतंत्र है। कोई स्वीकार न करे, खुद जो स्वीकार करता हो उसे न स्वीकार करे तो उसका आग्रह क्यों ? आग्रह तो अपने लिए रखे कि, मैं जो समझता हूँ वैसा मेरा परिणमन क्यों नहीं ? (आग्रह ही रखना हो तो) ऐसा आग्रह रखे कि, जैसी मेरी समझ है वैसा मेरा परिणमन क्यों नहीं ? मैं ऐसा समझा हूँ कि, आत्मा शुद्ध सिद्ध समान परिपूर्ण परमात्मस्वरूप

है, (फिर) क्यों परमात्मस्वरूप परिणमन नहीं कर रहा है ? ऐसा अनुभव क्यों नहीं करता ? ऐसा आग्रह रखे जब तो ठीक है। परंतु मैं जैसा मानता हूँ ऐसा आप क्यों नहीं मानते - इस बात का आग्रह क्यों ? और ऐसे ही कोई दूसरा जीव परतंत्र थोड़ा है कि खुद माने ऐसा दूसरा मान ही ले ! ऐसे तो कोई बाध्य होकर - बंधन में नहीं रहता।

`ज्ञानीपुरुषों ने आत्महित के उपाय का दो विभाग में वर्णन किया है...**' जो मार्ग है - विधि है इसके मुख्य दो विभाग किये हैं। **`एक तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग कि जो सम्यक् पुरुषार्थ सहित होता है...' यानी कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में जो भी धर्मात्माएँ विराजमान हैं, वह एक उपाय का मुख्य विभाग है। **`और दूसरा उसकी प्राप्ति हेतु...**' `उसकी' मतलब उस मार्ग की प्राप्ति हेतु **`पूर्वभूमिका में उस मार्ग पर्यंत पहुँचने के प्रयासरूप मुमुक्षुदशा।**' मुमुक्षुदशा भी कैसी ? प्रयत्नरूप मुमुक्षुदशा कि, जिसको मार्ग प्राप्ति कर लेनी है ऐसा जिसका प्रयत्न चल रहा है, ऐसी जिसकी पूर्वभूमिका है, उसको `मुमुक्षु' कहते हैं। वरना मुमुक्षु नाममात्र है। `निर्भ्रांत दर्शन की पगडंडी' उसमें `मार्ग नाम देने के बजाय `पगडंडी' नाम इसीलिए दिया है। मार्ग तो चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होता है। यह मोक्ष का राजमार्ग है। उस मोक्षमार्ग तक पहुँचना - Approach करना - प्रयत्न करना, यह मुमुक्षु के लिए उपदेश का एक विभाग है। इसलिए उपदेश में भी ऐसा आता है कि, एक (होता है) मुमुक्षु को लक्ष में लेकर उसका अज्ञान और मिथ्यात्व नष्ट होने के लिए उपदेश दिया जाता है। एक (उपदेश) साधकजीवों को - धर्मात्माओं को लक्ष में लेकर भगवान का उपदेश आता है, वह (उपदेश) सम्यक्दृष्टियों के लिए अलग है, पंचम गुणस्थानवर्तियों

के लिए अलग है, मुनियों के लिए अलग है, इस प्रकार जिसकी जैसी भूमिका हो तद्अनुसार (उपदेश होता है)।

`इस प्रकार ज्ञानदशा और मुमुक्षुदशा में किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते बढ़ते पूर्ण शुद्धिरूप ध्येय को साधने में आता है...**' (पूर्णशुद्धि मतलब) मोक्षदशा को। **`उस मार्ग की विधि की सूक्ष्मता विकल्प जितनी स्थूल नहीं है...' जो विषय विचार से, विकल्प से, सोचा जाता है (वह विकल्प जितना स्थूल नहीं है) (**`तो वचन-कथन की स्थूल परिस्थिति में किस प्रकार समा सके ?**') (मोक्षमार्ग) कुछ अंश में वचनगोचर है, कथंचित् वचनगोचर है तो कथंचित् वचन अगोचर भी है, ऐसे समझना। अतः मुमुक्षुदशा में और ज्ञानदशा में किस प्रयोग से (आगे बढ़ना) ? प्रयोग का विषय है न ! प्रयोग का विषय सर्वथा वचनगोचर लौकिककार्यों में भी नहीं होता। लौकिक कार्य में भी नहीं बनता।

सरकस का एक आदमी एकसाथ पाँच गेंद, दस गेंद उड़ाता है फिर भी गिरने नहीं देता ! जबकि हमारे हाथ में तो एक गेंद (हो तो भी) हाथमें से गिर जाती है। दो का तो खैर सवाल ही नहीं है। अब उस आदमी को अगर कहा जाए कि, `तू इसे लिख दे कि यह काम तू कैसे कर रहा है ? तो क्या हम इसकी Theory को अच्छी तरह दृढ़तापूर्वक समझ ले, याद रख ले' हालाँकि जो प्रयोगात्मक कला है - जिसे Technique कहते हैं वह सर्वथा वचनगोचर नहीं हो सकती।

साइकिल पर बैठनेवाले को Balance (संतुलन) बनाये रखना पड़ता है। एक तरफ झुक जाने से तो साइकिल चल नहीं सकती। चलती है ? चलती हो तो भी बंद हो जाए। अब, कैसे Balance बनाये रखना यह लिख दो चलो !

रोटी बेलते वक्त ऐसे हरतरफ बराबर ज़ोर देना है कि कहीं से भी रोटी मोटी रह नहीं जाए (या) कहीं से पतली नहीं हो जाए बल्कि सबजगह एक-सी बनी रहे। इसप्रकार ज़ोर देना है कि, कहीं पर भी ज़ोर कम न जाए और कहीं भी ज़ोर ज्यादा न चला जाए और तभी तो रोटी (ठीक तरह) एक-सी बनेगी, अब इसको लिख दो !

प्रयोग का विषय सर्वथा वचनगोचर नहीं हो सकता। अब (कोई) पूछता है कि इसको समझने के लिए क्या करना ? यह प्रश्न विचारणीय है कि, जब यह विषय वचनगोचर नहीं है तो इसे समझना कैसे ? आप ही कुछ समझाइये तो समझ सके ! आप यदि समझा नहीं सकोगे तो हम समझेंगे कैसे ? यह एक प्रश्न खड़ा हो सकता है। (तो कहते हैं कि) उसे प्रयोग करके समझो। जो बात कही नहीं जा सकती उस बात के प्रयोग का प्रारंभ करके, प्रयोग में चढ़कर उसे समझना और तब ही वह समझ में आएगी। और तब जो समझ में आएगी वह कहने से नहीं आ सकती वैसे समझ में आएगी। इसका यह उपाय है। इसका कोई उपाय ही नहीं है सो बात नहीं है कि, जैसे कह नहीं सकते इसलिए बेबस हैं, आपकी समझ में नहीं आएगा, जाईये ! ऐसा तो नहीं है। समझ में आता भी है और समझने की भी रीत है, यही वह रीत है।

प्रश्न :- मुमुक्षु की भूमिका में विकल्पसहित होता है न ?

समाधान :- भले ही विकल्प साथ में हो परंतु मिलान करे तो विकल्प से आगे भी जा सकता है कि नहीं ? जो सिर्फ विकल्प करता है और प्रयोग में नहीं आता है, उसको तो वाकई तकलीफ होती है। उसे तो यही लगेगा कि विकल्प बिना तो करे भी क्या ? लेकिन अगर जीव प्रयोग में चढ़े तो विकल्प (की भूमिका) से आगे

बढ़ सकता है।

रोज़ साइकिल चलाते हुए आदमी को देखने से कोई साइकिल चलाना सीख जाता है क्या ? नहीं सीख पाता। उसके लिए तो खुद को ही प्रयोग करना पड़े, इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न :- वस्तु निर्विकल्प है और निर्विकल्प में एकाग्र होने से पर्याय निर्विकल्प हो ही जाती है, वह न्याय यहाँ लागू कर सकते है ?

समाधान :- निर्विकल्प वस्तु ज्ञान में तो आनी चाहिए न ! एकाग्र कब होगा ? कि (वस्तु) ज्ञान में आएगी तब। जैसी निर्विकल्प वस्तु है वैसा भाव तो भासित होना चाहिए न !

श्रोता :- अभी तक तो गुरुगम से भाव भासित हुआ, गुरुगम से जाना कि वस्तु निर्विकल्प है !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, लेकिन वह तो ओघसंज्ञा से जाना। बाद में भाव तो भासित होना चाहिए न !?

प्रश्न :- भाव तो अनुभव होने के बाद भासित होगा न ?!

समाधान :- नहीं, (अनुभव) के पहले भासित होगा। भाव पहले भासित होता है, तत्पश्चात् अनुभव होता है। भावभासनपूर्वक महिमा आने पर अनुभव होता है। ऐसा नहीं है कि अनुभव हो तो महिमा आए और भाव भासित हो। 'परमागमसार' में 'गुरुदेवश्री' ने इस विषय पर स्पष्टता की है कि, ऐसे नहीं बल्कि ऐसे है।

प्रश्न :- निर्विकल्प मतलब निर्विकल्प ! फिर इसमें भाव भासित होना मतलब क्या ?

समाधान :- उसमें भाव का भासन होता है। ओघे-ओघे तो वैसे सब मानते हैं।

श्रोता :- ओघसंज्ञामें से भी आगे बढ़े, वस्तु निर्विकल्प है ऐसा गुरु ने कहा, भगवान ने कहा; अब उपयोग इसमें एकाग्र करे तो निर्विकल्प हो जाए !

पूज्य भाईश्री :- लेकिन इसमें ऐसा है कि, निर्विकल्प आत्मा को सिर्फ ओघे-ओघे माना होगा तो एकाग्रता करना चाहोगे तो भी नहीं होगी। बल कहाँ से लाओगे ? एकाग्रता होने के लिए एकाग्र होने का बल चाहिए - पुरुषार्थ चाहिए। वह पुरुषार्थ कहाँ से लाओगे ? भावभासन बिना पुरुषार्थ की उत्पत्ति नहीं होगी।

प्रश्न :- भावभासन किसे कहें ?

समाधान :- हाँ, यह बात ठीक है। इस विषय को तो हम इस प्रकरण में लेंगे। स्वाध्याय करते-करते जब भावभासन का विषय आएगा तब हमें `निर्भ्रांत दर्शन की पगडंडी' का तीसरा प्रकरण ही स्वाध्याय में लेना है। भावभासन का ही प्रकरण है। स्वरूपनिश्चय कहो चाहे भावभासन कहो (दोनों एकार्थ हैं)। वरना अनुमान, कल्पना और भावभासन के बीच जो अंतर है, वह कैसे नक्की होगा ?

एक आदमी अनुमान करता है कि, आत्मा स्वरूप से तो निर्विकल्प है या विचार से ऐसी कल्पना करता है। (हालाँकि) कल्पना तो वास्तविकता से दूर है और आत्मा केवल अनुमान का विषय नहीं है। (यह विषय तो `प्रवचनसार' की) १७२ वीं गाथा में प्रस्तुत है। लक्षण द्वारा जबतक लक्ष्य पकड़ में न आए, भाव भासित न हो (तब तक वस्तु में एकाग्रता नहीं होती)। ज्ञानसामान्य स्वयं निर्विकल्प है। ज्ञानसामान्य मतलब जो ज्ञानविशेष नहीं है वह ज्ञानसामान्य। ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... (है) वहाँ स्वभाव है, परंतु वहाँ स्वभावअंश है।

प्रश्न :- ज्ञानसामान्य मतलब चेतक... चेतक... ऐसा भाव लेना

है ?

समाधान :- हाँ, इसमें क्या है कि, ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयाकार मौजूद हैं, उन ज्ञेयाकारों का विच्छेद करके सिर्फ ज्ञ-पना पकड़ में आना वह निर्विकल्प है। और ज्ञायक वस्तु वैसी ही निर्विकल्प है। वस्तु ज्ञायकतत्त्व इसप्रकार निर्विकल्प है। अतः इसकी ज्ञायकता, निर्विकल्पता सब एक साथ भासित होते हैं।

प्रश्न :- पर्याय के माध्यम से पर्यायवान को पकड़ना ?

समाधान :- पर्याय को नहीं परंतु पर्याय में रहे स्वभावअंश को पहचानकर पूरे स्वभाव को पकड़ना - अंशी को पकड़ लेना है। पर्याय में विद्यमान स्वभावअंश को पहचानकर अंशी को पकड़ लेना है, ऐसा है। पर्याय को तो जान ही रहा है - मैं जानता हूँ, यह मुझे ज्ञान हो रहा है, यह जाना... मैंने यह जाना... मैंने वह जाना... मैंने इसे जाना... इस तरह पर्याय को तो जान ही रहा है, (लेकिन) वैसे नहीं। उसमें से विशेष ज्ञेयाकारों को छोड़कर - विच्छेद करके, सामान्य ज्ञान की ओर झुककर सामान्यज्ञान को पकड़ना है। यह भावभासन का विषय है। यह विधि है - भावभासन की विधि है। जिसमें (ज्ञानसामान्य के प्रति) थोड़ा झुकना पड़ता है। अतः (`समयसार' की १४४ वीं गाथा के प्रवचन में) लिया कि, `अंशतः राग का अभाव करके,' ऐसा कहा। स्थूल भाषा में कहे तो अनादि से जो राग की प्रधानता है उसे छोड़कर ज्ञान, ज्ञान की प्रधानता में आकर ज्ञान को देखे। (इसके लिए) उसे झुकना पड़ता है। यहाँ दिशा बदलती है। झुकने में दिशा बदलती है।

श्रोता :- राग ज्ञान में मालूम हो फिर भी राग को न देखकर ज्ञान को देखे तो हो सकता है।

पूज्य भाईश्री :- सिर्फ ज्ञान को (देखे)। राग के - ज्ञेय के

आकार को बाद करके - विच्छेद करके सिर्फ ज्ञान को (देखे)। इसलिए `समयसार' में `ज्ञानमात्र' शब्दप्रयोग किया गया है। सिर्फ ज्ञान, ऐसा न कहकर ज्ञान के साथ `मात्र' शब्द जोड़ दिया है। `ज्ञानमात्र' ! इसमें यह रहस्य है। है, वैसे थोड़ा सूक्ष्म विषय है। विधि का विषय तो वैसे भी सारे जैनदर्शन में सब से अधिक सूक्ष्म विषय विधि का है।

श्रोता :- आपने अभी उपयोग का अंश कहा... ज्ञान के अंश पर से अंशी को पकड़ना।

पूज्य भाईश्री :- स्वभाव का अंश कहा। ज्ञान की पर्याय में स्वभावअंश व्यक्त है।

प्रश्न :- इस उपयोग को स्वभावअंश कहेंगे ?

समाधान :- उपयोग में स्वभावअंश है। उपयोग में स्वभावअंश है।

प्रश्न :- उपयोग है सो स्वभावअंश नहीं ?

समाधान :- स्वभावअंश जो है वह कोई अंशी से अलग टुकड़ा नहीं है। अंश तो अंशी के साथ संलग्न है। अतः जैसे ही अंश पकड़ में आए कि (वहीं पर) अंशी पकड़ में आ जाता है। छिपे हुए चोर का अँगूठा देखा कि पूरे चोर को देख लिया, फिर मुँह देखने की जरूरत नहीं रहती कि, मुँह कोई मवाली जैसा है या कोई गृहस्थ जैसा है, या सद्‌गृहस्थ जैसा है ? आदमी छुपा हुआ है बस ! फिर वह चाहे जैसा हो, उसका मुँह चाहे (कैसा भी हो), वह चोर है यह बात नक्की है। इसप्रकार एक अंश पर से पूरे अंशी का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि वहाँ अंश-अंशी अभेद ही है। अंश-अंशी के बीच भेदकल्पना कर ली है। (वरना वास्तव में) अंश-अंशी तो अभेद ही है इसलिए अंशी का

पता लग जाता है।

`गुरुदेवश्री' ने (`समयसारजी') के २४६ वें कलश के भावार्थ पर प्रवचन देते हुए एक बात कही थी कि, ज्ञान की पर्याय में जैसा स्वभावअंश व्यक्त है; क्योंकि ज्ञान की पर्याय व्यक्त है, वैसा ही स्वभाव त्रिकाली द्रव्य में व्याप्त है। जैसा ज्ञान की पर्याय में व्याप्त है वैसा ही त्रिकाली में व्याप्त है, इसलिए इसका अनुमान या कल्पना नहीं करनी पड़ती है, सीधा ही भावभासन होता है। हालाँकि वास्तव में तो इस स्वभाव को व्यक्त-अव्यक्त का विशेषण लागू पड़ता ही नहीं है। वह तो द्रव्य-गुण-पर्याय में जैसा है वैसा व्याप्त है। `सर्व अवस्थाने विषे न्यारो सदा जणाय, प्रगटरूप चैतन्यमय ए एंधाण सदाय' एंधाण मतलब लक्षण।

प्रश्न :- उसवक्त पर्याय और द्रव्य अलग-अलग न रहकर दोनों एक हो गए ! उसवक्त की जो पर्याय है वह पर्यायस्वरूप न रहकर द्रव्यमय हो गई ?

समाधान :- वह तो थान (की तरह) अखण्ड ही है। (थान का) एक छोर देखा किन्तु थान तो अखण्ड ही है। हकीकत में ऐसा है कि कुछएक बातें प्रयोग में चढ़े बिना समझ में आनी मुश्किल है। यह दिक्कत थोड़ी जरूर है। विचार से समझ लेने की कोशिश करेगा लेकिन समझ नहीं पाएगा। थोड़ी प्रयोग की मेहनत इसमें करनी पड़े ऐसा है।

श्रोता :- चोर का अँगूठा देखा लेकिन है तो पूरा मनुष्य ही न !?

पूज्य भाईश्री :- (ज्ञान में) आया कि नहीं ? ज्ञान में पूरा आदमी आ गया कि केवल अँगूठा आया ? वहाँ तो उसने पूरा आदमी ही देख लिया। लक्ष में आ ही जाएगा। उसका मुँह कैसा है,

इससे कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन तो आदमी है या नहीं, इतना ही है।

श्रोता :- दृष्टांत तो समझ में आता है परंतु विचार में अभी बात बैठती नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- ऐसा है कि, प्रयोग करने से बहुत अच्छी तरह समझ में आये ऐसा है। भावभासन में पुरुषार्थ का खर्च नहीं है। पुरुषार्थ का खर्च तो बाद में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में है। इसलिए इसमें तो कोई दिक्कत नहीं है। हर किसी की समझ में आये ऐसा है - तिर्यंच भी कर लेता है न !

प्रश्न :- भाई ! वहाँ तो हमने आदमी को देखा है, अनुभव है इसलिए अँगूठे पर से खयाल आ जाता है कि यह कोई मनुष्य है, परंतु जिस वस्तु को देखी न हो इसका कोई अंश हो तो उसे देखकर कैसे पता चले कि यह किस वस्तु का अंश है ? वैसे इसमें कैसे पता चले ?

समाधान :- यहाँ पर वह लागू नहीं पड़ता। (क्योंकि) यहाँ तो ज्ञान का अंश स्वयं ही अपने को देखता है। नहीं देखा हुआ है, यह बात कहाँ लागू पड़ती है ? ज्ञान स्वयं ही देखनेवाला है। किसको देखता है ? तो कहते हैं, अपनेआप को देखता है। फिर इसमें नहीं देखा है या नहीं दिखता है यह बात कहाँ लागू पड़ती है ? देखनेवाला और दिखनेवाला दोनों स्वयं ही है। कोई दूसरा हो जब तो तकलीफ होना संभव है। यहाँ तो वह प्रश्न ही लागू नहीं पड़ता। सही बात तो ऐसी है कि, देखने की Try (कोशिश) करनी चाहिए - देखने का प्रयास करना चाहिए। बिना प्रयास किये सारा चित्र धुँधला ही लगेगा। शुरूआत और अंत - कुछ समझ में ही न आता हो ऐसा लगेगा। अतः प्रयत्न करना चाहिए।

जब यह पता चला कि, ज्ञान में ही देखना है और ज्ञान को ही ज्ञान में देखना है कि जहाँ से अनंत गुण स्वभाव का निधान - खजाने का पता लगता है। यह तो गाड़े हुए धन के ऊपरी स्तर को हटाने जितनी ही बात है। चरुआ दिखा, भले ही चरुआ का एक अंश दिखा हो लेकिन अंश तो दिखा न ? फिर कोई दलील करेगा कि, अभी तो मुझे सिर्फ अंश ही दिखा है, पूरा दिखे नहीं तब तक कैसे मान लूँ ? अरे भाई ! तुझे कहा था कि, चरुआ है, फिर तुझे अंश दिखने पर अंशी की प्रतीति आ ही जाएगी। प्रतीति आ ही जाएगी, विश्वास बैठ जाएगा। अतः एक ही जगह प्रयत्न करने जैसा है कि, ज्ञान को ज्ञान में प्रयत्न करना है। ज्ञान को न तो राग में प्रयत्न करना है, न तो कभी निमित्त में प्रयत्न करना है। ज्ञान को सिवा अपने कहीं भी प्रयत्न नहीं करना है। ज्ञान द्वारा ज्ञान को देखने का - अवलोकन का अभ्यास करे तो सहजमात्र में पता चले ऐसा है। लेकिन उस दिशा में काम होना चाहिए। जिस दिशा में काम करना है उसी दिशा में काम करना है। दिशा बदलने से दिशांतर हो जाएगा, फिर तो बात पूरी हो गई। मूल में जो आपत्ति है वह दिशा की ही है ! सूक्ष्म से सूक्ष्म जो बात है तो वह दिशा बदलना - अंतर्मुख होना - स्वसन्मुख होना, इतनी ही पहेली है। बाद में तो रास्ता सीधा - सरल है !

श्रोता :- ज्ञान को ज्ञानरूप देखना चाहिए बजाय इसके ज्ञेयरूप देखने लगता है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञेयरूप भी देखता है और वास्तव में ज्ञान को ज्ञान द्वारा देखने का अभ्यास ही कहाँ है ? सर्व प्रथम ज्ञान में अपनेआप को देखने का उद्देश्य ग्रहण तो होना चाहिए न ?!

जैसे सौ आदमी हो उसमें हमारा उद्देश्य (है कि) मुझे फ़लाने भाई को मिलना है। भाई ! आप टाउनहोल में जायेंगे, वहाँ दो सौ-पाँच सौ - हज़ार लोग होंगे लेकिन आपको फ़लाने भाई को मिलकर आना है। फिर सबको देखते हुए भी आपका उद्देश्य - आपकी नज़र एक ही व्यक्ति की तलाश में रहेगी। दूसरे लोग तब दिखते ही नहीं हो सो बात थोड़ी है ? फिर भी आप एक व्यक्ति को ही ढूँढ़ते हो ! ऐसी एक खोज - अंतर खोज, स्वभाव की खोज चलनी चाहिए। मेरे ज्ञान में मुझे ज्ञानस्वभाव देखना है - इस उद्देश्य से खोज करे - अवलोकन करे तो सहजमात्र में पकड़ में आये ऐसा है, वरना तो फिर कितने ही शास्त्र क्यों न पढ़ ले, कितनी ही धारणा कर ले, चाहे कितना भी कंठस्थ कर ले, कुछ भी क्यों न कर ले ! सब अन्यथा है। एक भी चीज़ काम में नहीं आनेवाली है।

इसलिए हमने यहाँ पर ऐसी बात ली कि, '**इस प्रकार ज्ञानदशा और मुमुक्षुदशा में किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते-बढ़ते...**' (यानी कि) किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते हुए, कौन-सा शास्त्र पढ़ते हुए ऐसा नहीं लिया है कि, 'समयसारजी' का स्वाध्याय करो या 'अनुभवप्रकाश' का स्वाध्याय करो, ऐसा नहीं (लिया है)। '**किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्ण शुद्धिरूप ध्येय को साधने में आता है उस मार्ग की विधि की सूक्ष्मता विकल्प जितनी स्थूल नहीं है तो वचन-कथन की स्थूल परिस्थिति में किस प्रकार समा सके ?**' वह तो इससे भी स्थूल है। '**ऐसी एक समस्या इस विषय को व्यक्त करने में यहाँ उत्पन्न होती है;...**' इस विधि के विषय को व्यक्त करने में यह एक समस्या अवश्य है।

'**तथापि समर्थ सत्पुरुषों ने...**' अनुभवी पुरुषों ने '**प्रस्तुत विषय**

को यत्किंचित् वचनगोचर किया हुआ होने से, उसके आधार से स्व-पर हितार्थ यहाँ प्रस्तुत है।' क्योंकि इसमें बात ऐसी है कि, समर्थ सत्पुरुषों की बात इसलिए ली है कि, कुछएक अनुभवीपुरुषों ने - सत्पुरुषों ने बात को कहने में शैली की है, भिन्न-भिन्न शैली की हैं, और इन शैलियों में उनके परिणमन की अर्थात् प्रयोग की झलक आती है, इसलिए उसमें वह देखना पड़ता है। ज्ञानी दूसरे ज्ञानी के कथन को क्यों पहचान लेते हैं ? भले ही दो हज़ार साल पहले ही हुए हो ! या सौ साल पहले हुए हो ! जैसे कि ये ज्ञानी हो चुके। क्योंकि वे पकड़ सकते हैं कि, यह बात प्रयोग की आयी है, यह बात वे अपने अनुभव बिना नहीं कह सकते। अनुभव की जो झलक है वह अनुभव के बिना भाषा में नहीं आ सकती। (अतः ज्ञानी) वह पकड़ते हैं और इस झलक को पकड़ना यह शैलीमें से बात खड़ी हुई है। हरएक की अपनी-अपनी शैली है, एक सरीखी शैली किसी की नहीं है, हरएक की शैली अलग-अलग ! फिर भी अनुभव की झलक सब में आ जाती है। वह सब में ऐसी सामान्य है कि, एक अनुभवी तुरंत अपने (अनुभव) से मिलान कर लेता है कि, बराबर है ! ये अनुभवीपुरुष ही हैं !

'श्रीमद्‌जी' ने श्वेतांबर - दिगंबर के बीच भेद को स्पष्ट नहीं किया है ऐसा हमारे मुमुक्षु लोग कहते हैं न ? अपने यहाँ कई लोग ऐसा कहते हैं। अरे ! जिन्होंने भीतर में ऐसा सूक्ष्म आत्मतत्त्व और इसकी विधि को पकड़ लिया उन्हें क्या इतनी स्थूल बात (नहीं पकड़ में आयी होगी) ? जो बात नामधारी मुमुक्षु की समझ में आती है ऐसी बात उन्हें समझ में न आयी हो ऐसा बन सकता है क्या ? जिन्होंने भीतर में एक सूक्ष्म राग के कण से भी भिन्न आत्मस्वरूप को देख लिया व अनुभव कर लिया, एक राग के

कण को (भी) अंदर में एकरूप नहीं होने दिया, इतनी सूक्ष्मता जिन्हें प्राप्त हुई, इतना जिसको सूक्ष्म विवेक प्रगट हुआ, क्या उन्हें श्वेतांबर - दिगंबर का भेद पता नहीं चला होगा ?

श्रोता :- संकेत में सब बातें कर दी हैं, कुछ बाकी नहीं रखा, समझ में आना चाहिए !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, खुद की समझ में तो आए नहीं फिर आक्षेप करेंगे सत्पुरुष के ऊपर कि, इन्हें पता नहीं चला है ! यह तो ऐसी बात हुई कि, अपराधी खुद सुप्रिम कोर्ट का जजमेन्ट लिखता है ! सुप्रिम कोर्ट के जज का जजमेन्ट लिख रहा है !! है तो खुद अपराधी। ऐसी बात हो जाएगी। अतः यहाँ अनेक सत्पुरुषों ने - समर्थ सत्पुरुषों ने यत्किंचित् (विधि के विषय को) वचनगोचर किया है जिसके आधार पर यहाँ इस बात को प्रस्तुत की जा रही है।

`प्रथमतः ही जिस जीव को जन्म-मरण के चक्रमें से छूटने का तीव्र भाव / उछाल अंतर से आता है अथवा जो एकमात्र आत्महितार्थ उल्लासित वीर्यवान होकर उसी लक्ष से प्रवर्तता है वैसा जीव अपनी दशा में प्रवर्तमान अवगुणों का नाश करने के दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्श्रुत का अवगाहन करता है वहाँ प्रथम कार्य विचार-मनन‌पूर्वक शुरू होता है...' यहाँ से बात शुरू की है। (मुमुक्षुजीव) कहाँ से शुरूआत करता है ? कि, जहाँ खड़ा है वहीं से शुरूआत करता है। कहाँ खड़ा है ? कि दोष में खड़ा है। `श्रीमद्जी' ने बीस दोहे में लिया न ! कि अनंत दोष का भाजन हूँ। `हुं तो दोष अनंतनुं भाजन छुं करुणाळ।' मैं अनंत दोष का भाजन हूँ यही से शुरूआत करते हैं। क्योंकि स्थूल विषय तो वही है। दोष का विषय स्थूल है। दूसरे परिणाम फिर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं।

जितने भी क्लेश-दोष के परिणाम हैं, वहीं से अपने दोष को निकालने के हेतु से शुरूआत करते हैं। एक के बाद एक क्रम को यहाँ लेना है (कि) कैसे शुरूआत होती है ? यहाँ तक रखते हैं।

आत्मस्वरूप-स्वभाव अनंत गंभीर है; स्व-वस्तु जितनी अनंत गंभीर है, उतनी भासित हुए बिना यथार्थ सहज महिमा नहीं आती - परन्तु (सविकल्पज्ञानमें) स्वयंके स्वभावकी गंभीरता भासित होने पर ही ऐसी महिमा आती है कि वह महिमा वृद्धिगत होकर विकल्पका उल्लंघन कर देती है। विकल्पको आते हुए रोकना नहीं पड़ता, बल्कि विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसे निर्विकल्प भावका आविर्भाव होता है तब सहज अतीन्द्रिय आनंदका स्वानुभव होता है।

((पूज्य भाईश्री `अनुभव संजीवनी' - ३५०)

२ दि. १९-०२-१९९०

(`तत्वानुशीलन'में से `सुविधि' का प्रकरण चल रहा है)। **`प्रथमतः ही जिस जीव को जन्म-मरण के चक्रमें से छूटने का तीव्र भाव / उछाल अंतर से आता है,...'** (छूटने के) भाव का उछाल बहुत तीव्र होता है। सामान्यरूप से तो सभी मुमुक्षु जन्म-मरण का नाश चाहते हैं, परंतु उसमें से छूटने का भाव जब तीव्र हो तब इस विषय में प्रवेश होता है। जब तक उछलकर भाव नहीं आता है तब तक जीव वर्तमान परिस्थिति में `ठीकपना' मानकर (संतुष्ट) रहा है। जैसी परिस्थिति है उसमें `हम तो ठीक है' ऐसा मानकर पड़ा है।

`श्रीमद्जी' ने एक वचन लिया है कि, `उल्लासित वीर्यवान तत्त्व पाने का मुख्य अधिकारी है।' तो उल्लासित वीर्यवान में यह विषय है कि, जिसका मोक्ष प्रत्ययी पुरुषार्थ उछल-उछल हो रहा है ! इसके लिए जो उत्साहित है **`अथवा जो एकमात्र आत्महितार्थ उल्लासित वीर्यवान होकर उसी लक्ष से प्रवर्तता है...'** सामान्य परिणमन नहीं है जिसका किन्तु उल्लासित वीर्यवान होकर आत्महित के लक्षपूर्वक ही जिसकी प्रवृत्ति है। यानी कि प्रथम प्रवेश करनेवाले को जब तक त्रिकाली स्वरूप का लक्ष नहीं हुआ है तब तक आत्महित

का लक्ष है। (अतः) वह सर्वत्र यह विचार करता है या सर्वत्र उसका यह लक्ष रहता है कि, `मैं आत्महित के लक्षपूर्वक प्रवृत्ति करता हूँ या मैं आत्महित का लक्ष खोकर प्रवृत्ति करता हूँ ?' यह बात लक्ष में आए बिना किस दिशा में परिणाम जाते हैं इसकी खुद को ही खबर नहीं रहेगी। इसलिए परिणाम को एक जगह बाँध दिया कि, मुझे जो कुछ भी करना है वह आत्मार्थ की मुख्यता में ही करना है। आत्मार्थ न हो वैसा मुझे कुछ नहीं करना है।' बस ! ऐसा एक लक्ष बन जाने के बाद परिणाम की दिशा में भूल होते ही तुरंत उसे जागृति आती है कि, नहीं ! इसमें आत्महित नहीं है ! यह अपना काम नहीं है, इसे छोड़ दिया जाए !' ऐसी (जागृति आ जाएगी)।

प्रश्न :- आत्मार्थ हेतु ही करना मतलब इसके अलावा दूसरा क्या-क्या नहीं करना ? नास्ति में दूसरा क्या-क्या लेना ?

समाधान :- आत्मार्थ हेतु ही करना मतलब जगत में खुद के संयोग अधिक सुख-सहूलियत देनेवाले हो इसके लिए कुछ नहीं करना है ! जगत में अपना मान-स्थान बढ़े इस हेतु से कुछ नहीं करना है। लोभ और मान दोनों मुख्य हैं। चार कषायों में लोभ और मान - दो मुख्य हैं। उसमें से एक की भी प्राप्ति हेतु नहीं करना बल्कि सिर्फ आत्मार्थ हेतु ही करना है, दूसरा कुछ नहीं करना है, और वह भी उल्लासित वीर्यवान होकर।

श्रोता :- उसमें तो उदय की सभी प्रवृत्ति आ गई न !

पूज्य भाईश्री :- सब प्रवृत्ति आ जाएगी। प्रायः जीव संयोगों को सुधारने का लक्ष रखता है। इससे जब कषाय की तीव्रता बढ़ जाती है तब मान - स्थान की भी विशेषता हो ऐसा लक्ष रखकर प्रवृत्ति करता है।

प्रश्न :- लोभ से भी क्या मान में ज्यादा कषाय है ?

समाधान :- हाँ, ज्यादा कषाय है। क्योंकि लोभ के साथ तो अपनी जरूरतें भी जुड़ी हुई हैं। मान के साथ इतना जरूरत का संबंध नहीं है। लोभ में तो अपनी अनुकूलताएँ और जरूरतों का सवाल खड़ा होता है और इसकी तो कभी मर्यादा भी होती है कि, ठीक है, अपने पास इतना हो जाए फिर कोई बात नहीं। अन्य कोई आपत्ति न आ जाए (और) अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए।' (जबकि) मान का तो बहुत बड़ा प्रकार है।

इसलिए (यहाँ कहा कि,) `**जो एकमात्र आत्महितार्थ (ही)...**' केवल इसी हेतु से `**उल्लासित वीर्यवान होकर उसी लक्ष से प्रवर्तता है वैसा जीव अपनी दशा में प्रवर्तमान अवगुणों का नाश करने के दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्‌श्रुत का अवगाहन करता है,...**' आगे जो बात ली कि, सत्‌श्रुत का अवगाहन करे, उसमें प्रथम ऐसा लक्ष है कि `मेरी दशा में जो अवगुण प्रवर्तमान हैं उनके नाश का इसमें क्या उपाय है ? मेरे परिभ्रमण का कारण मेरा ही दोष है, दूसरे का दोष नहीं। मेरे परिभ्रमण के कारण में मैं ही दोषित हूँ।' इस दोष के नाश हेतु ही वह शास्त्र अवगाहन करे कि, मेरा यह दोष कैसे मिटे ? `दीठा नहीं निज दोष तो तरीये कोण उपाय ?' अपने दोष ही नहीं दिखते हो फिर तो तिरने का रास्ता कौन-सा रहा ? दोष स्थूल है (जबकि) स्वभाव तो सूक्ष्म है। आखिर में तो स्वभाव को देखना है। किन्तु जब दोष (भी) न दिखता हो वहाँ स्वभाव तो कैसे दिखेगा ?

श्रोता :- अपने दोष देखने के बज़ाय बाहर देखने की आदत हो चुकी है !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, बाह्यदृष्टि है इसलिए दूसरों के दोष तुरंत

देखता है लेकिन अपने दोषों को नहीं देखता। यह विपरीत पद्धति है। दूसरों के दोषों से हमें क्या संबंध है ?

श्रोता :- मन हो जाता है !

पूज्य भाईश्री :- ऐसा थोड़ी चलता है ?

श्रोता :- मन हो जाता हो तो फिर भटकेगा !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, फिर तो दुःखी होना पड़ेगा, इसका दंड भुगतना पड़ेगा। कोई परिणाम निष्फल नहीं है। सब परिणाम सफल हैं, इसका दंड भुगतना पड़ता है।

(यहाँ कहते हैं) `**वैसा जीव अपनी दशा में प्रवर्तमान अवगुणों का नाश करने के दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्‌श्रुत का अवगाहन करता है, वहाँ प्रथम कार्य विचार-मननपूर्वक शुरू होता है...**' उस सत्‌श्रुत के अवगाहन में तत्‌संबंधित विचार चलते हैं। शास्त्र का पठन न चलता हो तब जो पढ़ा हो इसका मनन भी चलता है। `**उसमें...**' `उसमें' मतलब उस विचार और मनन में `**अपने पूर्वगृहीत अभिप्राय तथा मान्यता से विरुद्ध प्रकारों एवं उपदिष्ट विषय का बहुत मंथन चले...**' अब उसमें क्या होता है ? एक द्वंद्व खड़ा होता है, (क्योंकि) खुद कोरी स्लेट नहीं है।

अनंतकाल से हयाती का धारक यह आत्मा अभी तक अनेक विपरीत संस्कारों को दृढ़ करके परिभ्रमण कर रहा है। यूँ ही मुफ्त में परिभ्रमण नहीं करता है। बहुत से विपरीत अभिप्राय और मान्यताओं को दृढ़ किया है और उन विपरीत संस्कारों को ग्रहण करके बैठा है। अब, उसे करवट बदलनी है, उसे मार्ग बदलना है तो वे सब सामने आ जायेंगे। जितना-जितना विपरीत माना होगा, जितने अभिप्राय विपरीत होंगे, वे सामने आकर खड़े रहेंगे। क्योंकि सत्‌शास्त्रों में तो मान्यता एवं उपदेश का प्रकार उससे विरुद्ध ही

आनेवाला है, (यानी कि) अपने संस्कारों से विरुद्ध बातें आनेवाली हैं। अतः भीतर में जो मिलान करता है उसको तो परस्पर दो बातें आमने-सामने खड़ी हो ही जाएगी। नई बात है वह अपने पूर्वगृहीत अभिप्राय से विरुद्ध है। (अतः) अपने गृहीत अभिप्राय को छोड़ने के लिए पहले थोड़ा उसे ज़ोर पड़ता है, तकलीफ पड़ती है, थोड़ा परिश्रम लगता है, कठिन लगता है, मुश्किल लगता है - ऐसा प्रकार बनता है।

इस विषय का मंथन चलता है। `**और उस मंथन के अंत में सत्य संमत हो जाये,...**' अब, बिना मंथन सत्य संमत करने का प्रकार यहाँ नहीं बनता। कई लोग ऐसा कहते हैं कि, `गुरुदेव ने हमें सब तैयार करके दिया, हमें तो तैयार माल मिल गया है !' मिल गया है ऐसा कहने का मतलब यही हुआ न कि हमने `लिया है !' `मिल गया है ऐसा कहते हैं न !' परंतु `गुरुदेवश्री' ने जो माल तैयार करके प्रसिद्ध किया वह बहुत मंथन के बाद प्रसिद्ध किया है। तो तुझे भी इसे ग्रहण करने के लिए भीतर में ऐसे ही मंथन में आना पड़ेगा, तभी उसका ग्रहण होगा। विपरीत अभिप्राय और संस्कार पूर्ववत् रहे और नई चीज़ ग्रहण हो जाए, ऐसा तो नहीं बनता।

श्रोता :- धारणा में समझ होते ही लगता है कि मिल गया !

पूज्य भाईश्री :- माल मिल गया ऐसा लगे ! इसका मतलब क्या हुआ ? कि, उसने भीतर में नहीं देखा कि मैं कहाँ खड़ा हूँ ? और यह माल मिलने के पश्चात् जहाँ खड़ा था (वहाँ से) कुछ आगे चला भी हूँ या अभी वहीं का वहीं बैठा हूँ ? यह बात नहीं सोची, ऐसा है।

श्रोता :- यह क्रम है, मंथन चले बिना आगे नहीं चला जाता

है ।

पूज्य भाईश्री :- नहीं चला जाता, मंथन चले ही चले ! क्योंकि `पर से लाभ है' - यह तो माना हुआ है ही। पर से लाभ है इसलिए लोभ है और `मेरी महत्ता पर के कारण है' - यह भी जीव ने मान रखा है, तो इन दोनों बातों को छोड़ना तो पड़ेगा कि नहीं ? निर्णय ऐसे ही नहीं होता। जब खुद की महानता भासित होती है और स्वयं निरालंब निरपेक्ष है ऐसा भासित होता है तब जीव का लोभ संबंधित और मान संबंधित निर्णय पलट जाता है।

`जगत में किसी भी पदार्थ से मुझे सुख नहीं होता और जगत के किसी भी पदार्थ से या दूसरों के कहने से मेरी महत्ता नहीं है।' - ऐसा निर्णय होने के पहले इससे विरुद्ध ऐसा पूर्वगृहीत निर्णय कि, `परपदार्थों से मुझे सुख और दूसरे लोग मेरी महत्ता करे तो मैं बड़ा वरना छोटा ! मुझे मान देवे तो मेरी महानता और मुझे मान न देवे तो मेरी लघुता ! जैसे मेरी कोई गिनती ही नहीं है, मुझे कोई गिनता नहीं है !' ऐसा जो उसको भ्रम है उस भ्रम को तोड़ने के लिए पहले तो उस विषय में मंथन चलेगा। अतः जब-जब ऐसे परिणाम चले, तब उसने जो पढ़ा हो, सोचा हो, मनन किया हो वह उसके सामने खड़ा हो जाना चाहिए। वरना उसका भी बल है - विपरीत निर्णय का भी बल होता है। और यह बल सर्वप्रथम मंथन से टूटता है, मंथन बिना नहीं टूटता।

अतः विचारणा में अपने पूर्वगृहीत अभिप्राय और मान्यता से विरुद्ध जितने-जितने प्रकार हो उन सब प्रकारों का (और) `**उपदिष्ट विषय का...**' यानी जो भी विषय सत्शास्त्र में उपदिष्ट है, उन दोनों के बीच `**बहुत मंथन चले और उस मंथन के अंत में सत्य संमत हो जाये,...**' सीधा ऊपर-ऊपर से नहीं। ऊपर-ऊपर से जो बात

बैठी होगी उसे छूटने में देर नहीं लगेगी। (किसीने) ऐसा कहा तो ऐसा माना (किसीने) दूसरा कुछ कहा तो कहेगा `ठीक है अब ऐसा मानेंगे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है !' क्योंकि (पहले का माना हुआ) अभी ठीक से बैठा ही न हो ! (इसलिए कहा कि) **`मंथन के अंत में सत्य संमत हो जाये, तो भी प्रयोग करके उसे संमत करने की पद्धति रखें...**' यह बात विशेष है।

मंथन से (सत्य बात संमत) हो जाये इससे भी बात कोई पूरी नहीं हो जाती है। मंथन से यह बात सत्य सिद्ध हुई कि, `बराबर है, ऐसा ही होना चाहिए' तो अब उसका प्रयोग शुरू करे। और प्रयोग में - प्रयोग की कसौटी में जब बात खरी उतरे तब सच्ची माने वरना सच्ची न माने। अतः संमत करने के दो स्तर लिये। एक तो अपने मंथनपूर्वक सत्य को संमत करे यानी कि पूर्वगृहीत अभिप्राय के साथ लड़कर एक बार खड़ा रहे, फिर जब यह बात ठीक लगी हो तो उसे प्रयोग द्वारा फिर से दृढ़ करे, ऐसे ही रट ले सो बात नहीं। (सिर्फ) विचार-मनन से बात को दृढ़ करे, वैसे नहीं, बार-बार इसे विचार में ले - वैसे भी नहीं, उस बात को प्रयोग में लेकर दृढ़ता करे। हालाँकि प्रयोग में भी इसकी Practice करनी होगी, याददास्त में रही बात विस्मृत हो जाती है, Practice की हो वह बात भूली नहीं जाती। दोनों (बातों) के बीच इतना अंतर है।

प्रश्न :- `प्रयोग' शब्द का थोड़ा विस्तार कीजिए ! प्रयोग माने क्या ?

समाधान :- अब प्रयोग शुरू कहाँ से करना ? यह बात अब आगे पद्धति अनुसार लेनी है। परंतु प्रयोग करना माने क्या ? कि, खुद का जो वर्तमान में चलता हुआ परिणमन है उस परिणमन

का अवलोकन करके उसमें अनुभव को देखना पड़ता है।

जैसे कि, एक (बात) नक्की की कि, `राग दुःखदायक है।' अब राग तो चल ही रहा है, तो कुछएक राग में जीव को दुःख लगता है (और) कुछएक राग में दुःख नहीं भी लगता है, जबकि सभी राग है तो दुःखदायक ही। तो तब अपने चलते हुए अनुभव का अवलोकन करे कि, मुझे किसका अनुभव हो रहा है ? जिस राग में मुझे सुख का अनुभव हो रहा है उस राग में सुख है या भ्रांति है ? सुख है या सुख की कल्पना है ? यह बात का अपने चलते हुए परिणमन की गहराई में जाकर अवलोकन किये बिना जीव को पता नहीं चलेगा; वरना ऐसे ही मान लेगा कि, `ठीक है, राग तो दुःखरूप है। सब प्रकार का राग दुःखदायक ही है।' परंतु कुछएक राग में सुख लगता है इसका क्या ? यह तो जीव को जब उसका लक्ष अपनी ओर हो और भीतर में अवलोकन चलता हो तभी पता चलता है कि, इस जगह भूल हो रही है। यहाँ सिद्धांत टूटता है - `राग दुःखदायक है' यह सिद्धांत टूटता है। जरूर मेरी कोई भूल हो रही है। तो अब किस प्रकार की कल्पनावश मुझे सुख का अनुभव हुआ ? वह सुख था कि कल्पना थी ? वास्तविकता से सुख है या सिर्फ कल्पनामात्र है ? यह बात प्रयोग में चढ़कर नक्की करनी चाहिए।

`ज्ञान सुखरूप है'; लेकिन लोग तो ऐसा कहते हैं कि `हमें तो ज्ञान में कोई सुख नहीं दिखता। ज्ञान मतलब जानना इतना ही दिखता है।' ज्ञान मतलब - जो जाने सो ज्ञान। ज्ञान में दूसरा है भी क्या, जो जाने सो ज्ञान ! (लेकिन) ऐसा नहीं है, ज्ञान स्वयं सुखरूप है, परंतु यह ज्ञान कब तक सुखरूप नहीं दिखता है ? कि, जब तक राग दुःखरूप नहीं दिखता है तब तक। अगर राग

में दुःख लगे तो `ज्ञान में सुख है, ज्ञान सुखरूप है' - यह दृष्टिकोण हाथ लग जाए ! तब ज्ञान का रूप पता चले कि, ज्ञान स्वयं ही सुखरूप है।

श्रोता :- सुखरूप अनुभव हो जब तो राग दुःखरूप लगे न?

पूज्य भाईश्री :- वैसे सामान्यरूप से ऐसे सोचा जाता है कि, सुख और दुःख तो एक साथ ही मालूम होंगे न ! परंतु यहाँ मुमुक्षु की भूमिका में प्रथम दुःख में खड़ा है यह बहुत स्थूल दुःख है इसलिए वह पहले दिखना चाहिए। जब खुद की नज़र - दृष्टि स्वच्छ नहीं होती तब उसे स्थूल बात पहले दिखती है, सूक्ष्म बात बाद में दिखती है। यहाँ पर `ज्ञान सुखरूप है' - यह विषय सूक्ष्म है (जब कि) `राग दुःखरूप है' - यह विषय स्थूल है। अतः पहले विकल्प में दुःख लगना चाहिए और राग में दुःख लगना चाहिए। यहाँ ऐसी दलील उचित नहीं है कि, पहले सुख दिखे जब तो दुःख दिखेगा वरना नहीं दिखेगा। यह दलील यहाँ पर योग्य नहीं है।

`परमागमसार' में लिया है। ८८ नंबर का बोल है। `**पर्याय में राग है, दुःख है उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणा-ज्ञान में भी भूल है।**' देखो ! `गुरुदेवश्री' का क्या वचन आया है ! कि, पर्याय में राग है सो दुःख है उसे जो नहीं जानता है उसके तो धारणाज्ञान में भी भूल है ! इतनी एक बात कर दी है। वैसे बात तो यूँ चली है कि, सम्यग्दृष्टि को दुःख नहीं है और वे तो नरक में भी सुखी होते हैं। `अंतर सुखरस गटागटी' `बाहिर नारकीकृत दुःख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी।' तो इसमें यह बात तो ली है कि बाहर में `नारकीकृत दुःख भोगे' अगर दुःख होता ही नहीं तो `दुःख भोगे' यह बात ही नहीं रहती। परंतु दुःख भी

है और सुख भी है। उन्हें स्वभावमें से उत्पन्न हुआ सुख भी अंतर में है, दोनों है। यानी कि सम्यग्दृष्टि को - साधक को जितना राग है उतना दुःख भी है। उस पर से यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि, `**पर्याय में राग है, दुःख है उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणा-ज्ञान में भी भूल है।**'

अब, धारणाज्ञान में क्या लेते हैं ? कि, सम्यग्दृष्टि को राग नहीं है और सम्यक्‌दृष्टि को दुःख भी नहीं है। तो कहते हैं कि, यह तो उसका ज़ोर कितना है, यह दिखाने के हेतु से आस्रव नहीं है, राग नहीं है, दुःख नहीं है ऐसा कहा गया है; परंतु `**जो आस्रव सर्वथा न हो तो मुक्ति होनी चाहिए।**' अतः सर्वथा नहीं है सो बात नहीं है।

प्रश्न :- (राग को) जाने नहीं मतलब उसका वेदन न करे, ऐसा अर्थ लेना ?

समाधान :- हाँ, दुःख तो वेदन का विषय है न ! तो उसे क्यों जानता नहीं है या अनुभव नहीं करता है ? जबकि धारणा ऐसी करता है कि, सम्यग्दृष्टि को तो राग नहीं है, सम्यग्दृष्टि को तो दुःख ही नहीं है, ऐसा नहीं है। उनको भी जितना राग है उतना दुःख है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उपयोग जाये तो भट्ठी जैसा दुःख लगना चाहिए ! लिया है कि नहीं लिया ? वह सम्यग्दृष्टि की बात है।

इसीमें से तो विवाद चला था। (क्योंकि) वह तो मंद कषाय है। मंद कषाय में भट्ठी जैसा दुःख लगे तो-तो फिर सम्यग्दृष्टि कैसे रहेंगे ? सम्यग्दृष्टि तो सुखी ही हैं ! परंतु ऐसा नहीं है। जितना राग है उतना दुःख है। और उसे भट्ठी जैसा इसलिए कहा क्योंकि, आत्मा की शांति से इसकी तुलना करके वह बात कही

है। जिसने आत्मा की शांति देखी है वही ऐसा कह सकता है। जिसने आत्मा की शांति नहीं देखी है वह यह बात नहीं कह सकता। उसको इतना ज़ोर ही नहीं आयेगा। यहाँ तो अभी सामान्य बात ली, प्रयोग के विषय का तो अभी आगे विशेष विस्तार करेंगे।

प्रश्न :- क्या मंथन के क्रम बिना प्रयोग नहीं होगा ?

समाधान :- नहीं, मंथन में आना होगा। क्योंकि विपरीतता में खड़ा है कि नहीं ? हमलोग कहते हैं कि, 'ऐसे भाव बहुत हो जाते हैं। पैसे कमाने के भाव तो बहुत चलते हैं, हम बड़े श्रीमंत हो तो अच्छा और श्रीमंत हो तो चारों तरफ हमारी वाह ! वाह ! होती हो तो अच्छा !' यह सब तो जीव को चलता ही है। दरिद्री से दरिद्री आदमी को भी वैभव की वासना तो पड़ी ही है। वह तो उदय नहीं है इसलिए वैसे भाव प्रगट दिखते नहीं हैं। वरना किसी भी दरिद्री आदमी को श्रीमंत होता है तब कोई इसके क्लास नहीं भरने पड़ते। श्रीमंताई में जो सब प्रकार के भाव चलते हैं इसे सीखने नहीं जाना पड़ता। वह तो सीधा ही, टेढ़ा चलनेवाला हो तो भी सीधा चलने लग जाता है ! यह कोई सीखने नहीं जाना पड़ता है क्योंकि वह तो जीव में पड़ा ही है।

जो बात (भीतर में) पड़ी है इसे तोड़ने के लिए भी कोई द्वंद्व तो चलना (चाहिए), अपने भावों के साथ लड़ाई तो करनी पड़ेगी ही। क्योंकि वह सब आत्मा के लिए अविवेक है और उपदिष्ट वचन इसके सामने विवेक है। अविवेकमल्ल भी ज़ोरावर है इसलिए विवेकमल्ल इससे भी ज़ोरावर हुए बिना अविवेकमल्ल को परास्त नहीं कर सकता। अतः एकबार तो भीतर में अविवेकमल्ल और विवेकमल्ल का युद्ध अच्छी तरह चलता है। यह युद्ध तो चलेगा ही। युद्धमें से गुज़रने के बाद विजय प्राप्त करे तो आगे चल

सकता है, हार गया तो बात पूरी हो गई ! जाएगा फिर से अधोगति में ! इसलिए यह तो चलेगा ही, क्योंकि भीतर में सब भरा पड़ा है वह कैसे छूटेगा ?

श्रोता :- हलके लोग मेरी वाह-वाह करे तो इसमें बहुत मजा पड़े और केवली भगवान मेरी वाह-वाह करे यह नहीं सुहाता !!

पूज्य भाईश्री :- (वास्तव में) उसको केवली भगवान की महत्ता नहीं है, जगत के लोगों की महत्ता है। केवलीभगवान की अवहेलना करता है, उनके ज्ञान की अवहेलना करता है। खुद दोष करेगा तो केवलीभगवान के ज्ञान में दोष झलकेगा इसका तो उसे कोई हरज़ा नहीं, परंतु दूसरे लोग मेरी वाह-वाह करते हैं कि नहीं ? इतना ही देखता है।

श्रोता :- सभी शास्त्र मेरी ही तो वाह-वाह करते हैं !

पूज्य भाईश्री :- आत्मा की महिमा की है परंतु वह तो दिखता नहीं है और बाहर में संयोगों की महत्ता लगती है !

यहाँ एक सामान्य बात ली है, बाद में इस पर विस्तार से बात लेनी है। '**तो भी प्रयोग करके उसे संमत करने की पद्धति रखें,...**' शुरूआत है इसलिए यहाँ तो सिर्फ एक Outline दी है। '**ऐसा प्रकार, यह सुयोग्य प्रकार है।**' इस प्रकार से आगे बढ़ना चाहिए, ऐसा कहना चाहते हैं।

प्रश्न :- मंथन मतलब विचार ?

समाधान :- विचार से भी, विरुद्ध विचार और अविरुद्ध विचार के बीच जो घर्षण चले उसे 'मंथन' कहते हैं। हमलोग मक्खन निकालते हैं कि नहीं ? (उसमें) छाछ का मंथन करते हैं न ! मंथन में एक ही दिशा में नहीं घुमाते। एक तरफ घुमाने से एक तरफ का Pressure (दबाव) उत्पन्न होगा। बरतन में जो छाछ का

प्रवाही पड़ा है (उसमें दबाव उत्पन्न होगा) कि तुरंत दूसरी ओर मथानी को घुमायेंगे। तब एक तरफ घुमते हुए प्रवाही के सामने मथानी टकराती है तब उसमें से मक्खन अलग होता है। जिसमें मंथन किया जाता है - बड़े पेटवाला बरतन रहता है उसमें मथानी को दोनों तरफ बारी-बारी घुमाते हैं न ? एक तरफ घुमाने पर सारा प्रवाही एक तरफ गोल-गोल घुमने लगता है जिसमें Force होता है, उस Force के सामने फिर से उलटा घुमाते हैं अतः पूरे Force को तोड़कर उलटी गति शुरू हो जाती है। सुलटी गति-उलटी गति... सुलटी गति-उलटी गति... आमने-सामने होती है तब मक्खन पाया जाता है।

वैसे (यहाँ) यह जो विपरीत ज़ोर पड़ा है उस ज़ोर के सामने (सुलटा ज़ोर उत्पन्न होना चाहिए)। भय खड़ा है देखिये ! आप कहेंगे कि, `मुझे लोभ नहीं है। हमें कोई ज्यादा लोभ नहीं है। बस ! एक हमारी (आजीविका) की व्यवस्था ठीक से पक्की हो जाए, Security हो जाए कि, `जाईये ! आपको जीवन पर्यंत कोई आपत्ति नहीं होगी। खा-पीकर आराम से मज़ा कीजिए। आपको कोई चिंता नहीं करनी है। आप राज़ी-खुशी से धर्म कीजिए' अब ! ऐसी कोई आपको Security दे दे कि आपके कुटुंब - परिवार सबके आहार-पानी की व्यवस्था हम कर लेंगे !' तो क्या धर्म होगा कि नहीं होगा ? (कहते हैं) नहीं होगा। क्योंकि `यह सब ठीक-ठाक है तो मैं (अपना काम) कर सकता हूँ, वरना नहीं कर सकता। मेरी इतनी व्यवस्था ठीक बैठ जाए फिर मुझे कोई आपत्ति नहीं है।' यही सबसे बड़ी आपत्ति है - आधारबुद्धि की !

इस जीव को संयोग की आधारबुद्धि है। अब संयोगों के आधार बिना अनादि - अनंतकाल निराकुल शांतिमय सुख से जीवित रहे - टिका रहे ऐसा जो आत्मद्रव्य है उसका जब स्वीकार करना है, तो इसके सामने युद्ध तो हुए बिना रहेगा नहीं। फिर यह जो भय होता था उसका क्या ? यह भय कैसे मिटे ? अतः इससे विरुद्ध जो भाव निश्चित कर रखा है, उस निर्णय को तोड़ने के लिए, निर्णय का बल क्षीण होने के लिए - इससे विरुद्ध निर्णय तो (ज़रूर) होगा और तत्संबंधित मंथन भी चले बिना रहेगा नहीं। फिर उस (विपरीत) निर्णय का बल क्षीण होवे तो प्रयोग द्वारा उसे और भी क्षीण कर दे ! प्रयोग से तो नक्की कर ले कि, `बराबर है, मुझे प्रयोग से यह अनुभव होता है कि यही सत्य है, अन्य सब असत्य है। जो मान रखा था वह सब असत्य है।'

श्रोता :- मंथन की भूमिका में सारा कचरा साफ हो जाता है।

पूज्य भाईश्री :- मंथन की भूमिका में विरुद्ध बल ढीला पड़ जाता है। मिथ्यात्व का बल क्षीण होता है। विपरीत अभिप्राय का बल क्षीण होता है, कमज़ोर होता है। प्रयोग से अधिक निर्बल होता है बाद में (स्वरूप)निर्णय होता है, तब एकदम फेरफार हो जाता है, सन्मुख हो जाता है। फिर (मिथ्यात्व का) अभाव होगा - इसप्रकार थोड़ा लंबा Process है।

**`यथार्थ कार्यपद्धति / विधि के संदर्भ में सोचने पर अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है...'** अब जब विधि के विषय पर विचार ही करते हैं तो उसमें रीत `अवलोकन' से चलनी चाहिए। यदि अपने परिणामों का अवलोकन नहीं किया गया तो एक तो जो `परलक्ष' है वही नहीं मिटेगा। जीव ने धर्म के अभी तक जितने भी कार्य किए (वे सब परलक्ष में रहकर किये हैं)।

प्रश्न :- परलक्षी शास्त्रज्ञान में क्या कहना चाहते हैं ?

समाधान :- परलक्षी शास्त्रज्ञान मतलब स्वलक्ष का अभाव। स्वलक्षी और परलक्षी का विषय आगे विस्तार से लिया है। स्वलक्ष में क्या है कि, एक आत्महित का ही लक्ष है और जहाँ आत्महित का लक्ष नहीं है वहाँ जरूर कोई न कोई परलक्ष है। कोई न कोई परलक्ष में क्या है कि, या तो उसको जानकारी का लोभ हो कि, `मैं बहुत जान लूँ !' क्योंकि जीव का सर्वज्ञस्वभाव है इसलिए उसको कुतूहलवृत्ति (होती है)। जब तक ज्ञान पर आवरण है तब तक कुतूहलवृत्ति रहेगी ही। मिथ्यात्वदशा में तो वह अरुचि का प्रकार (है)। स्वरूप की अरुचि और पर की रुचि (है)। रुचि का यदि ज्ञान के साथ संबंध जोड़ना चाहे तो कुतूहलज्ञान (अर्थात्) दूसरे पदार्थों की जानकारी संबंधित कुतूहलज्ञान है वह मुख्यरूप से अरुचि को - स्वभाव की अरुचि को प्रदर्शित करता है। जबकि स्वरूप के रुचिवंत जीव को सीधा पहला विचार यही आता है कि, मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे किसीको जानने से कोई मतलब नहीं है। मुझे सिर्फ मेरे आत्मा का (हित) करना है। (दूसरा) कुछ जानने में मुझे कहीं नहीं पड़ना है।' एकबार तो अखबार पढ़ना बंद हो जाएगा ! क्योंकि दुनियाभर के समाचार इसमें आते हैं। अपने आत्मा की कथा आती है क्या उसमें ? दुनियाभर के समाचार आते हैं तब जीव को लगता है कि, `अच्छा... अच्छा ! क्या दक्षिण अफ्रीका में ऐसा हुआ ?' अब तुझे क्या लेना-देना है इससे ? जो भी हुआ हो ! परंतु दुनियाभर के समाचार जीव कुतूहलवृत्ति से जानता है, उसको स्वरूप की अरुचि बढ़ गई है। रुचिवंत का प्रकार बदल जाता है, उसको अन्य किसी का प्रयोजन नहीं है।

एकबार तो यहाँ तक आना पड़ता है। जीव यहाँ तक आ जाता

है कि, मुझे किसी का क्या काम है ? मुझे इस भव में मेरे आत्मा का हित कर लेना है। इसीलिए मुझे यह मनुष्यभव मिला है ऐसा मुझे लगता है ! तो अब मुझे इस काम में लग जाना है। मुझे दुनिया के लोगों के पचड़े में क्यों जाना ? दुनिया की झंझटों में उलझने की कोई जरूरत नहीं है। वरना क्या है कि, पररुचि वशात् जीव को आत्मा की रुचि प्रगट ही नहीं होती है। फिर ऐसी पररुचि में रहकर चाहे कुछ भी पढ़े सोचे, स्वाध्याय करे, शास्त्रों का स्वाध्याय करे; परंतु पररुचि सबको खा जाती है ! उसका जाना हुआ कुछ काम में नहीं आता है।

पररुचि के कारण अविवेक नाम का ज्वर पैदा होता है। `अनुभव प्रकाश' में `दीपचंदजी' ने यह बात ली है कि, `पररुचि के कारण विवेक को ज्वर लागू पड़ता है।' अतः मेरा हित किसमें है और मेरा अहित किसमें है, ऐसा जो विवेक है उसे सर्वप्रथम बुखार आता है। जैसे बुखार आने पर आदमी कमज़ोर हो जाता है वैसे उसका विवेक निर्बल होता जाता है। कारण-कार्य की कुछएक बातें उन्होंने ली है, बहुत सुंदर ! पूरा `अनुभव पद्धति' का ही विषय है।

(यहाँ कहते हैं) `**विधि के संदर्भ में सोचने पर अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है...**' यह अवलोकन होने में एक स्वलक्ष पैदा होता है। जो परलक्ष है, परलक्ष से जो शास्त्रज्ञान की प्रवृत्ति होती है या परलक्ष से जो बाह्यत्याग की प्रवृत्ति होती है उसका कारण इतना है कि, जीव को अपने परिणामों का अवलोकन नहीं है या स्वलक्ष नहीं है। बहुत तपस्वी हो लेकिन क्रोधी रह जाता है, इसका कारण क्या है ? (कारण यह कि) उसने अपने परिणामों को नहीं देखा। (बस !) मैंने कितने उपवास किये सिर्फ

इतना ही देखता है। मैंने कितने दिन आहार छोड़ा इसकी गिनती ही उसे चलती है। मेरे परिणामोंमें से मैंने कितने दोषों को छोड़ा यह नहीं देखता। ठीक इसी प्रकार परलक्षी शास्त्रज्ञान में भी अपने परिणामों का अवलोकन किये बिना केवल शास्त्रों की धारणा करता रहता है, शास्त्रों की समझ करता रहे तो इसमें अपने दोष कम करने का अवसर ही नहीं आयेगा। इसलिए (कहा कि), `**अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है...**' इसके अलावा कोई योग्य पद्धति नहीं है। यह रीत का विषय है।

`**क्योंकि अवलोकन हुए बिना परिणाम में उत्पन्न रस को जीव स्वयं समझ नहीं सकता...**' अब अवलोकन में क्या दिखता है (यह कहते हैं)। अवलोकन में ज्यों-ज्यों अवलोकन का अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों अपने विभावपरिणाम अधिक स्पष्ट समझ में आते हैं। अधिक स्पष्ट समझ में आना मतलब क्या ? कि, परिणाम में जो विभावरस है वही परिणाम की विपरीतता में बलवान Factor है। परिणाम का रस उस परिणाम की व्यक्त शक्ति में रहा है।

(यह) बहुत मुद्दे का विषय है। परिणाम के रस में ही परिणाम की शक्ति गर्भित है। यदि शुद्ध परिणाम हो तो शुद्धता का जो रस है उसमें परिणाम की व्यक्त शक्ति है। इतनी शक्ति व्यक्त हो गई। अशुद्धता में तीव्र रस है तो उस अशुद्धता का ज़ोर बहुत है, उसकी शक्ति वहाँ है। वह शुद्धता को प्रवेश नहीं करने देगी। और जितना रस वृद्धिगत् होता है उतनी उसकी परिणति बनती जाती है। परिणति रस अनुसार बंधती है। इसलिए हमलोग नहीं कहते हैं ? कि, यह आदमी बुद्धिशाली है, देश-परदेश तक बड़ा व्यापार करता है किन्तु यह बात उसको अभी नहीं बैठेगी। इसका कारण क्या है ? कि, उसका वर्तमान संयोगों के पीछे दौड़ का

जो रस है वह रस उसकी बुद्धि को इस प्रकार प्रतिबंधरूप होती है कि इससे विरुद्ध बात में उसकी बुद्धि प्रवेश ही न कर सके। अथवा विरुद्ध बात वह सुनेगा और बुद्धिगम्य भी होगी किन्तु भीतर में कोई असर उत्पन्न नहीं कर पाएगी; क्योंकि वह विपरीत परिणति का बख्तर पहनकर बैठा है। इसलिए गुरु चाहे कितना Firing करे (फिर भी) उसको गोली नहीं लगती है।

इसमें क्या है कि, हमलोग हज़ारों-लाखों शास्त्र छपवाते हैं। जिसमें वीतरागदेव का उपदेश भरा है। परंपरा में जो मक्खन रह गया वह अध्यात्मतत्त्व शास्त्रों में भरा है। गोली किसी को ही लगती है ! शास्त्र पढ़नेवाले लाखों होते हैं परंतु गोली किसी को (ही) लगती है। जिस किसी एक को भी गोली लगती है उसके संसार की मृत्यु हो जाती है, उसका संसार मर जाता है। तो यह गोली किसको लगती है ? कि, जिसके अंदर में परिणति पलटने की तैयारीरूप योग्यता आयी हो उसको। जिसका विभावरस मंद हुआ हो उसको। विभावरस में विभावशक्ति व्यक्तरूप से विद्यमान है।

`गुरुदेवश्री के वचनामृत' में १९ वें बोल में है। (`समयसार') १४४ वीं गाथा पर से चुना हुआ (स्वरूप)निर्णय का बोल है। `नंदीश्वर जिनालय' में `गुरुदेवश्री' के वचन जो संगेमरमर में उत्किर्ण किए हैं उसमें लिया है कि, कषायरस जब मंद पड़ता है तब निर्णय होता है। कषाय मंद पड़ता है तब निर्णय होता है, ऐसा नहीं लिया; (परंतु) कषायरस मंद पड़े तब निर्णय होता है, ऐसी बात ली है।

इसकी चौभंगी है। सम्यग्दृष्टि को कषाय तीव्र हो तो भी कषायरस मंद होता है। मिथ्यादृष्टि का कषाय मंद हो चाहे तीव्र हो उसका रस तो तीव्र ही होता है। जबकि सम्यग्दृष्टि को तो कषाय मंद होता है (तब कषायरस भी मंद होता है)। मिथ्यादृष्टि को भी कभी

कषाय मंद हो तब रस मंद होना संभव है। इस प्रकार कषाय की तीव्रता-मंदता और रस की तीव्रता-मंदता के चार भंग हैं। आपस में दो गुना दो। आमने-सामने ले तो चार हो जाते हैं।

अब, कषायरस तोड़ना है (तो) कार्य की पद्धति में प्रथम कार्य कौन-सा है ? कि, जीव का कषायरस टूटना चाहिए। यदि जीव का विभावरस नहीं टूटा तो यह बात को स्थान मिलने का अवकाश नहीं है, यह गोली नहीं लगेगी। कषायरस ही चलता है। रस को कोई नहीं देखता है, कषाय की मंदता को सब देख लेते हैं, ज्ञान के उघाड़ को देख लेते हैं, परंतु विभावरस मंद है या तीव्र है इसका कोई विचार नहीं है।

(जबकि यहाँ तो) सर्वप्रथम यह बात है कि, कषायरस कब टूटे ? अथवा किसी भी परिणाम में कोई भी विषय का रस चलता हो वह कब टूटे ? रस तो तब टूटता है जब रसभंग हो। कब टूटता है ? रस तो रस में भंग पड़े तब टूटता है। यह तो अनुभवगम्य बात है न ? एक आदमी बहुत रसपूर्वक अपना मनभावन भोजन ले रहा हो तब बीच में उसको दूसरी बात कर दे या कोई बुरी खबर सुना दी जाए कि, 'भाई ! आपका जहाज़ यहाँ डूब गया है।' तो तब (खाने का) रस टूट जाएगा कि नहीं टूट जाएगा ? रसभंग होता है तब रस टूटता है।

रसभंग करना हो तो उसका उपाय क्या है ? कि, चलते हुए रस से कोई विरुद्ध बात खड़ी होनी चाहिए। सभी विभावरस से - तमाम प्रकार के विभावरस के आगे एक बड़ा साधन है - ज्ञान ! सभी प्रकार के विभावरस के सामने ज्ञान है वह सब से बड़ा साधन है। तो सीधा ज्ञान को लागू करे। उसको देखते ही (रसभंग हो जाएगा)। खुद को तो निर्दोष होना है न ? हेतु-दृष्टिकोण तो निर्दोष

होने का अपनाया है, साध्य किया है। अतः जैसे ही रस बढ़े और यदि ज्ञान जागृत हो जाए कि, अरे...! कि तुरंत रस का पारा नीचे उतर जाएगा। मानो जैसे भय लगा, किसी प्रसंग में भय लगा, भय ऐसा लगा कि मृत्यु का संभव हो। कोई Accident (अकस्मात) हो जाए या मान लीजिए कमरे में सर्प है और खुद की बाहर निकलने की परिस्थिति न हो क्योंकि दरवाजा बंद है और वह दरवाजे के पास ही बैठा है। दरवाजा खोलना हो तो उसके नज़दीक जाना पड़े, वरना खुद का कमरे से निकलना संभव नहीं है, तब एकदम भयान्वित हो गया, समझ लीजिए ! ऐसे किसी Accident के प्रसंग में भयान्वित हो गये हो तब उसी वक्त उसका रस कैसे उत्पन्न न हो ? (तब उसवक्त ही अवलोकन करे कि,) आत्मा की मृत्यु कहाँ है ? शायद सर्प काट लेगा, कब काटेगा ? जब उसको इस शरीर पर मोह होगा तब।

('कृपालुदेव'ने) 'गांधीजी' को उत्तर दिया है न ? जिस शरीर पर खुद को मोह नहीं है, ऐसे इस शरीर पर सर्प को यदि मोह हो जाए तो भले ही काट ले ! इतने कपड़े तो बदले ही हैं - देह तो कपड़े बदलने जैसी बात है, एक कपड़ा और बदली हो जाएगा ! इससे ज्यादा क्या है ?! अभी तक कपड़े बदलता ही आया है। नई-नई देह धारण करता (आया है इसमें) और एक सही !

श्रोता :- मुनि ध्यान में खड़े हो तब पैर में सर्प लिपट जाए तो भी कुछ नहीं होता है !

पूज्य भाईश्री :- सर्प लिपट जाए उतना ही नहीं, सर्प काट ले तो भी दूर नहीं करते हैं ! (मुनिराज) देखे कि एकदम ज़हरीला बिच्छू पैर पर चढ़ा है और समझो अभी डंक मारेगा ! (फिर भी)

उसे नहीं हटाते ! उन्हें तो अलौकिक देहातीत दशा है ! देह से खुद का जैसे कोई लेना-देना नहीं है, इतने भिन्न पड़ गये हैं। (लोग) दलील करते हैं कि, `फिर देह का त्याग क्यों नहीं करते हैं ? दिगंबर मुनि वस्त्र का त्याग जब करते हैं तो देहत्याग क्यों नहीं करते ?' (अरे !) वे देह से कितने भिन्न हो चुके हैं यह तुझे अभी पता नहीं है ! वह देह त्याग के बराबर ही है। वरना न तो खुद वस्त्र के कर्ता-हर्ता नाहीं देह के कर्ता-हर्ता हैं। यह बात रखकर (फिर दूसरी बात) है।

(हमारा विषय जो चलता था वह ऐसे कि) उसवक्त मृत्यु के भय का जो रस उत्पन्न होता है, उसमें रसभंग हो तो उसमें एक नया चमत्कार होगा ! उसकी शक्ति विशिष्ट प्रकार की है। चैतन्य की चमत्कारिक शक्ति की बात ही कुछ और है !! जगत में जितने भी रिद्धि-सिद्धि के चमत्कार हैं वे सब इसके आगे कुछ नहीं हैं। अथवा एक स्वानुभव में - स्वानुभवी के चरण में जगत की तमाम रिद्धि-सिद्धि लोटती है ऐसा ही समझिये आप ! इतना अत्याधिक स्वानुभव का महत्तापूर्ण माहात्म्य है !! जगत के चमत्कार जिसके आगे कुछ नहीं है, इतना चमत्कार एक स्वानुभव में है। इस स्वानुभव का अगर कोई दुश्मन है तो यह विभावरस है - कषायरस है, जिसे तोड़नेवाला यदि कोई है तो `ज्ञान' नाम का योद्धा है। सीधा ही उससे रस पर प्रहार होता है।

इस प्रकार अवलोकन का जो विषय है वह जीव को अनादि से तमाम प्रकार का जो परलक्ष है उसे छुड़ाता है। और स्वलक्षपूर्वक प्रवृत्ति होने से जीव के विभावरस पर सर्वप्रथम प्रहार करता है, विभावशक्ति को तोड़ता है। यद्यपि विभावों में मिथ्यात्व बड़ा दुश्मन है। पहले उसकी शक्ति तोड़ते जाता है।

`अवलोकन हुये बिना परिणाम में उत्पन्न रस को जीव स्वयं समझ नहीं सकता...'** परिणाम में कषायरस कितना उत्पन्न होता है यह तो खुद देखे तो पता चले, वरना रस में इतना अंध हो जाता है कि, उसका कितना रस बढ़ गया है इसकी खबर ही नहीं रहती है। **`और तत्त्वज्ञान का अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो जाता है।' जो जीव अवलोकन पद्धति में नहीं आता है उस जीव को शास्त्रज्ञान का - तत्त्वज्ञान का अभ्यास केवल एक परलक्षी धारणा के प्रकार के अलावा दूसरा कुछ नहीं है। फिर यह परलक्षी धारणा दुर्गुण को - अवगुण को उत्पन्न करेगी, करेगी और अवश्य करेगी। यह बात तो नीचे लेनी है। स्वलक्षी और परलक्षी में कितने मुद्दे हैं यह आगे लिया है।

यहाँ से, अवलोकन से प्रयोग शुरू होता है। जब तक अवलोकन नहीं होता तब तक प्रयोग शुरू नहीं होता है। अवलोकन से प्रयोग शुरू होता है। जितना अवलोकन ज्यादा, जितनी अवलोकन की सूक्ष्मता अधिक उतना ही स्वभाव को देखने का प्रयत्न विशेष, ऐसा समझना।

`तत्त्वज्ञान का अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो जाता है। ऐसी परलक्षी धारणा का उपयोग...' यानी कि व्यवहार में उसका कोई अमल नहीं हो सकता है। उपयोग मतलब इसका अमल करना, उसे सफल बनाना। ऐसी परलक्षी धारणा कोई सफल नहीं होती। इसका कोई फल नहीं आता, इसका उपयोग (भी) नहीं हो पाता है। क्योंकि वह तो उदय में तीव्र रसपूर्वक परिणमन कर ही लेगा, और उस वक्त उसकी धारणा गायब हो जाएगी। धारणा हाज़िर नहीं होगी। इसलिए उस धारणा का उसे कोई फल नहीं, कोई उपयोग नहीं है - यह नक्की हो गया। **`और ऐसी उपदिष्ट धारणा**

प्रायः कृत्रिमता को उत्पन्न करती है अर्थात् धारणानुसार कार्य करने की कर्तृत्वबुद्धि से धारणा का विषय चरितार्थ करने का होता है।' फिर क्या करता है, ऐसा विचार करता है कि हमने जो धारणा की है उसका उपयोग करे। फिर वह कृत्रिमता से उपयोग करने में लग जाता है कि, 'मैं तो अब मेरे ज्ञान का अमल करने लगा !' जीव ऐसे प्रकार में आ जाता है। यदि जीव अवलोकन में नहीं आता है तो फिर उसकी (धारणा का) उपयोग नहीं रहता। अगर कोई उपयोग करता है तो वह कृत्रिमता से उपयोग करता है और कर्ताबुद्धि से वह कार्य करने की कोशिश करता है। फिर वह ऐसे धारणा का अमल करने के लिए धारणा को चरितार्थ करता है। ऐसा एक प्रकार भीतरमें से उत्पन्न होता है। यह भी एक विकृत प्रकार है, ऐसा कहना है। इस पर थोड़ा विशेष लेंगे, (अभी) समय हुआ है।

३ दि. २०-०२-१९९०

'सुविधि' ! पैराग्राफ से ले। '**यथार्थ कार्यपद्धति / विधि के संदर्भ में सोचने पर अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है...**' कार्य की - काम करने की रीत में अपने परिणामों का (अर्थात्) व्यक्त - प्रगट हो रहे - परिणमन कर रहे चलते हुए परिणामों का अवलोकन होना। अवलोकन और विचार में एक फ़र्क है कि, जो परिणाम व्यतीत हो जाते हैं उसका विचार किया जाता है। चलते हुए परिणामों का तो सीधा अवलोकन चलता है, अतः उसमें विचार होने पर भी परिणाम की जाँच करना, परिणाम को देखना (बनता है)। (विचार और अवलोकन में) इतना फ़र्क है।

जब जीव अपने परिणामों के अवलोकन में आता है तब उसका जो दूसरे पदार्थों के प्रति लक्ष है वह स्वतः ही गौण हो जाता है। यहाँ से दूसरे पदार्थों के प्रति का जो झुकाव है उसमें फेरफार शुरू हुआ, शुरूआत हुई।

श्रोता :- वर्तमान परिणामों का अवलोकन करने पर फेरफार शुरू हुआ !

पूज्य भाईश्री :- वर्तमान परिणामों का अवलोकन करना है। जो चले गए, व्यतीत हो गए उसका अवलोकन नहीं होता। उसका विचार जरूर होता है परंतु उसका अवलोकन नहीं होता। अवलोकन

तो चलते हुए वर्तमान विद्यमान परिणामों का होता है। क्योंकि जो उपस्थित नहीं है वह तो स्मृति का विषय बन जाता है। जो (परिणाम) चले गए - भूतकाल में हो गए वह तो स्मृति का विषय बन जाता है, उसका स्मरण करके उस पर विचार किया जा सकता है, परंतु अवलोकन तो चलते हुए परिणामों का होता है।

`(**अवलोकन होना**) **ही योग्य पद्धति है...**' यह पद्धति योग्य इसलिए है कि, इस प्रकार से `**अवलोकन हुये बिना परिणाम में उत्पन्न रस को जीव स्वयं समझ नहीं सकता...**' (अर्थात्) खुद के परिणाम में कितना रस आया यह चलते हुए परिणाम में अनुभवगोचर होता है। अतः अनुभव से समझने का प्रकार ज्ञान में यहाँ उत्पन्न हुआ। विचार से समझना एक बात है, अनुभव से समझना दूसरी बात है - ऐसे दो भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।

विचार में वस्तु परोक्ष है। विचार का विषयभूत परिणाम भी परोक्ष है जबकि अनुभव में परिणाम प्रत्यक्ष है। इस तरह प्रत्यक्ष-परोक्ष का फ़र्क बहुत बड़ा फ़र्क है। इसलिए वही पद्धति योग्य है इसका कारण यह है कि, जीव अपने परिणाम में जो रस उत्पन्न होता है उसे अवलोकन किये बिना समझ नहीं सकता और तत्त्वज्ञान का अभ्यास करता रहता है। अपने परिणाम में रस को तो पकड़ सकता नहीं और (केवल) तत्त्व का अभ्यास करता रहे तो वह भी एक उदय हुआ। चलो ! अभी आठ से नौ शास्त्रस्वाध्याय का समय है तो हम शास्त्रस्वाध्याय करें। अभी दूसरी प्रवृत्ति नहीं करनी है, दुकान पर नहीं जाना है, अन्य कोई व्यवसाय नहीं करना है, दूसरे काम नहीं करने हैं' - यह एक उदय हो गया।

`**तत्त्वज्ञान का अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो जाता है।**' स्वलक्षी नहीं रहता किन्तु परलक्षी हो जाता है। विचार में

जो-जो बातें आती हैं उस पर विचार करता रहता है - ऐसे होगा, ऐसे होगा कि नहीं होगा ? ऐसा होगा या नहीं होगा ? फिर न्याय आदि समझ में आने पर संमत करेगा, नहीं समझ में आयेगा तो संमत नहीं करेगा। परंतु वह सारा परलक्षी धारणा का विषय है, चाहे संमत करे तो भी ! संमत नहीं होता हो तब तक उसे समझना चाहिए कि, खुद के ज्ञानमें से अभी विपर्यास छूटा नहीं है। जो विपर्यास पूर्व में संग्रह किया था वह विपर्यास अभी छूटा नहीं है। नहीं छूटने का यह भी कारण है कि, जिज्ञासा का अभाव है। यदि जिज्ञासा होती है तो जिज्ञासापूर्वक समझनेवाले को विपर्यास आड़े नहीं आता है क्योंकि उसने अवकाश उत्पन्न किया है (कि), `सत्य क्या है यह मुझे समझना है।' ज्ञान में सत्य का अवकाश उत्पन्न किया।

जिज्ञासा है वह ज्ञान में सत्य समझने का अवकाश - खाली ज़गह पैदा करती है। शास्त्र स्वाध्याय आदि या प्रवचन के वक्त जीव अगर जिज्ञासा में नहीं रहता है तो उसे सत्य जब (सामने) आता है तब अपने विपरीत पूर्वगृहीत संस्कार के कारण सत्य संमत नहीं होता है। तब उसके अपने पूर्वगृहीत संस्कार का बल होने से उसको ऐसा लगता है कि, `यह मुझे ठीक नहीं लगता है, या यह मुझे समझ में नहीं आता है कि किस प्रकार है ?' समझ में नहीं आता है (ऐसा कहेगा) लेकिन समझने के लिए अगर जिज्ञासा तीव्र करे तो समझ में आ जाता है, परंतु जिज्ञासा के अभाव में जीव ऐसा सोचता है कि, `इसमें बात कुछ दूसरे प्रकार से होनी चाहिए, ऐसे नहीं हो सकता।' खुदने जो मान रखा है उसके अनुरूप शास्त्र के कथन को, दूसरे कथन को समझने का प्रयत्न करता है, (परंतु वह) गलत प्रयत्न करता है। अपनी मान्यतानुसार शास्त्र

के या ज्ञानी के वचनों का अर्थघटन करने का प्रयत्न करना - यह अपने विपर्यास को और विपरीत रुचि को पुष्ट करने का प्रकार बन जाता है। वह तो बहुत नुकसान का कारण हो जाएगा।

श्रोता :- वर्तमान परिणामों का अवलोकन नहीं है इसलिए ऐसा तो होगा ही।

पूज्य भाईश्री :- इसीलिए तो कहा कि, वह नहीं समझ सकेगा। अपने परिणामों को ही नहीं समझ सकेगा। जब अपने परिणामों को ही नहीं समझ सकेगा तो (फिर दूसरी सब बातें तो) कल्पना में चढ़ने की बात हो गई। दूसरी जो समझ है वह तो कल्पनामात्र रह गई। परलक्षी ज्ञान में ऐसा बनता है।

ऐसी जो परलक्षी धारणा है उस '**परलक्षी धारणा का उपयोग नहीं हो सकता...**' यानी कि इसका कोई अमल नहीं हो सकता। वह धारणा उसको काम में नहीं आती। धारणा पड़ी रहती है (और) उदयकाल में तीव्र रस से सुख-दुःख का, हर्ष-शोक का, कषाय का वेदन कर लेता है - अनुभव कर लेता है, परंतु वह ज्ञान उसके किसी भी काम में नहीं आता। धारणाज्ञान है वह बिनउपयोगी रह जाता है।

'श्रीमद्‌जी' कई बार पूछते हैं कि, 'देह और आत्मा भिन्न है ऐसा तू समझा तो है, (लेकिन अभी) शरीर में अशाता हुई है इस वक्त तेरा देह और आत्मा की भिन्नता संबंधित ज्ञान कहाँ गया?' ऐसा पूछते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, चलती हुई अशाता के वक्त - तेरे उदय के वक्त तू इस धारणा को लागू करता है कि नहीं ? कोई प्रयत्न चलता है कि नहीं ? या सब ऊपर-ऊपर से ही चलता है ? इसलिए (कहा कि) ऐसी धारणा का कोई अमल नहीं हो सकता। 'उपयोग' मतलब व्यवहार में वह (काम में) नहीं

आ सकता।

फिर इस धारणा का क्या प्रयोग करेगा - क्या उपयोग करेगा ? (यह कहते हैं) '**ऐसी उपदिष्ट धारणा प्रायः कृत्रिमता को उत्पन्न करती है...**' जो बात उसकी समझ में आयी है उस समझ अनुसार सहज प्रवृत्ति होने के बजाय कृत्रिम प्रयत्न करता है। धारणानुसार कार्य करने की कर्तृत्वबुद्धि कृत्रिमता में उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। ऐसी कर्तृत्वबुद्धि से धारणा के विषय का परिणमन हो जाए, 'चरितार्थ करना' मतलब परिणमन हो जाए वैसा प्रयत्न वह करता है। इस प्रयत्न में भूल है, पुरुषार्थ की भूल है।

दृष्टांतरूप से ऐसा समझ में आया कि, 'आत्मा जो ध्रुवतत्त्व है वह ध्रुवतत्त्व अनंतगुण का निधान है। जीव को अनादि से व्यवहारनय के विषय का पक्ष है, पर्याय का पक्ष है, भेद का पक्ष है जो कि छोड़ने योग्य है और त्रिकाली ध्रुव पर ज़ोर देने जैसा है।' किसी जीव ने इतनी बात धारणा में ली, तो अब क्या करना ? कि त्रिकाली ध्रुव के ही विचार करना, विकल्प भी उसका, विचार भी उसका और बात करनी हो तो उसमें भी उस पर ही ज़ोर देना ! क्यों (ऐसा) ? क्योंकि हम ऐसा समझे हैं कि, पर्याय पर व भेद पर ज़ोर देने जैसा नहीं है परंतु त्रिकाली पर ज़ोर देने जैसा है, ऐसा जानकर त्रिकाली पर ज़ोर देने लग जाए। अपनी बातों में, अपने प्रवचनों में या अपने विचार-विकल्प में (उस पर ज़ोर देने लग जाए) - यह कृत्रिम प्रयत्न है। कर्तृत्वबुद्धि से उत्पन्न परिणाम हैं और ऐसे परिणामों से कभी ध्रुव तक पहुँचा नहीं जाता। अतः ऐसा प्रकार उत्पन्न हो जाता है।

वरना सामान्यरूप से ऐसा देखा जाता है कि, जीव का ज़ोर भेद और पर्याय पर है ? निमित्त पर है ? या जीव का ज़ोर

श्रद्धा के विषयभूत त्रिकाली तत्त्व पर है ? अब जब खयाल आया कि, इस जीव का ज़ोर तो त्रिकाली पर है और अध्यात्म का विषय भी वही है, अध्यात्मतत्त्व तो त्रिकाली आत्मा है, तो अब वहाँ फिर से परीक्षा करने का प्रसंग खड़ा हुआ कि, वह कृत्रिम है या सहज है ?

इसमें दो प्रकार बनते हैं। इसमें कुछएक जीव कृत्रिमता भी करते हैं परंतु जिसकी यथार्थ Line है उसको सहजता आती है। जिसको ध्रुवतत्त्व का भावभासन हुआ, उस भावभासनपूर्वक जिसको रुचि और महिमा उत्पन्न हुए उसका ज़ोर तो सहज जाता है, परंतु जिसको भाव भासित नहीं हुआ है, सिर्फ परलक्षी धारणा में सोच लिया कि इस पर ज़ोर देने योग्य है, इसलिए अब देते ही रहो ! इस प्रकार (ज़ोर) देने लगे तब कई जीवों की भूल भी हो जाती है कि, `इसकी बात तो ठीक लगती है ! यह जो कह रहा है वह ठीक है ! `गुरुदेवश्री' ने भी त्रिकाली ध्रुव पर ही ज़ोर (देने का) कहा है और यह भी त्रिकाली ध्रुव पर ही ज़ोर दे रहा है।' परंतु (यथार्थता) में ऐसा नहीं बनता। यह जो दूसरा प्रकार है वह विपरीत प्रकार है, गलत प्रकार है जिससे कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। खुद धोखे में रह जाता है कि, `मैं तो बराबर ध्रुव पर ही ज़ोर दे रहा हूँ ! अनंतगुण के निधान पर ज़ोर दे रहा हूँ !' ऐसी भ्रांति में खुद रह जाता है। यह नई उत्पन्न हुई भ्रांति गृहीत मिथ्यात्व का प्रकार है। गृहीत मिथ्यात्व का प्रकार है ! थोड़ी कठिन लगे ऐसी बात है, परंतु नग्न सत्य तो ऐसा ही है। गृहीत मिथ्यात्व यहीं पर से ही उत्पन्न हो जाता है। जो कार्यपद्धति नहीं है (उसे कार्यपद्धति मान ली), यह रीत के विषय में बुद्धिपूर्वक की भूल है।

प्रश्न :- ऐसी भूल में सुधारा कैसे करना ?

समाधान :- भावभासन होना चाहिए और भावभासन होने के लिए सब से सरल उपाय तो सत्पुरुष के चरणसेवन के अलावा दूसरा कोई नहीं है। तत्पश्चात् खुद जिज्ञासा में, भावना में रहे और अवलोकन करे। अवलोकन करने में उसको राग की जाति (और) ज्ञान की जाति की परख आयेगी, जिसमें से भावभासन होगा। यह विषय तो (आगे) चलेगा। उसका तो विस्तार है, ये जो पंद्रह पन्ने है वह उसका ही विस्तार है कि, कैसे आगे चलना ? गलत रीत कौन-सी है यह हमें समझ लेनी है और सही रीत कौन-सी है यह भी समझ लेनी है। जिससे कि हमारा भ्रांति में रहने का कारण न बने। (और) भ्रांति में चलना भी न हो। दोनों बातें हैं।

प्रश्न :- ऐसा विचार करे कि, मैं त्रिकाली ध्रुव की बात का विचार तो करता हूँ परंतु प्रयोग से भिन्न नहीं होता हूँ, तो उसका वज़न सहज वहाँ जाएगा क्या ?

समाधान :- सहज वज़न कहाँ जाये ?

श्रोता :- त्रिकाली स्वभाव पर।

समाधान :- इसमें तो ऐसा है कि, जब भिन्न ही नहीं हो रहा है तो वज़न तो कैसे जाएगा ? वज़न यथार्थरूप से तो तब जाता है जब ध्रुव वस्तु ज्ञान में हो, परंतु जब ध्रुव वस्तु ज्ञान में आती ही न हो और कल्पनामात्र हो या राग के आधारित यह बात समझ में आयी है कि जिसका कृत्रिमता से अमल करना चाहता है, वैसे तो काम नहीं होगा।

`शताब्दि अंक' में `गुरुदेव' के (`समयसार' गाथा) १४४ के प्रवचन अनुसार (कहे तो) ज्ञान के आधार से, अंशतः राग का अभाव करके निर्णय किया हो और भाव भासित हुआ हो तो उसे कृत्रिमता से

ज़ोर देना नहीं पड़ेगा, सहज ही जाएगा। दुनिया में भी ऐसी कहावत है कि, `पराणे प्रीत न थाय' - प्रीत है वह जबरदस्ती किसी से करने-कराने की चीज़ नहीं है। यह तो दुनिया में लोग समझते ही हैं न ! तो यहाँ अपने आत्मा का प्रेम क्यों है ? (तो कहते हैं कि) खुद को यदि अपने में अनंतगुण का निधान भासित होगा तो सहज ही झुकाव बदल जायेगा। अगर नहीं भासित हुआ तो कृत्रिमता करने से तो कुछ हाथ लगनेवाला नहीं है, ऐसा है।

श्रोता :- स्वरूप के भावभासन के लिए सत्पुरुष का समागम सरल में सरल उपाय है !

पूज्य भाईश्री :- वह सब से सरल उपाय है। क्योंकि भूल कहाँ होती है यह सत्संग में पता चलता है। सत्संग बिना खुद की भूल खुद को समझ में नहीं आती है। इसलिए वह बात मुख्य है। और भीतर में स्वयं की तैयारी होनी चाहिए। सिर्फ निमित्त काम नहीं करता - यह सिद्धांत है। अगर खुद की तैयारी नहीं होगी तो ऐसा संग भी अनंतबार हो चुका है, एक बार और इस भव में हो जाएगा। वह तो वही का वही - पूर्वानुपूर्व है।

श्रोता :- यथार्थता बिना संतुलन नहीं रह सकता।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यथार्थता बिना संतुलन आ ही नहीं सकता। अयथार्थता में तो एकांत हो ही जाएगा। कहाँ एकांत हो जाएगा यह पता नहीं चलेगा।

अतः ऐसी धारणा जो है वह प्रायः कृत्रिमता को उत्पन्न करती है। कृत्रिमता को उत्पन्न करती है मतलब `**धारणानुसार कार्य करने की कर्तृत्वबुद्धि से धारणा का विषय चरितार्थ करने का होता है।**' (अर्थात्) धारणा के विषय अनुसार खुद का परिणमन हो ऐसा कृत्रिम प्रयत्न करता है। अतः `**वास्तव में तो तत्त्व का अभ्यास**

स्वलक्षी / आत्मलक्षी होना चाहिये...' यह एक शिस्त का सिद्धांत है - शिस्त का नियम है कि, तत्त्व का अभ्यास आत्मलक्षी ही करना चाहिए, तत्त्व का अभ्यास कभी परलक्षी नहीं करना चाहिए।

अपने आत्मा को लक्ष में रखकर - अपने आत्मा को केन्द्रस्थान में रखकर, लक्ष में केन्द्रित करके तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। तो फिर तत्त्व अभ्यास में विभिन्न भावों संबंधित (जो) विश्लेषण आएगा (उसे) अपने परिणामों के साथ मिलान करता जाएगा। आत्मलक्षी होगा तो मिलान करेगा, वरना मिलान नहीं करेगा। अपने परिणामों से मिलान नहीं करेगा। यूँ ही शब्दार्थ, भावार्थ, नयार्थ, मतार्थ (समझकर) छोड़ देगा कि, `अब मुझे समझ में आ गया !'

अब, तत्त्व का अभ्यास आत्मलक्षी होना चाहिए और परलक्षी नहीं होना चाहिए, इसके कारणों को अब (देखें)। परलक्षी में कितना नुकसान है और आत्मलक्षी - स्वलक्षी में कितना लाभ है इसके कुछएक मुद्दों को यहाँ पर स्पष्ट किया है।

(१) `**स्वलक्षीज्ञान ही प्रतीति को उत्पन्न कर सकता है, परंतु परलक्षी आगमज्ञान, अनादि विपरीत श्रद्धा को पलटने के लिए समर्थ नहीं है।**' अब देखिये ! एक समस्या का यहाँ पर उत्तर है। हमारे (यहाँ) कई मुमुक्षु विचार करते हैं कि, `हम तो आगम अनुसार मानते हैं, `गुरुदेवश्री' के प्रवचन भी बराबर समझ में आते हैं परंतु फिर भी श्रद्धा में जो सम्यग्दर्शन होना चाहिए वैसा पलटा नहीं खाता है।' गलती से ऐसा भी सोचते हैं कि, `हमारा पुरुषार्थ अभी उठता नहीं है इसलिए श्रद्धा नहीं हो रही है, हालाँकि अपनी समझ तो ठीक है क्योंकि आगम के साथ हमें कोई विरोध नहीं आता है, `गुरुदेवश्री' के प्रवचनों से भी हमें कोई विरोध नहीं आता है।' जिसको विरोध आता हो उसका तो खैर विचार करने जैसा

भी नहीं है। उसको तो उलटे अभिप्रायों को ठीक करना ही होगा, परंतु जिसको विरोध नहीं आता है इसका कारण उसकी समझ ठीक है सो बात नहीं है, उसकी समझ परलक्षी है।

इसमें ही आगे लिया है - **`जिस तरह राग से विपरीत श्रद्धा पलटी नहीं जा सकती है,...**' यानी कि राग में - विकल्प में श्रद्धा को पलटने का सामर्थ्य नहीं है। **`उसी तरह परलक्षी ज्ञान भी सम्यक् श्रद्धा को उत्पन्न करने में असमर्थ है।**' परलक्षी धारणाज्ञान है वह उलटी श्रद्धा को सुलटी नहीं कर सकेगा, वह निमित्तभूत नहीं होगा क्योंकि उसमें तो दर्शनमोह मंद भी नहीं होता है (तो) दबेगा तो कैसे ? प्रथम तो दर्शनमोह का उदय अनुदय होता है। वह उपशम के समय ही पहले पहल अनुदय होता है। तब तक उदय मिटता नहीं है। और जिसको उदय हो उसका इससे जुड़ान व भाव में दर्शनमोह आये बिना रहता नहीं - यह तो नियमबद्ध है।

ऐसे कुछएक नियमों के कारण कर्म के उदय के साथ किसी एक अवस्था तक जीव के परिणामों का जुड़ान होता हुआ अनिवार्य देखकर शास्त्र में निरूपण किया है, तो लोगों ने इस बात को पकड़ ली कि, `कर्म हटे तो ही हम कुछ कर सकते हैं ! इसलिए कर्मों को हटाने का प्रयत्न करो ! वरना उदय है तब तक जुड़ना ही पड़ेगा।' परंतु ऐसा नहीं है। खुद जब प्रयत्न करता है तब उदय स्वयं अनुदयरूप हो जाता है। कर्म के परमाणु होते हैं परंतु उदय में नहीं आ सकते और इसका कारण है जीव का स्वलक्षी पुरुषार्थ। स्वलक्षी ज्ञान है इसके कारण स्वलक्षी पुरुषार्थ है।

अतः जिस प्रकार राग में श्रद्धा को सम्यक् करने की शक्ति नहीं है, समर्थता नहीं है; ठीक वैसे ही परलक्षी धारणाज्ञान में भी श्रद्धा को सुलटाने की कोई ताकत नहीं है, समर्थता नहीं है। तो

अब होता कैसे है ? एक स्वलक्षी ज्ञान ही प्रतीति को उत्पन्न करता है।

यह `दिपचंदजी' ने लिया है कि, यदि अवलोकन के काल में खुद को प्रतीति आये - विश्वास आये, क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है, तो वैसा ज्ञान कारण है और स्वानुभव कार्य है। प्रतीति सहित का ज्ञान है वह कारण है - साधन है और शुद्धोपयोग होना - अनुभव होना वह साध्य है। ऐसी बात ली है। बात तो इस तरह ली है कि, प्रतीति कब आये ? कि, स्वलक्षी ज्ञान से जब उसको ज्ञानस्वभाव समझ में आया हो और स्वलक्षी ज्ञान द्वारा अवस्था में उत्पन्न विभाव की विपरीतता, मलिनता और विभाव का दुःख - तीनों देखें हो, विचार किया हो ऐसे नहीं परंतु `देखा हो' - उसे अनुभव से देखा हो तो उसे प्रतीति आती है कि, यहाँ से निकलना चाहिए और यहाँ जाना चाहिए। (यह) सहज है। वरना उस झुकाव में बदलाव नहीं आ सकता, (जबकि) यह सहज बनता है।

प्रश्न :- विभावरस के वक्त जागृत रहे और आत्मा के अभ्यास में जितना स्वलक्ष करे तो क्या कार्य सहज होगा ?

समाधान :- विभावरस के अवलोकन से विभावरस टूटता है, रस भंग होता है। जब किसी एक विषय संबंधित रस के परिणाम चलते हो उसमें दूसरा कषाय उत्पन्न होने से भी उसका रस टूटता (है), तो इसमें अगर `मैं तो ज्ञानतत्त्व हूँ' ऐसा यदि ले (कि), `यह विभावरस और मेरे ज्ञान में यानी मेरे में और विभावरस में भिन्नत्व है एक(त्व) नहीं' - तो रस टूट ही जाएगा।

प्रश्न :- वह स्वलक्षी ज्ञान हुआ ?

समाधान :- हाँ, इस प्रकार अवलोकन से विभावरस मंद होता है तब दर्शनमोह का रस भी मंद होता है। ज्यों-ज्यों दर्शनमोह

का अनुभाग घटता है त्यों-त्यों भावभासन आता है, और वह सम्यक्त्व के समीप जाता है, नज़दीक जा सकता है। इससे श्रद्धा पलटती है, इसके बिना श्रद्धा (नहीं पलट सकती)। परलक्षी ज्ञान चाहे अंग-पूर्व का कर ले, ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक अभवी करता भी है, (लेकिन) इससे कोई श्रद्धा नहीं पलटती।

(२) '**स्वलक्षीज्ञान गुण को / स्वभाव को साध सकता है परंतु परलक्षीज्ञान विकल्पवृद्धि में परिणमता है या प्रायः शास्त्रीय अभिनिवेश आदि दोषों को साधता है।**' एक गुण को साधता है, एक दोष को साधता है। भले ही आगमअनुसार ज्ञान हो, परंतु यदि स्वलक्षी प्रकार होगा यानी कि यथार्थ प्रकार होगा तो वह स्वभाव को व गुण को उत्पन्न करेगा। अगर परलक्षी होगा तो उसके विकल्प बढ़ जायेंगे। शास्त्र संबंधित उसके विचार-विकल्प और उलझनें बढ़ जायेंगी। और उसमें से फिर शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न हुए बिना रहेगा नहीं। यानी कि वह दोष का उत्पादक हुआ। शास्त्रज्ञान करे और दोषों को उत्पन्न करता जाए ! जो शास्त्र दोष के अभाव में निमित्त होना चाहिए ऐसा जो आगम (उसको पढ़कर भी दोष उत्पन्न करे), तो अब दूसरा साधन कौन-सा बाकी रहा यह कहिए ?! जिस साधन से खुद दोष मिटाकर गुण को साध सकता है उसी साधन से अगर वह दोष को साधता है, फिर तो बचने के लिए कोई स्थान नहीं रहा। अतः तत्त्वज्ञान के अभ्यास में स्वलक्षीज्ञान और परलक्षीज्ञान का बहुत महत्त्व है। काफ़ी महत्त्व है ! वरना वह खुद दोष को साधने लगेगा। शास्त्र शस्त्र समान हो जायेंगे।

भगवान 'महावीरस्वामी' के शासन में दो मत हो गए, उसमें क्या कारण बना ? कि जो भावलिंगी आचार्य थें उनकी आज्ञा की उपेक्षा की गई। उन लोगों को अभी की तरह कोई संसार-कुटुंब-परिवार नहीं था कि, चलो पैसे के लिए मेहनत करनी पड़े ! परंतु मान जरूर था ! मान को नहीं छोड़ सके। वहाँ पहले शिथिलाचाररूप आचरण का दोष नहीं था। पहले श्रद्धाभ्रष्ट हुए थे, आचरण में शिथिलता तो बाद में आयी है। यह बात 'भगवान कुंदकुंदाचार्य' ने 'अष्टपाहुड' में ली है, 'दंसण भट्ठा न सिझंती, चरित भट्ठा सिझंती' संवत-४९ में यह बात लिखनी पड़ी है। इसका कारण यह है कि, पहले दर्शनमोह में आवरित हो गए, फिर चारित्र में तो गड़बड़ हुए बिना कैसे रहे ? और अगर चारित्र का बराबर पालन करे तो भी इसका कोई अर्थ नहीं है। परंतु वह फेरफार हुए बिना रहेगा नहीं। दोष का जब जन्म होता है - दर्शनमोह का जब जन्म हो जाए फिर चारित्रमोह पर क्रमशः इसका असर आये बिना नहीं रहता।

प्रश्न :- आज्ञा की उपेक्षा ही दर्शनमोह हो गया ?

समाधान :- हाँ, वहीं से दर्शनमोह हो गया। इसमें न केवल विद्यमान आचार्य की अवहेलना है परंतु जिनेन्द्र की आज्ञा पर पैर रखने जैसी बात है ! वैसे ही अभी सत्पुरुष की अवहेलना वह (सिर्फ सत्पुरुष की) अवहेलना नहीं है, वह (तो) जिनेन्द्र की आज्ञा पर पैर रखने जैसी बात है !! बहुत गंभीर बात है ! यह बात जब तक समझ में नहीं आयेगी तब तक आगे की कोई भी बात समझ में आये यह नामुमकिन है। ऐसा है।

प्रश्न :- बारह वर्ष दुर्भिक्ष पड़ेगा - यह कोई तत्त्वज्ञान की बात तो वैसे है नहीं ?

समाधान :- तत्त्वज्ञान की बात भले ही नहीं हो, परंतु जिन आचार्यों ने क्षेत्रांतर किया, जबकि जिन्होंने नहीं किया वे यदि अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रह सके होते, तब तो प्राण छूटने पर

भी उन्हें दिक्कत नहीं आती। किन्तु जब दर्शनमोह होता है तब शरीर से एकत्वबुद्धि तो हो ही जाती है। जब दर्शनमोह का आवरण आता है तब शरीर से एकत्वबुद्धि तो हो ही जाएगी। शरीर की एकत्वबुद्धि होते ही प्रथम याचनावृत्ति उत्पन्न हो जाएगी। क्योंकि मुनियों को तो वैसे भी बाहर में आधार नहीं है। या तो निरालंब ऐसे अपने परमात्मा के अवलंबन में मस्त रहे या फिर बाहर में दीनता करनी पड़े कि, `हमें आहार-पानी दीजिए !' और दुर्भिक्ष था इसलिए माँगे बिना कोई देता भी कैसे ? जिसके पास खुद का पेट भरने की व्यवस्था न हो वह संसारी प्राणी दूसरे को कहाँ से देगा ? दान कौन करता है ? खाते-पीते भी जिसके पास बचता है वह करता है या जिसको खुद का पेट भरने जितना भी न हो वह करता है ? कौन करता है ? संसार में दुष्काल के काल में वैसी परिस्थिति तो रही नहीं और इन्हें याचना में - दीनता में आना पड़ा। मुनिपना तो छूट गया ! मुनिपना छूट गया मतलब भगवान की आज्ञा पर पैर रख दिया। यह कब नहीं छूटता ? कि, वे जो भावलिंगी आचार्य थें उनकी आज्ञा में यदि रह जातें तब तो दिक्कत नहीं आती। वैसे बात छोटी लगती है लेकिन इतनी जबरदस्त गड़बड़ हो गई कि, वह मत आज विकसित होते-होते बोरिया-बिस्तरवाला हो गया !! मूल में तो दिगंबर मुनि ही श्वेतांबर हुए हैं। आज भी कई दिगंबर लोग ऐसा कहते हैं कि, `अभी के मुनियों को मानीये। क्योंकि देशकाल अनुसार हमें थोड़ा चला लेना चाहिए। बड़ा मन रखना चाहिए।' यह वास्तव में तो दिगंबर के वेश में श्वेतांबर होने की ही बात है।

श्रोता :- `गुरुदेवश्री' ने बहुत स्पष्ट कहा है !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, `गुरुदेवश्री' तो एकदम स्पष्ट और ठोस बात करते थे।

श्रोता :- अभी कोई हंस नहीं दिखता है इसलिए कौए को हंस मानना ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं मान सकते, (बिलकुल) नहीं मान सकते ! और किसी न किसी बहाने से उसको मानते हैं ऐसा दिखाव भी नहीं करना चाहिए। लोभ से, मोह से, भय से - किसी बहाने नहीं मान सकते।

श्रोता :- आचार्य ने दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की, इसकी उपेक्षा में पूरा संसार बढ़ गया !

पूज्य भाईश्री :- इसका कारण (है) कि, उनको नाप रहता है। मुनिदशा में भी नाप आ जाता है। (मुनिदशा का) परीक्षाकाल (होता) है। मुनिदशा में अमुक हद तक यदि टिक न पाए (तो) सीधे मिथ्यात्व में आ जाते हैं। जैसे कि यह संलेखना का काल है, सबसे अत्याधिक परीक्षाकाल प्राण छूटने का प्रसंग उत्पन्न होना वह है - संक्षेप में। दुर्भिक्ष में क्या हो जाता ? आहार-पानी नहीं मिलते (तो) प्राण छूट जाते। (श्रोता :- संलेखना ले लेते हैं !) संलेखना में कोई मुनि हो तो दूसरे मुनि क्यों उनका संग करते हैं ? संलेखना में स्थितिकरण हेतु (क्यों) जाते हैं ? (कि) यदि ये मुनिराज वेदना और प्रतिकूलता में नहीं टिक सके तो इनकी मृत्यु बिगड़ जाएगी ! समाधिमरण नहीं होगा। मिथ्यात्वदशा में मरण हो जाएगा ! सम्यक्त्व छूटा की बात पूरी हो गई ! फिर तो जैसा दूसरा मिथ्यादृष्टि है वैसा ही यह मिथ्यादृष्टि हो गया। इसलिए ऐसे समय में दूसरे मुनिगण भी (समाधिमरण होने में) निमित्त पड़ते हैं।

(३) `**स्वलक्षीज्ञान अनुभव में आ रहे भावों की गहराई में जाता है,...**' अब देखो ! अवलोकन क्या काम करता है ? कि, जो भाव

अनुभव में आ रहे हैं - चल रहे हैं - अनुभव में आ रहे हैं, अवलोकन के समय उस भाव की गहराई में जाता है। विचार में इतनी गहराई तक जाने की शक्ति नहीं होती। सामने प्रसंग मौजूद हो तब इसकी गहराई में जाना होता है।

`**जिससे स्वभाव-विभाव जाति की परख होने की क्षमता उत्पन्न होती है...**' अब अनुभव में दो जाति के भाव आते हैं। ज्ञान है वह स्वभावजाति का भाव है और विभाव-कषाय जो है वह विभावजाति का भाव है। बार-बार अवलोकन द्वारा इसकी गहराई में गया हुआ जो ज्ञान उसको परपदार्थ के साथ तो संबंध रहा नहीं, इसलिए सब अंदर का खेल हो गया। इसकी गहराई में जाने पर दोनों की जाति की परख आने की योग्यता आती है। वरना प्रायः जीव कषाय की मंदता से उत्पन्न शांति में धोखा खा जाता है। (उसको ऐसा लगता है कि,) `चलो ! (अच्छा है) मुझे तत्त्वज्ञान का अभ्यास है तो आकुलता न हुई और शांति रही !' अपने यहाँ लोग बोलते हैं न कि, `यह `गुरुदेव' का कहा हुआ समझते हैं इसलिए हमें शांति बनी रहती है !' यदि यह समझें नहीं होते तो हम शायद बहुत तीव्र कर्मबंध के कारणभूत परिणाम कर बैठते !' जब कोई मरणादि प्रसंग बनता है न ? स्वजन की मृत्यु होती है तब आदमी धारणाज्ञान से परिणाम मंद रखता है तो उसे वह ज्ञान का लाभ समझता है। `इतना तो लाभ हुआ !' (ऐसा मानता है, परंतु) वह मंदता Temporary है। धारणाज्ञान में गुण को उत्पन्न करने की कोई शक्ति नहीं है और वह शांति कोई आत्मा की शांति नहीं है। वह भी कषाय एक नया वेश धारण करके आया है, नया रूप धारण करके आया है। कषाय का रूप बदला (और) तुझे इसमें मोह हो गया कि, `यह कषाय अच्छा है, चलो ! यह शांति अच्छी

है' - ऐसा व्यामोह हो गया। दुःख में शांति मानी मतलब विपरीतता को साधा। धारणाज्ञान है वह नशे का इंजेक्शन है ! थोड़ी देर शांति रहेगी, (परंतु) वास्तव में भीतर में शांति नहीं है, भीतर में तीव्र अशांति दबी हुई पड़ी है ! जिसे `रुंधा हुआ कषाय' कहते हैं। `पूज्य बहिनश्री' की भाषा में ऐसा आया है, वह `रुंधा हुआ कषाय है।' वह वास्तविक शांति नहीं है।

श्रोता :- उस वक्त ज्ञान की बातें करता हो, वैराग्य की बातें करता हो फिर भी वह ज्ञान बिना का वैराग्य है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान बिना का वैराग्य है और रुंधा हुआ कषाय है। उसे गलत तरीके से दबाया है, दमन किया है - (इसलिए) वह वापिस उछलकर दुगने ज़ोर से कार्य करने लग जाएगा।

फिर से (ले) `**स्वलक्षीज्ञान अनुभव में आ रहे भावों की गहराई में जाता है,...**' अनुभव में तो ज्ञान और राग दोनों ही अनुभव में आते हैं। वह दोनों की गहराई में जाता है, जिसमें यह स्वभावजाति का भाव है और यह भाव विभावजाति का है ऐसी परख यानी पहचान होने की योग्यता इस अवलोकन से स्वलक्षी ज्ञान में प्राप्त होती है। जब तक पहचान न हो तब तक अनुभव की Line नहीं खुलती है, वह रास्ता नहीं खुलता है।

`**परंतु परलक्षी ज्ञान तो स्थूलरूप से ऊपर-ऊपर से प्रवर्तन करके मात्र धारणा करता है।**' स्वलक्षी ज्ञान में (ऊपर कहा) उतना काम होता है। (जब कि) परलक्षी ज्ञान (क्या करता है) ? (तो कहते हैं) कि, वह स्थूल समझ करके ऊपर-ऊपर से प्रवृत्ति करता है परंतु पता नहीं चलता। कई लोग पूछते हैं कि, `यह अवलोकन मतलब क्या ? यह नई बात कहाँ से आई ? (लोगों को) नई लगती है। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि अभी तक सब बातें ऊपर-ऊपर

से धारणा में स्थूल समझपूर्वक सोची है, उस वक्त अपने भावों का अवलोकन नहीं किया है।

प्रश्न :- परिणाम किस तरफ जाते हैं इसकी तत्काल जाँच रखे उसका नाम ही अवलोकन है न ?

समाधान :- हाँ, उसका नाम `अवलोकन' है। (परंतु) चलते हुए परिणाम में, भूतकाल के नहीं - जो बीत चुके उसमें नहीं। चलते हुए परिणामों पर Watch - चौकीदार बैठ जाना चाहिए। (इससे) बड़ा फ़र्क यह पड़ जाता है कि जैसे आपने किसी बँगले के दरवाजे पर चौकीदार बिठा दिया हो तो वह कुत्ते-बिल्ली को अंदर नहीं जाने देगा। कोई नहीं बैठा होगा तो कोई भी घुस सकता है। वैसे परिणाम पर यदि Watch बिठा दिया तो यूँ ही ऐसे कुत्ते-बिल्ली जैसे कोई आ नहीं सकेंगे। बड़ा फ़र्क तो यह पड़ेगा !

इसके अलावा यह अभ्यास स्वभावजाति की पहचान से ज्ञानतत्त्व यानी कि आत्मतत्त्व की पहचान कर लेगा। इसके प्रतिपक्ष में विभावजाति की पहचान आने से कषाय का एक कण - मन की शांति का एक कण (भी) वह पहचान लेगा कि, यह विभाव है। मन की शांति बहुत होगी और शाता का वेदन होगा तो भी पकड़ लेगा कि, यह ज्ञान नहीं है - यह राग है। और जब तक भीतर में ऐसी ज्ञान और राग की संधि पकड़ में नहीं आएगी तब तक प्रज्ञाछैनी से भेद पाड़ने के लिए भेदज्ञान कहाँ करेगा ? और बिना भेदज्ञान अनुभव होगा कहाँ से ? अनुभव बिना संवर-निर्जरा कहाँ से होंगे ? यह सीधी बात है।

श्रोता :- मन का व्यापार चाहे कितना भी मंद हो जाए तो भी उसको ज्ञान नहीं कह सकते।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, एकमद मंद हो जाए फिर भी उसे ज्ञान

कैसे कहना ? यह तो विज्ञान है न - Science है। विज्ञान को विज्ञान की पद्धति से ही समझना पड़े।

(४) `**स्वलक्षीज्ञान के साथ प्रतीति सम्मिलित होती है जिसके कारण स्वरूपस्थिरता का सामर्थ्य उत्पन्न होता है...**' यह चारित्र का बोल है। पहले श्रद्धा का बोल लिया, बाद में गुण-अवगुण का General विषय ले लिया, बाद में ज्ञान का बोल आया। अब चारित्र का बोल है कि, `**स्वलक्षीज्ञान के साथ प्रतीति सम्मिलित होती है जिसके कारण स्वरूपस्थिरता का सामर्थ्य उत्पन्न होता है...**' शक्ति (उत्पन्न होती है) - आत्मा में उपयोग स्थिर होता है। `**परंतु परलक्षी ज्ञान विशाल क्षयोपशमवाला होने पर भी उससे उपयोग की स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती।**' इससे कोई स्थिरता नहीं आती। ज्ञान बहुत हो, काफ़ी शास्त्रों का विशाल ज्ञान हो इससे कोई उपयोग स्वरूप में स्थिर हो जाए ऐसा नहीं बनता। उलटा बाहर में भटकेगा। `पद्मनंदी पंचविंशतिका' में आता है न ? मुनिराज ऐसा कहते हैं कि, `शास्त्रों में भ्रमण कर रही मति व्यभिचारिणी है।' इसका अर्थ क्या हुआ ? आगम और शास्त्रस्वाध्याय का निषेध किया है, क्या ऐसा इसका अर्थ है ? ऐसा नहीं है। परलक्षीज्ञान का निषेध किया है। स्वलक्षपूर्वक तो आगम का अवगाहन कर्त्तव्य है। उनको तो उपयोग बाहर जाए यह भी नहीं पोसाता है। शास्त्र में भी क्यों जाना ? स्वयं ही आगम है ! जीवंत आगम तो स्वयं ही है। तो अपने मूर्तिमंत सजीवन आगम को छोड़कर जड़ आगम में क्यों जाना ? क्या जरूरत है ?

श्रोता :- ये सारी बातें करके सब से समर्थ साक्षी मुनिराज की दे दी !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, मुनिराज का (आता है न) ! यह तो प्रसिद्ध

बात है। `टोडरमल्लजी' ने `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में `पद्मनंदि आचार्यदेव' की इस बात का उद्धरण किया है । (अब) पाँचवाँ।

(५) `**स्वलक्षीज्ञान में हुआ आत्मस्वरूप का निर्णय स्वरूप की अनन्य रुचि, अंतर्मुखी पुरुषार्थ का बल...**' यानी कि ज़ोर उत्पन्न करता है। `**एवं अपूर्व चैतन्यरस...**' `**अपूर्व चैतन्यरस**' माने `(**स्वरूपमहिमा की वज़ह से उत्पन्न हुआ**)...' अपूर्व चैतन्यरस। सिर्फ कृत्रिमता से महिमा करे सो बात नहीं। जब स्वलक्षी ज्ञान में स्वभाव जाति की परख आयी, ज्ञानपर्याय पर से पूरा स्वभाव लक्षगत हुआ तब उस स्वभाव में अनंत गुणों की खान देखी ! अनंत सुख की खान देखी ! और इस निर्णय (से) स्वरूप की अनन्य रुचि, गुण की अनन्य रुचि उत्पन्न हुई। `अनन्य रुचि' मतलब जिससे अन्यरूप से माने अलग रहा न जा सके उसे `अनन्य रुचि' कहते हैं।

`रुचि' के प्रकरण में `सोगानीजी' ने बात ली है, (उसमें) दृष्टांत लिया है कि, पतंगा जो है वह दीये को देखकर फिर विचार करने नहीं रुकता, क्योंकि रूप का विषय है वह उसके आकर्षण का विषय है। सीधा उसमें अपनेआप को स्वाहा कर देता है। - जला देता है ! `दीया बहुत अच्छा है, मुझे बहुत सुहाता है, मुझे नज़दीक जाना चाहिए, अभी जाऊँ या बाद में जाऊँ ज़रा सोच लूँ' (- ऐसे विचार करने नहीं रुकता)। वह तो जैसे दीये को देखा नहीं कि उसकी ओर वेग से बढ़ा नहीं !! उसे रूप की अनन्य रुचि है। वह जीव पतंगा इसी वज़ह से हुआ है। जो दीये के आसपास जीव होते हैं, वे दीये में गिरकर जल जाते हैं, उसका कारण वही है। उसने अवगुण में ऐसी रुचि को पुष्ट कर ली है, फिर गुण में तो रुचि का पोषण कितना होगा ? (जबकि) उसमें तो सुख नहीं है, सुख की गंध भी नहीं है, कल्पनामात्र रम्य है,

कल्पनामात्र सुख है, तो जहाँ वास्तविक अनंत सुख की खान हो वहाँ तो रुचि कितनी होगी ? यदि जीव को अपने में ऐसे सुख की खान भासित हो तो उसकी रुचि कैसी होगी ? फिर अन्यरूप रह सके नहीं।

इसलिए ऐसा कहा जाता है कि, स्वरूपनिर्णय से जो अनन्य रुचि उत्पन्न हुई उस रुचि के कारण जीव घण्टों में और कुछ दिनों में ही अनुभव तक पहुँच जाता है, इसका कारण यही है। `सोगानीजी' को घण्टें लगे हैं, दिन नहीं लगे। तीव्र पुरुषार्थ का दृष्टांत है, परंतु किसी का मंद पुरुषार्थ हो तो कुछ दिन लग भी सकते हैं। अगर अत्यंत मंद पुरुषार्थ हो तो ही महीने लगते हैं, परंतु उसमें भी छः महीने से ज्यादा नहीं। छः महीने पहले तो धुन लग ही जाती है। शुरूआत में पुरुषार्थ मंद रहा हो या बीच में शिथिलता रही हो तो भी पीछे से उसकी धुन लग जाती है। ऐसी धुन चले - ऐसी धुन चले कि, वह अपने स्वभाव के अलावा कुछ देखता ही नहीं है इसलिए वह अनुभव में आ जाता है, स्वरूप की अनन्य रुचि उत्पन्न होती है।

आत्मलक्षीज्ञान में हुआ आत्मस्वरूप का निर्णय वह यथार्थ निर्णय है। वह अंतर्मुखी पुरुषार्थ का ज़ोर एवं अपूर्व चैतन्यरस उत्पन्न करता है। `**परंतु परलक्षी ज्ञान से आगम के आधार से किया हुआ स्वरूप का निर्णय...**' ये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - उत्पाद, व्यय, ध्रुव - द्रव्य, गुण और पर्याय, गुण-गुणी का भेद, इन सब का भेद-प्रभेद से निर्णय कर लेगा (तो) `**भी आत्मस्वरूप के महिमा-रस-रुचि-पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर सकता।**' उसे तो वह पुरुषार्थ ही उत्पन्न नहीं हो सकता, पुरुषार्थ का उत्थान ही नहीं होता है। आगम अनुसार परलक्षी ज्ञान से आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ऐसा है (यह)

समझ लेगा। (समझ में) भूल है या नहीं ? भूल नहीं है। लेकिन उसका ज्ञान परलक्षी है या स्वलक्षी ? परलक्षी ज्ञान में पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होगा। पुरुषार्थ नहीं होगा तो अनुभव भी नहीं होगा। थोड़े समय तक धारणा कायम रहेगी, ज्यादा से ज्यादा इस भव पर्यंत, वह भी अधिक से अधिक। भवांतर होने पर तो भावांतर हो ही जाएगा। दूसरा भव होते ही भाव भी बदल जाएगा। याद (भी) नहीं होगा कि मैंने कितने शास्त्र पढ़े थे ? मेरी कितनी याददास्त थी ? कोई भान नहीं रहेगा।

प्रश्न :- इसमें कुछ हद तक तो संस्कार रहते होंगे कि नहीं ?

समाधान :- अच्छा हुआ प्रश्न निकाला। परलक्षीज्ञान में संस्कार पड़ने की योग्यता नहीं है। स्वलक्षीज्ञान में निर्णय तक नहीं भी पहुँचे लेकिन संस्कार डलने की संभावना है ! ऐसा कब (बनता है) ? कि किसी काल में आत्मतत्त्व की - परमात्मतत्त्व की तीव्र रुचि हो गई और उसी काल में दर्शनमोह का अनुभाग थोड़ा अधिक कम हुआ हो और चलते हुए परिणाम में 'ज्ञान सो आत्मा, यह ज्ञायक सो आत्मा' ऐसा हो जाए, 'आत्मा ऐसा ! लगता तो है ऐसा !' वैसा अस्पष्ट लेकिन थोड़ा भावभासन आ जाए - स्पष्ट नहीं, स्पष्ट आने पर तो धुन लग जाए। परंतु ऐसा चलते हुए परिणाम में अवलोकन के समय (होता है)।

श्रोता :- अवलोकन पद्धति में आये तो ही यह संभव है।

पूज्य भाईश्री :- स्वलक्षी परिणाम के अलावा संस्कार का अवकाश ही नहीं है न ! यह तो बहुत साफ बात है कि, परलक्षी धारणा तो ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक अभवी भी करता है, उसको संस्कार पड़ेंगे कि नहीं पड़ेंगे ? नहीं पड़ेंगे। वह अभवी है (इसलिए) वह तो संभव ही नहीं है। भवीजीव को 'आत्मा' सुनते वक्त स्वलक्षी

ज्ञान में स्वरूप की - अध्यात्म की रुचि-तीव्र रुचि कभी ज़ोर कर जाती है। श्रवण करानेवाले कोई ज्ञानीपुरुष हो या किसी ज्ञानीपुरुष से सुना हो और खुद को कुछ लक्ष में रह गया हो और प्रयत्न चल जाए तो ऐसे काल में संस्कार डल जाते हैं। वह संस्कार उगे बिना नहीं रहते। संस्कार का बल बहुत है। यह बीज बोया वह निर्मूल नहीं होगा अब। इस बीजमें से भवांतर होने पर भी अंकुर अवश्य फूटेगा ही फूटेगा। किसीको तो उसी भव में होता है। ऐसे बहुत-से जीव होते हैं (जो) कि, उसी भव में सम्यक् में आये, जिसका कारण उस भव में प्रत्यक्ष ज्ञानी न हो, संस्कार काम करते हैं। उसी भव में संस्कार (काम करते हैं) तो किसी जीव को दूसरे भव में वह संस्कार फलिभूत होते हैं। परंतु संस्कार निष्फल तो कभी नहीं जाते हैं। बहुत बड़ी चमत्कारिक शक्ति है ! आत्मा की आराधना तो चमत्कारिक शक्ति है ही, तीन लोक में इससे बड़ी कोई चमत्कारिक शक्ति नहीं है, परंतु ऐसे संस्कार में भी इतनी चमत्कारिक शक्ति है कि, उस बीज को कोई निर्मूल नहीं कर सकता !! भवांतर में भी वह अवश्य खिल उठेगा। स्वभाव का यह एक प्राबल्य है। स्वभाव में अनंत सामर्थ्य है जिसका यह एक किरण है। जिसकी रुचिवश संस्कार ग्रहण हुआ (वह) काम कर लेगा।

श्रोता :- सत्पुरुष के योग में ही ऐसे संस्कार पड़ते हैं।

पूज्य भाईश्री :- सत्पुरुष का योग हो, देशनालब्धि में आ चुका हो, भले ही संस्कार पड़े तब सामने सत्पुरुष हो या न हो वह दूसरी बात है। परंतु सत्पुरुष के योग में देशनालब्धि में आ चुका हो फिर किसी प्रसंग में उसे स्वतः अपने ज्ञायक का लक्ष हो जाए, तो संस्कार ग्रहण हो जाते हैं।

जैसे जिसको सम्यग्दर्शन हो उसका मोक्ष अनिवार्य है, नियमबद्ध है, कार्य है वह कारण से प्रतिबद्ध है, वैसे इस संस्कार के साथ सम्यग्दर्शन प्रतिबद्ध है। ऐसी बात है। `गुरुदेवश्री' को ऐसा विश्वास आया था कि `यह वाणी निष्फल नहीं जाएगी ! यह वाणी जो निकल रही है, अंदर से आ रही है (वह निष्फल नहीं जाएगी) !' स्वयं तो कभी-कभी कहते थे, कहा भी है (कि) `परमात्मा की गद्दी पर बैठकर यह कहा जा रहा है !' कितना उन्हें आत्मविश्वास होगा !! स्वयं इतने ज़ोरपूर्वक कहते थे कि, `परमात्मा की गद्दी पर बैठकर यह बात कह रहे हैं !' वाणी का निमित्त-नैमित्तिक संबंध खाली नहीं जाएगा ! यह बात नक्की हो गई। हालाँकि वाणी खाली गई भी नहीं है। खाली जायेगी नहीं और खाली गई भी नहीं है। अनेकानेक जीवों को लाभ का कारण होगी। किसी गिने-चुने जीवों को ही नहीं बल्कि अनेक जीवों को (लाभ का कारण) होगी।

प्रश्न :- संस्कार की जो भूमिका है वह इस (स्वरूप)निर्णय के पहले की भूमिका है ?

समाधान :- निर्णय के वक्त तो संस्कार इसमें आ ही गए, परंतु कभी किसी जीव को निर्णय के पहले भी (संस्कार की प्राप्ति) हो जाती है। दो प्रकार हैं। दो प्रकार से संस्कार ग्रहण होते हैं। निर्णय के समय तो विचार को अवकाश भी नहीं है कि संस्कार ग्रहण नहीं हुआ, तब तो संस्कार ग्रहण हो ही जाते हैं।

इसके लिए बोल देखना चाहो तो `परमागमसार' - ३५९ बोल देख लेना। निर्णय होने पर लक्ष रहता है, लक्ष छूटता नहीं है चाहे कोई भी काम करे। चिंतन में, मंथन में आत्मा का लक्ष रहता है। भले अभी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ हो, और जितना कारण अर्थात् पुरुषार्थ देना चाहिए उतना कारण नहीं दिया हो, तो भी उस जीव

को सम्यक्सन्मुखता होती है। `**ऐसे जीव को अंतर में ऐसी लगन लगती है कि `मैं जगत का साक्षी हूँ, ज्ञायक हूँ।' अंतर में ऐसे दृढ़ संस्कार डाले...**' यह निर्णय के काल में अंतर में दृढ़ संस्कार डाले `**कि जो फिर न बदले।**'

श्रोता :- `दृढ़' शब्द इस्तेमाल किया है।

पूज्य भाईश्री :- पड़े ही पड़े। निर्णय के काल में `दृढ़' संस्कार डलते हैं, जो फिर नहीं बदलते। `**जैसे सम्यग्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव बतलाया है, वैसे ही सम्यक्-सन्मुखता में ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ते हैं कि उस जीव को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति निश्चित है।**' यह `गुरुदेवश्री' का ३५९ वाँ बोल है। यानी कि निर्णय के काल में सन्मुखता हो जाती है। सन्मुखता हो जाने पर चंद दिनों में अनुभव में आ जाता है। निर्णय के पहले जो संस्कार पड़े हो उसमें समय निकल जाता है। जिसमें किसी को कुछ साल बाद उसी भव में यह Line मिल जाती है तो किसी को भवांतर में (मिलती है)। देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य बिना `निसर्गात (सम्यग्दर्शन)' उत्पन्न हो जाता है उसका कारण यही है वरना `अधिगमज सम्यग्दर्शन' होता है। हालाँकि `निसर्गात' जो होता है उसका कारण संस्कार है।

इसलिए (यहाँ ऐसा कहा कि), `**परलक्षी ज्ञान से आगम के आधार से किया हुआ स्वरूप का निर्णय भी आत्मस्वरूप के महिमा - रस - रुचि - पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर सकता।**' इसलिए जितना परिश्रम और समय व्यतीत किया वह सारा निष्फल ही है, इसका कोई फल नहीं आता। और तो और अगर दूसरे दुर्गुण में खींच जाए तो नुकसान होगा वह मुनाफे में !! इसमें लाभ तो है ही नहीं, ऐसा कहना है। यहाँ तक रखते हैं।

४ दि. २३-०२-१९९०

`सुविधि'में से स्वलक्ष और परलक्ष का विषय चला। तत्त्व का अभ्यास स्वलक्षीज्ञान से हो और परलक्षी ज्ञान से न हो यह जरूरी है, आवश्यक है। यहाँ स्वलक्षीज्ञान मतलब जब तक भावभासनपूर्वक (स्वरूप) लक्ष नहीं हुआ है तब तक अपने हित-अहित के लक्ष से, शुद्धि-अशुद्धि के लक्ष से अथवा आराधना-विराधना के लक्ष से खुद को लाभ-नुकसान कितना है, यह समझने में जिसका लक्ष है, उसको यहाँ पर `स्वलक्ष' कहते हैं। सम्यक्‌दृष्टि को तो नियम से स्वलक्षी परिणाम ही होते हैं। इतना ही नहीं, भावभासन हो - सम्यक्‌सन्मुख हो तब भी स्वलक्षी परिणाम होते हैं, क्योंकि बाद में आत्मा का लक्ष छूटता नहीं। उस भूमिका तक पहुँचने के लिए इसके साथ सुसंगत पूर्वभूमिका का प्रकार कैसा (होता है) ? (यह समझने के लिए) यहाँ इसकी भी समीक्षा की गई है।

स्वलक्ष मतलब अपने हित को लक्ष में रखता है। हित को लक्ष में रखता है तो वह कैसे ? कि, शास्त्र वांचन या श्रवण के समय खुद को लागू पड़ता हो ऐसा उपदेश आये तब उस विषय में उसका ध्यान जाए। यदि परलक्षी विचारणावाला होगा तो ऊपर से चला जाएगा या दूसरे के बारे में ऐसा विचार करेगा कि,

फ़लाने-फ़लाने को ऐसी भूल होती है। इस प्रकार जो दूसरों के लक्ष से विचार करता वह नुकसान का कारण है। खुद को जो काम का हो वह ले। खुद जो नहीं समझता होगा वहाँ बराबर ध्यान देगा कि, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी थी, मेरे ध्यानमें से छूट गई थी, यह बात का पता नहीं था' - (इस प्रकार) जब खुद के लक्ष से, खुद को लक्ष में रखकर स्वाध्याय होता है तब इसमें से गुण उत्पन्न होने का अवसर आता है। ऐसा नहीं हुआ तो परलक्षीज्ञान तो अनादि से चालू ही है। उस परलक्षीज्ञान में तो शास्त्र पढ़कर भी अवगुण उत्पन्न करेगा। ऐसी परिस्थिति होगी।

अपने हित का कामी खुद की जाँच करता है - देखता है - अवलोकन करता है। वरना वैसे तो सब कहेंगे कि, हमारी कामना तो है ही न ! हमारी भावना न हो ऐसा कैसे बने ? वरना हररोज़ चलाकर के यहाँ आयेंगे ही क्यों ? परंतु ऐसा नहीं है। जिसको सच्ची भावना है वह अपने हित-अहित को सतत लक्ष में रखता है, देखता जाता है, जाँच करता जाता है, अवलोकन करता जाता है कि मेरा हित कैसे हो ? किस प्रकार हो ? अथवा यहाँ पर जो पहला बोल लिया है कि, `**स्वलक्षीज्ञान ही प्रतीति को उत्पन्न कर सकता है,...**' तो यहाँ स्वलक्षीज्ञान प्रतीति को कैसे उत्पन्न कर सके ? कि, उसको अपने परिणाम के अवलोकन दौरान यदि दुःख मालूम हो तब उसे विश्वास आता है कि, कहनेवाले सत्य हैं। यानी कि स्वलक्षीज्ञान में जाँचपूर्वक - अपने परिणामों की जाँच करके यह निर्णय होता है कि, कहनेवाले प्रामाणिक हैं, कहनेवाले सत्य कह रहे हैं और मेरे परम हित की बात कहते हैं। मेरे परम हित की बात कहते हैं, यह (खुद) जब अहित से बचता है तब उसे समझ में आता है।

जगत में भी जो आदमी मदद करता है - उपकार करता है उसके प्रति स्नेह भाव रहता है कि नहीं ? कि इस आदमी ने हमें सही वक्त पर मदद की थी इसलिए उसका उपकार तो जितना माने उतना कम है या हमलोग अभी जितनी भी अच्छी स्थिति में हैं इसमें कारण तो यह व्यक्ति है। यहाँ पर भी खुद अहित से बच जाए ऐसा वचन जब कहनेवाले से मिलता है तब उसको विश्वास आता है, उस बात पर विश्वास आता है, उस विषय पर विश्वास आता है। यानी कि उसका दर्शनमोह जो है वह वहाँ मंद होता है। कहनेवाले पर जो विश्वास है और वह भी अपने अनुभव के साथ मिलान करके स्वलक्षीज्ञान में (विश्वास) पैदा होता है तब उसको प्रतीति आती है कि, कहनेवाले सत्य हैं ! ऐसी प्रतीति उसको आती है। यह प्रतीति जो है वह अभी तो ज्ञान की ही पर्याय है, (परंतु उसमें) जब विश्वास आता है तब उसका दर्शनमोह सत्य का स्वीकार होने पर अधिक से अधिकतर कमज़ोर होता है, इसलिए वह श्रद्धा को पलटा देता है।

स्वलक्षीज्ञान मिथ्याश्रद्धा को पलटाकर सम्यक्श्रद्धा (प्रगट करने में) समर्थ है। परलक्षीज्ञान (मिथ्या)श्रद्धा को पलटाकर सम्यक्श्रद्धा प्रगट नहीं कर सकता। चाहे कितना भी उघाड़ हो - ग्यारह अंग व नौ पूर्व तक का (उघाड़) हो और भूलरहित दिखता हो तो भी। यह बोल श्रद्धा की अपेक्षा से लिया है।

प्रश्न :- स्वलक्षीज्ञान का विषय तो पर है न ?

समाधान :- नहीं। स्वलक्षीज्ञान का विषय है अपने भावों का अवलोकन करना, जाँच करना और नक्की करना। भले ही उसको स्वरूप लक्ष में नहीं आया हो किन्तु अपने परिणामों की जाँच तो कर सकता है। अपने भावों की जाँच तो कर सकता है न ! इसलिए उसको विश्वास आता है कि, ये जो कह रहे हैं वह बराबर है। विश्वास कब आता है ? देखने से विश्वास आता है। किसी वस्तु को देखकर जो विश्वास आता है वह बिना देखे नहीं आता। जिसप्रकार अनुभव में - सम्यग्दर्शन में आत्मा प्रत्यक्ष है तो चौदह ब्रह्मांड में खलभली हो जाए तो भी उसके अनुभव में उसे शंका नहीं उठती। क्योंकि अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष हुआ है। यहाँ पर भी ये सारी बातें भी प्रत्यक्षता के अनुसरणवाली है कि, मेरे परिणाम मुझे प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। अनुभव कभी परोक्ष नहीं होता। जानने का परोक्ष होता है, वेदन परोक्ष नहीं होता। वेदना होती है वह कोई परोक्ष होती है क्या ? वेदना साक्षात् ही होती है। यहाँ जीव अपने अनुभव को देखकर विश्वास करता है। इसलिए उसका विषय पर नहीं, परंतु स्व है।

श्रोता :- बार-बार परिणामों का अवलोकन करे तो ही यह बात समझ में आये ऐसी है।

पूज्य भाईश्री :- तो ही उसको सत्य समझ में आता है। वरना जीव को परिणाम का विषय (समझ में नहीं आता)। शास्त्र में मुख्यतया तो परिणाम का विषय चलता है। अब यदि अपने परिणामों से इस बात का मिलान नहीं करता जाएगा, अंदर देखता नहीं जाएगा कि ऐसा है या नहीं ? तो (उसे पता कैसे चलेगा कि) श्रद्धा के परिणाम कौन से ? ज्ञान के परिणाम कौन से ? कषाय-विभाव के परिणाम कौन से ? यह सब कैसे पता चलेगा ? इन सबको पहचानेगा कैसे ? पहले तो पहचान होती है न ?! बाद में सम्यक्श्रद्धा होगी।

'टोडरमल्लजी' ने दृष्टांत लिया है कि, जैसे कोई संगीत का विद्यार्थी संगीत सीखता है तब वह अनेक प्रकार के राग-रागिणी, छंद (और) इसकी मात्रा आदि का अभ्यास करता है। 'अनुष्टुप'

छंद में एक पद में २३ मात्रा होती हैं, `शार्दुलविक्रीडित' में ३६ मात्रा होती हैं, `मंदाक्रांता' में २८ मात्रा होती हैं, इत्यादि... इत्यादि। अब अगर कोई राग बज़ रहा है तो तब उसे पता न चले कि, कौन-सा राग बज रहा है; वह राग चलता हो तब सुनने से पहचान न सके परंतु मात्राओं का ज्ञान हो, तो वास्तव में उसको तत्संबंधित सच्चा ज्ञान नहीं है, सिखा है तो भी ! (हालाँकि) दूसरा कोई जीव यह तो नहीं सिखा कि किस छंद में कितनी मात्राएँ होती हैं परंतु वह राग सुनते ही तुरंत बता सकता है कि, यह कौन-सा राग चल रहा है तो बिना सीखे भी उसका ज्ञान सही है। पहलेवाले का पढ़ाई किया हुआ ज्ञान गलत है।

इस प्रकार स्वभाव-विभाव की अनेक बातें शास्त्रों में आती हैं। उन बातों में न्यायादि सब समझ सके। नयार्थ, भावार्थ, शब्दार्थ (सब समझ सके)। परंतु उन भावों को पहचान न सके कि, मेरे में यह कौन-सा भाव चलता है ? `आस्रवतत्त्व' लिया। देखिये ! आस्रव मतलब आना। विभावभावों के आगमन को आस्रव कहते हैं। अब विभावभावों की उत्पत्ति हो तब उसका आगमन क्यों होता है, यह यदि (अपने भावों से) मिलान करके नक्की न करे, यानी कि इस तरह यदि अपने भावों को समझने का प्रयत्न न करे तो आस्रव की व्याख्या तो सीख लेगा किन्तु आस्रव को पहचान नहीं सकेगा। ऐसी परिस्थिति होगी।

शास्त्र पढ़कर, समझकर जीवों को ऐसा भ्रम जरूर होता है कि, हम सब समझते हैं, हमें सब पता है। परंतु उन्हें अपने किसी भी भावों की पहचान नहीं होती है। इसलिए वह चाहे जितना पढ़ ले, चाहे जितना कंठस्थ कर ले तो भी उसकी मिथ्याश्रद्धा पलटकर सम्यक्श्रद्धा नहीं हो सकती। चाहे कितने ही समय तक अभ्यास

करता रहे।

प्रश्न :- इसीको धारणाज्ञान कहते हैं ?

समाधान :- हाँ, कोरी धारणा कहते हैं। धर्मात्मा को धर्म की धारणा है, धर्म को धारण कर रखा है। (जबकि) यह तो कोरी धारणा है।

यह पहला बोल हुआ कि, जैसे राग द्वारा विपरीत श्रद्धा को पलटाया नहीं जा सकता वैसे ही परलक्षीज्ञान भी सम्यक्श्रद्धा को उत्पन्न करने में असमर्थ है अथवा समर्थ नहीं है। अतः इस प्रश्न का उत्तर आ जाता है कि, काफ़ी समय से तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने पर भी क्यों सम्यक्श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई ? कि, इसका कारण यह है कि, जितना भी अभ्यास किया वह सब परलक्षी परिणाम से किया है। स्वलक्षी परिणाम से किया होता तो ऐसा नहीं बनता।

यह तो ऐसा मार्ग है कि, तलवार हो और सामने ककड़ी हो तो काटे कि नहीं काटे ? (ऐसा कोई पूछे तो ?) तो ककड़ी तो तलवार से कट ही जाएगी न ! चाकू से जो कट जाए उसे तलवार तो काटे ही काटे ! वैसे यह मार्ग असिधारा समान है !! खुद का काम होगा, होगा और होगा ही। नहीं हो वैसा नहीं बनता - नियम से (होगा ही)। यदि सही रास्ते पर चढ़ा तो सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म प्रगट होगा, होगा और अवश्य होगा। नहीं होने का सवाल नहीं। अगर रास्ता दूसरा होगा तो अनंतकाल में भी नहीं होगा - यह सीधी बात है। विचारणीय विषय तो यह है। रास्ता सही हो तो काम होने में भीतर से परमात्मा मदद करता है। जो परमात्मतत्त्व है और उसका स्वभाव शुद्धत्वरूप परिणमन करने का है। अशुद्धतारूप परिणमन करने का उसका स्वभाव नहीं है। इस स्वभाव को `कुंदकुंदाचार्यदेव' ने `नियमसार' में एक और

विशेषण दिया - उसे `कारणपरमात्मा' कहा। वह तो तेरा `कारण' है, कारणरूप सदा मौजूद है। तूने अनंतकाल से इसकी उपेक्षा की फिर भी उसने अपनी अनंत करुणा नहीं छोड़ी ! परमात्मा ने अपनी अनंत करुणा नहीं छोड़ी। (सदा) हाज़िर है, सिर्फ हाज़िर है इतना ही नहीं, तेरा दरवाज़ा खटखटा रहा है - `खोल़ तेरे किवाड़ को !' `ये तेरा किवाड़ खोल !' तो तुझे सीधा दर्शन हो सकता है। अज्ञान और मिथ्यात्व (दोनों) किवाड़ ऐसे तो बंद किये हैं और ऊपर से तीव्र विभावरस का अरगल मारकर ताला लगाकर चाबी खो दी है, अब ढूँढ़ रहा है कि यह कैसे खुले ? ऐसे तो कोई पता लगनेवाला है नहीं। अतः थोड़ा देर-सबेर हो उसमें इतना हरज़ा नहीं है परंतु थोड़ा भी सही होना चाहिए। ज्यादा होना जरूरी नहीं है, थोड़ा ही हो इसमें इतना हरज़ा नहीं है परंतु जितना भी हो सत्य ही होना चाहिए। मार्ग में भूल नहीं होनी चाहिए। जो मार्ग में भूल खाता है उसका कभी पता नहीं खाता। फिर उलटे रास्ते पर सब उलटे स्टेशन ही आते हैं।

दूसरा (मुद्दा) `**स्वलक्षीज्ञान गुण को / स्वभाव को साध सकता है परंतु परलक्षीज्ञान विकल्पवृद्धि में परिणमता है...**' स्वलक्षीज्ञान गुण-दोष की जाँच रखता है और (उसमें) गुणग्राही दृष्टिकोण होने से, स्वलक्षीज्ञान में गुणग्राही दृष्टिकोण होने से, और गुण-दोष की जाँच में प्रवृत्ति होने से स्वभाव-गुण को साधता है। अगर ऐसा स्वलक्षीज्ञान न हो तो केवल परलक्षीज्ञान काफ़ी शास्त्रों को पढ़कर भी विकल्प वृद्धि में परिणमता है। उसके विकल्प बढ़ जायेंगे कि, इसका ऐसा होगा, इसका वैसा, निश्चयनय से ऐसा है, व्यवहारनय से ऐसा है, इससे ऐसा... इससे वैसा... ऐसे विकल्पों की श्रृंखला बढ़ जाएगी।

वास्तव में तो सभी नय - सर्व नय, सभी नय या सर्व नय

जीव को नयाधीशरूप आत्मा की ओर ले जाते हैं, आकर्षित करते हैं कि, जो निर्विकल्प तत्त्व है। (अतः) वास्तव में तो नय विकल्प मिटने का साधन है। इसके बज़ाय नयज्ञान का अभ्यास करके यदि जिव के विकल्प बढ़ जाये तो समझना कि अवश्य वह किसी उलटे रास्ते पर चढ़ गया है - यह सिद्ध होता है, साबित होता है। इसलिए उसे `इन्द्रजाल' बतायी है। वह नयों की इन्द्रजाल में उलझ गया। ऐसी परिस्थिति परलक्षीज्ञान में होती है। - यह प्रत्यक्ष देख सके ऐसी बात है।

(इसलिए ऐसा कहा कि) `**(परलक्षीज्ञान) विकल्पवृद्धि में परिणमता है या प्रायः शास्त्रीय अभिनिवेश आदि दोषों को साधता है।**' गुणों को साधने के बज़ाय `मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ' - ऐसा शास्त्र संबंधित अभिनिवेश (उत्पन्न होता है)। इसका मतलब कि उसे शास्त्र का ज्ञान आत्मार्थ में उपयोगी न हुआ परंतु अपनी महत्ता बढ़ाने में, मान कषाय के पोषण हेतु इसका उपयोग किया। वह अहंपनारूप दोष को साधता है और यह अनिवार्य है। (जीव) पर्यायदृष्टि है इसलिए पर्याय पर ज़ोर तो है ही, अतः पर्याय की महत्ता आने से इसमें से अवगुण की उत्पत्ति हुए बिना रहेगी नहीं।

तीसरा (मुद्दा) `**स्वलक्षीज्ञान अनुभव में आ रहे भावों की गहराई में जाता है,...**' अपने भावों के वारंवार अवलोकन से और अवलोकन का ऐसा अभ्यास काफ़ी चलने पर इसकी गहराई उसके हाथ लगती है कि इसमें क्या-क्या है ? विभावभावों में क्या-क्या है ? स्वभाव में क्या-क्या है ? `**जिससे स्वभाव-विभाव जाति की परख होने की...**' पहचान होने की `**क्षमता उत्पन्न होती है...**' (यानी कि) आस्त्रवभाव इसको कहते हैं, राग इसको कहते हैं, आस्त्रव का अटकना माने क्या ? शुद्धि की वृद्धि मतलब क्या ? निर्जरा क्या ? इन सब

की भावात्मक पहचान स्वलक्षीज्ञान के बिना नहीं होती। (सिर्फ) व्याख्या सीख लेने से कोई ज्ञान नहीं हो जाता परंतु अपने भावों की हमें पहचान होनी चाहिए। '**स्वभाव-विभाव जाति की परख होने की क्षमता...**' क्षमता मतलब इतनी शक्ति अथवा योग्यता उत्पन्न होती है।

'**परंतु परलक्षीज्ञान तो स्थूलरूप से ऊपर-ऊपर से प्रवर्तन करके मात्र धारणा करता है।**' परलक्षीज्ञान में धारणा से ज्यादा कुछ हो नहीं सकता और भावों की परख के अभाव में थोड़ी-सी शांति होते ही ऐसा लगेगा कि 'मुझे ज्ञान के कारण शांति हुई !' जैसे किसी बात पर समाधान करे (और) कषाय मंद हो तब उसको थोड़ी शांति होती है। शांति होती है तब लगता है कि, (मुझे ज्ञान के कारण शांति हुई)। या तो ध्यान करेगा, ध्यान में बैठकर आत्मा के स्वरूप का विकल्प करे इसमें शांति हो (तो) तब लगेगा कि 'मुझे आत्मा की शांति प्रगट हुई !' जबकि (वास्तव में तो) उसे भावों की पहचान नहीं होने से वह विभाव को स्वभाव मानकर विभाव की आराधना करने लग जाता है। कषाय की जो मंदता हुई व शुभभाव हुआ उसको ही वह उपादेय करने लगता है। यानी कि जो हेय है उसे उपादेय किया। (फिर तो) रास्ता उलटा पकड़ा या सुलटा ? उलटे रास्ते पर चढ़ गया।

श्रोता :- जाति को पहचाने तो पता चले ?

पूज्य भाईश्री :- जाति की पहचान होगी तो कोई भी भाव चाहे किसी भी वेष में आयेगा (फिर भी) वह विभाव को विभाव के खाते में ही डालेगा। विभाव को भूल से भी स्वभाव के खाते में नहीं खतायेगा, खतौनी में भूल नहीं होगी। इस तरह स्वलक्षीज्ञान और परलक्षीज्ञान में यह फ़र्क पड़ता है।

स्वलक्षीज्ञान के साथ प्रतीति आने पर यानी कि 'ऐसा ही है' ऐसी प्रतीति आने पर स्वरूपनिर्णय होता है, विश्वास आने पर जीव को स्वरूप में स्थिर होने की शक्ति भी उत्पन्न होती है। जबकि परलक्षीज्ञान विशाल क्षयोपशमरूप होगा तो भी इससे उपयोग में स्वरूप स्थिरता नहीं आ सकेगी। चाहे अंग-पूर्व का शास्त्रज्ञान हो तो भी स्वरूप स्थिरता एक समय के लिए भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि उस ज्ञान की दिशा ही पर की ओर है जबकि स्थिरता में तो अंतर्मुख होकर स्थिर होना है। अतः परलक्षीज्ञान में स्थिरता प्राप्त होने का अवकाश नहीं है। स्वलक्षीज्ञान में प्रतीति आने पर बल आता है। लक्ष के कारण ज़ोर उत्पन्न होता है, प्रतीति के कारण ज़ोर उत्पन्न होता है, जिससे स्वरूप में स्थिरता हो सकती है।

प्रश्न :- स्थिरता मतलब ?

समाधान :- स्थिरता मतलब शुद्धोपयोग। स्वरूप में स्थिर होने का अवसर किसको आता है ? स्वलक्षीज्ञानवाले को आता है। परलक्षीज्ञान में अंग-पूर्व का ज्ञान हो तो भी स्वरूप स्थिरता का अवसर नहीं आता। स्वलक्षीज्ञानवाला स्वरूपस्थिरता को पाने में सक्षम बनता है। परलक्षीज्ञानवाला कभी इसके योग्य नहीं होता।

श्रोता :- ग्यारह अंग, नौ पूर्व के अभ्यास में क्या यह प्रकरण छूट जाता होगा ?

समाधान :- नहीं, इसकी दिशा उलटी है। दिशा उलटी है (मतलब) अपने भावों को नहीं पहचानता है। 'समयसार' की १५४ गाथा में द्रव्यलिंगी का विषय लिया है।

श्रोता :- ग्यारह अंगवाले को क्या याद करना ? ४० साल से हम सुनते हैं फिर भी हमारा हाल क्या है ?!

पूज्य भाईश्री :- बात तो ऐसी ही है। भावों की पहचान होती तो (भूल नहीं खाते)। अग्नि से हाथ जलता है तो भूल से भी सुलगते हुए अँगारे पर हाथ चला जाये तो क्या विकल्प करना पड़ता है कि हाथ ले लूँ या रहने दूँ ? जलन हो तो वहाँ से हटने में देर लगती है क्या ? तो कषाय में जलता है, इसमें जलन है, इसमें कषाय की अग्नि है जिसकी पहचान नहीं है, उलटा कषाय की मंदता में शांति का अनुभव करता है।

श्रोता :- जल रहा है फिर भी शांति मानता है !

पूज्य भाईश्री :- जलन होने पर भी शांति मानता हो वह कब छोड़ेगा इसे ? इसमें मूर्खता तो कैसी होती है ? कि, आग लगे तब कोई ऐसा कहे कि, 'मेरे में ज्योति का प्रवेश हुआ !' अरे ! जल जाएगा, भाई ! कपड़े में आग लगे, ज्वाला उठे उसवक्त ऐसी कल्पना करे कि, मेरे में तो ज्योति का प्रवेश हुआ ! (तो) मर जाएगा ! हो जाएगा जलकर भस्म ! यह ऐसा है। 'अनुभव प्रकाश' में 'दीपचंदजी' ने दृष्टांत दिया है।

यहाँ ('समयसार' की १५४ वीं गाथा में लिया है), कैसे हैं जीव ? कि, '**दुरंत कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण...**' देखो ! कैसा शब्द इस्तेमाल किया है ! '**परमार्थभूत ज्ञान के अनुभवमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए,...**' सामायिक में स्वरूप में स्थिरता हो ऐसी स्थिरता तो नहीं होती परंतु '**जिनके अत्यंत स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं...**' यानी कि पापकर्मों को छोड़ा है '**और अत्यंत स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं...**' वह भी अत्यंत स्थूल भाव है। विशुद्ध मतलब यहाँ शुभभाव। '**ऐसे वे, कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्ति मात्र से ही संतुष्ट चित्त होते हुए भी,...**' यह दोष है। 'मुझे अभी

शांति है, सामायिक करके बैठता हूँ उतनी देर मुझे शांति होती है।' - ऐसे '**संतुष्ट चित्त होते हुए भी, स्वयं स्थूललक्ष वाले होकर...**' अथवा परलक्षवाले होने से '**समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते। इसप्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभकर्म को ही बंध का कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि...**' इत्यादि में शास्त्र स्वाध्याय ले लेना। (ऐसे) '**शुभकर्मों को बंध का कारण होने पर भी उन्हें बंध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं, - मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।**' वे शुभपरिणाम में रत रहते हैं। इस प्रकार वे बंध के हेतु को मोक्ष के हेतुरूप मानकर सेवन करते हैं। बंध के हेतु का मोक्ष का हेतु मानकर सेवन करते हैं। (अब) ऐसे तो कब मोक्ष होगा ? कि, किसी काल में नहीं होगा। १५४ (गाथा में) यह बात ली है।

श्रोता :- इतना-इतना अभ्यास होने के बावजूद भी ऐसी भूल रह जाती होगी !

पूज्य भाईश्री :- अभ्यास में ऐसा है कि, एक स्वलक्षी अभ्यास शुरू करते ही जो रास्ता है वह हाथ (लग जाता है), (इसकी) सूझ आती है। परलक्षीज्ञान में चाहे कितना भी अभ्यास क्यों न कर ले, अभ्यास बहुत दिखे फिर भी उसका परिणाम नुकसानी में आता है, फायदे में नहीं आता परंतु नुकसानी में आता है।

प्रश्न :- अपने यहाँ पूजा-पाठ आदि होते हैं उसमें स्वलक्ष कैसे रखना ?

समाधान :- उसमें भी कुछ तत्त्वज्ञान गूँथा हुआ है। हमारे यहाँ पूजा आदि में तत्त्वज्ञान की अमुक बातें गुंफित हैं, तो इसमें तब तथारूप भाव आने चाहिए। जैसे कि हमलोग 'नैवेद्य' चढ़ाते हैं।

नैवेद्य क्यों चढ़ाते हैं ? यह अर्घ चढ़ाते हैं न ! (तो कहते हैं कि,) क्षुधारोग का नाश हो इसलिए। अब क्षुधा है वह रोग है यह बात क्या दुनिया में प्रसिद्ध है कि, क्षुधा भी रोग है ? यदि भूख ठीक से लगे उसे तंदुरस्ती गिनी जाती है। क्या गिना जाता है ? दुनिया में तो (ऐसा माना जाता है कि) अगर भूख ठीक से लगे तो तंदुरस्ती गिने और भूख न लगे तो रोग है ऐसा गिनते हैं। लेकिन वीतरागीविज्ञान में बात कुछ और है। वह तो कहता है कि, क्षुधा है वह जीव को रोग है। अनआहारी आत्मा जो है वह परमाणुओं का आहार कर ही नहीं सकता। अनाहारी आत्मा को आहार की इच्छा उत्पन्न होना ही उसका रोग है, ऐसा कहना है। ऐसी इच्छा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। हमें भाव तो पकड़ना चाहिए न ! सिर्फ बोलने की बात थोड़ी है ? विकल्प और बोलना यह आत्मा की क्रिया नहीं है। हमारे ज्ञान में यह बात आनी चाहिए।

हरएक संप्रदाय भगवान की दिव्यध्वनिमें से अलग होकर शुरू हुए हैं। फिर चाहे वेदांत हो या दूसरे कोई भी संप्रदाय हो। अतः कोई न कोई बात तो उनलोगों ने आत्मा संबंधित रखी ही है। हालाँकि दूसरी-दूसरी गड़बड़ काफ़ी हैं। अतः मिलावट करनेवाले की दुकान पर माल लेने जाना कि नहीं जाना, यह हमें नक्की करना है। बाज़ार में सोना लेने जाते हैं न ? तब ऐसा विचार करते हैं क्या ? कि पैसा भले ही सोलह आने का ले लें और दे पंद्रह आने, साढ़े पंद्रह आने, कोई बात नहीं। ऐसे ले लेता है कोई ? भाव तो शुद्ध सोने का ही लगेगा। शुद्ध सोने की ईंट का इतना भाव है। अब इसमें पूरा पैसा देकर कोई कम कीमत का दे दें तो खुद स्वीकार करने को तैयार है ? वैसे खुद को समय और शक्ति का खर्च तो करना ही है तो फिर जहाँ परम सत्य हो वहाँ समय और शक्ति का खर्च करें ? कि या फिर दूसरी गड़बड़ जहाँ हो वहाँ जाना ? ऐसा है। सच्चा व्यापारी तो पैसे की बराबरी में पूरा माल लेगा। थोड़ा बेशी लेना चाहेगा (लेकिन) कम तो लेगा ही नहीं। ज्यादा देने को कहेगा किन्तु कम लेगा क्या ? फिर भले ही दो रुपये प्रति किलो भाजी ही क्यों न हो ? फिर भी कहेगा तौल में ज्यादा दीजिये, भाई ! कम नहीं होना चाहिए ! थोड़ा-सा कम होगा तो भी दो-चार पैसों का फर्क पड़ेगा, कितना पड़ेगा ? फिर भी ऐसा कहेगा कि, ज़रा ठीक से तौल कर ! वहाँ पैसे का लाभ-नुकसान जीव को (बराबर) दिखता है। आत्मा भावों (के फल) में किस गति में चला जाएगा इसका विचार तक नहीं करता है कि, अगर रास्ता चुक गया तो मेरी गति कौन-सी हो जाएगी ? तिर्यंच गति का पेट बड़ा है और निगोद का काल बड़ा है। रास्ता अगर भूला तो स्टेशन तो वही आयेंगे। इसलिए थोड़ा देर-सबेर हो इसका इतना हर्जा नहीं है (परंतु) रास्ता सही होना चाहिए। सही रास्ता मिलने के बाद ज्यादा देर लगनेवाली है भी नहीं। इसकी चिंता नहीं करनी पड़ेगी।

श्रोता :- समय और शक्ति का व्यय होगा।

पूज्य भाईश्री :- अपनी शक्ति का जितना खर्च करे उतना इसके बदले में मिलता है कि नहीं ? यह जाँच करनी चाहिए कि नहीं करनी चाहिए ?

(यहाँ कहते हैं कि) '**स्वलक्षीज्ञान में हुआ आत्मस्वरूप का निर्णय स्वरूप की अनन्य रुचि, अंतर्मुखी पुरुषार्थ का बल एवं अपूर्व चैतन्यरस (-स्वरूपमहिमा की वज़ह से उत्पन्न हुआ) उत्पन्न करता है।**' - जिसको निर्णय होता है उसको ये तीन बात तो साथ ही साथ उत्पन्न हो जाती हैं। स्वलक्षीज्ञान से ही स्वरूप का निर्णय होता

है। क्योंकि जीव ने अपने ज्ञान के अनुभव पर से स्वभावजाति को पकड़ लिया। अनुभव में आ रही जो ज्ञान की पर्याय, उस ज्ञान की पर्याय पर से - स्वभावअंश पर से उसने पूरे अंशी को निर्णय में लिया। (स्वरूप) निर्णय में आया है इसके लक्षण कौन से ? इसकी वास्तविकता क्या है ? (तो कहते हैं) कि, उसको अनन्य रुचि पैदा होगी। स्वभाव की इतनी रुचि होगी कि वह स्वभाव से दूर रह सके ही नहीं, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी। `रुचि अनुयायी वीर्य' (इस सिद्धांत अनुसार) उस बल भी उतना ही प्रगट होगा। क्योंकि अनंत वीर्य की खान खुद ही है तो ज़ोर भी अंदर से ही आयेगा। और स्वयं के महिमा के कारण आत्मा का रस - आत्मरस - चैतन्यरस भी उसे उत्पन्न होगा। वहाँ से परिणति हो जाती है। स्वरूपनिर्णय होते ही जीव को चैतन्यरस की परिणति हो जाती है।

**`परंतु परलक्षीज्ञान से आगम के आधार से किया हुआ स्वरूप का निर्णय भी आत्मस्वरूप के महिमा-रस-रुचि-पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर सकता।**' यह (बात) प्रत्यक्ष है कि, `गुरुदेव' जैसे समर्थ पुरुष आत्मा दिखाते हैं, चारों पहलुओं को स्पष्ट करके कहते हैं। खुद को ऐसा लगता भी है कि मुझे समझ में आ रहा है, फिर भी प्रश्न करता है कि, पुरुषार्थ कैसे करना ?! महिमा कैसे करना ? जबकि समझ में आया हो तो पुरुषार्थ भी चलेगा और महिमा भी आयेगी, उसे रोका न जा सके ऐसी परिस्थिति है। परंतु समझ में आ गया - ऐसा एक भ्रम होता है। वास्तव में समझ तो नहीं हुई है किन्तु माना है कि समझ में आ गया। यहाँ तक तो कल चला था।

अब (आगे), परिणाम में स्वलक्षीज्ञान में विभावरस टूटने की, फ़ीका होने की प्रक्रिया कैसे बनती है, उस पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण (से

प्रतिपादन किया) है। `**जीव के परिणमन के विज्ञान अनुसार परिणाम की शक्ति उसमें...**' यानी कि उस परिणाम में `**रहे हुए रस में मौजूद है।**' हयात है अथवा व्यक्त है। परिणाम का बल कहाँ है ? कि, परिणाम के रस में। जगत में भी ऐसा कहा जाता है कि, जिसको जिस विषय में रस पड़ता है उसमें वह प्रविण होता है, कुशल होता है, निपुण हो जाता है।

`मुंबई' से एक होमियोपैथी के डॉक्टर आये थे। उनकी उम्र २३ साल की थी। आदमी बहुत दिमागवाला था ! हरएक बाबत की गहराई में जाता था। तब किसीने पूछा `डॉक्टर, छोटी उम्र में बहुत कुछ जानते हैं ! क्या कारण है ?' तो (उन्होंने) कहा `यह तो सीधी-सी बात है न ! जिसको जिस विषय में रस हो उसमें वह निपुणता प्राप्त करता ही है ! यह मेरे रस का विषय है।' उसमें उनकी इतनी कुशलता थी। यह बात तो लोग भी समझ सके ऐसी है। लौकिक में भी यह बात समझ सके ऐसी है कि, परिणाम की शक्ति किसमें है ? इसके रस में है। फिर स्वभावरस हो तो स्वभाव की शक्ति प्रगट है और विभावरस हो तो विभाव की शक्ति प्रगट है। इस पर से हमें उपदेश क्या ग्रहण करना चाहिए ? कि, अगर जीव के परिणाम की शक्ति उसके रस में है, तो इस जीव को विभावरस टूटकर स्वभावरस उत्पन्न हो - यही करने योग्य है। इसमें से हमें लेना है क्या ? कि, विभाव रस तोड़ना चाहिए, विभावरस मिटना चाहिए और स्वभावरस उत्पन्न होना चाहिए। यह इस जीव का कर्तव्य है, तो इसमें स्वभाव की शक्ति प्रगट होगी।

प्रश्न :- विभावरस तोड़ने का प्रयोग क्या है ? कि, जब-जब पर में रस आये तब सावधान होकर पीछे हटे, यही प्रयोग हुआ

न ?

समाधान :- इसमें क्या है कि, रस आता है वहाँ `अपनत्व' सहित रस आता है। खुद को जहाँ कुछ लेना-देना न हो वहाँ जीव को रस नहीं आता। आपके घर में शादी का प्रसंग हो तो इसका हर्ष मुझे नहीं होगा, होगा क्या ? (नहीं होगा) सीधी बात है। अपना हो वहीं ही सबको रस आता है। `अपनत्व' हो वहाँ रस आता है। सीधी बात है। तो वहाँ से `अपनत्व' को हटा लेना है। `मैं तो ज्ञान हूँ', `मैं तो ज्ञानतत्त्व हूँ, यह विभावतत्त्व है सो मैं नहीं' - इसका नाम `भेदज्ञान' है।

`इसलिए विभावरस टूटकर स्वभावरस समुत्पन्न हो यह जीव का कर्तव्य है। विभावरस शुभ तथा अशुभ दोनों समानरूप से आत्मा को प्रतिबंधक है...' ऐसा नहीं है कि, अशुभभाव ज्यादा प्रतिबंध करता है और शुभभाव कम प्रतिबंध करता है। जहाँ तक बात रस के Factor से - रस के मुद्दे से संबंधित है, दोनों एक-से प्रतिबंधक हैं। जीव को आत्मा के प्रति जाने में जितना अशुभभाव का रस रोकता है उतना ही जीव को आत्मा के प्रति जाने में शुभभाव का रस रोकता है। ऐसा होता है। अतः यह बात भी **`-ऐसा अवलोकन बिना अन्य किसी तरीके से अपने को अनुभव में (समझ में) नहीं आ सकता।'** अब, इस बात को (केवल) न्याय से स्वीकार नहीं कर लेनी है, ऐसा कहना है। खुद को जो शुभाशुभभाव चलते हैं उसके अवलोकन द्वारा इसकी गहराई में जाये, इसके रस का अनुभव करे, रस में जो `अपनत्व' होता है उसका अनुभव करे, और उस अनुभव पर से यह समझे कि ये दोनों एक-से प्रतिबंधक हैं। जितना अशुभभाव का रस इस आत्मा को स्वरूप के प्रति झुकने में प्रतिबंधक है, अवरोधक है उतना ही शुभभाव का रस अवरोधक

है। ऐसा जीव को अपने चलते हुए अवलोकन से, अपने भावों के अवलोकन से, अपने अनुभव के अवलोकन से, शुभाशुभ भावों का अनुभव हो इसके अवलोकन से यह बात समझ में आनी चाहिए। तब तो (रस) की मंदता होगी।

**`रस तथा रुचि के परिणाम अविनाभावी हैं,...'** है तो भिन्न-भिन्न गुणों की पर्याय फिर भी रुचि और रस साथ में रहते हैं। जहाँ रस है वहाँ रुचि है (और) जहाँ रुचि है वहाँ रस है। अर्थात् रस और रुचि के परिणाम साथ में होते हैं। `अविनाभावी' मतलब एक साथ ही होते हैं। एक हो वहाँ दूसरा होता ही है, उसे अविनाभावी कहते हैं।

`इसलिये स्वयं की विभाव की रुचि पलटाये बिना; जो कोई जीव ध्यान-योगादि प्रयोग द्वारा उपयोग को बहिर्मुखता से पलटाकर अंतर्मुख करना चाहता है उसे मार्ग की यथार्थ विधि के क्रम की खबर नहीं होने के कारण उस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है।' ये अभी जो चलता है न ? ध्यान व योग की शिविरों के प्रकार। इसमें कभी अंतर्मुख नहीं हो सकेगा, बन ही नहीं सकेगा। क्योंकि विभाव की रुचि में खड़ा है, विभावरस प्रतिबंधक है इससे वह बेखबर है। रुचि को पलटे बिना उपयोग को पलटाना चाहता है, (परंतु वैसे तो) आत्मा का उपयोग - ज्ञानोपयोग कभी भी आत्मा में स्थिर नहीं हो सकता या आत्मा की ओर झुक नहीं सकता। रुचि विभाव की हो और ज्ञान का उपयोग स्वभाव के प्रति झुके (ऐसा) कदापि नहीं बनता, बन ही नहीं सकता - असंभव है, अशक्य है। इस प्रकार मार्ग की यथार्थ विधि के क्रम से जो लोग अनभिज्ञ हैं अथवा इस विषय के विज्ञान से जो बेखबर हैं वे ऐसे कृत्रिम प्रयोग करते हैं और ऐसे कृत्रिम प्रयोग से कुछ साधना साध्य करना

चाहते हैं वे कभी सफल नहीं हो सकते।

`**वैज्ञानिक परिस्थिति ऐसी है कि, प्रथम रुचि को पलटाये बिना उपयोग नहीं पलट सकता।**' आत्मा की रुचि प्रगाढ़ हुए बिना उपयोग आत्मा में एकाग्र हो, ऐसा कभी बन ही नहीं सकता। बिना पहचान रुचि नहीं और रुचि बिना स्वरूपस्थिरता का अनुभव नहीं। ऐसा बन ही नहीं सकता। `**इसलिए इस विज्ञान से अनजाने जीव अविधिपूर्वक उपयोग को पलटाने का व्यर्थ में ही परिश्रम करते हैं,...**' वह प्रयत्न बेकार है। समय और शक्ति का दुर्व्यय है, और कुछ नहीं है। `**उसमें समय और शक्ति का मात्र दुर्व्यय ही होता है।**' और कुछ नहीं होता। और तो और किसी उलटे रास्ते पर चढ़ जाता है। ऐसे योग के प्रयोग करने में कई लोग पागल भी हो जाते हैं, कइयों को चित्तभ्रम हो जाता है, किसी को लगता है कि, `मुझे ऐसा दिखा, मुझे वैसा दिखा ! मुझे तेज़ दिखा और प्रकाश दिखा या ज्योति दिखी !' यह सब भ्रमणाएँ हैं। इसमें कभी भी आत्मस्थिरता संभव नहीं है अथवा अविधि से कार्य करना मतलब गृहीत मिथ्यात्व को साधते हुए इसका फल सम्यक् आये ऐसी चाहत रखने जैसा है। क्योंकि अविधि है वह गलत विधि है उसको सही विधि मान लेना वह गृहीत मिथ्यात्व है। अभी तो जिसको अगृहीत न छूटे उसको भी अनुभव नहीं होता है तो जो गृहीत में पड़ा हो उसको अनुभव होने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। अतः वह तो उलटा अपने स्वरूप से दूर जाता है। अविधि से कार्य करनेवाला जीव अपनी साधना से दूर जाता है, स्वरूप से दूर जा रहा है और मानता है कि, मैं अपने आत्महित का कुछ कार्य कर रहा हूँ, साधन कर रहा हूँ !

`**निजहित की तीव्र भावना के कारण मुमुक्षुजीव जब अवलोकन**

पद्धति में आता है; तब स्वयं के ही चलते परिणाम का जो अनुभव (है), उसे समझने का अभ्यास चलता है।' क्या कहते हैं ? कि, अवलोकन पद्धति में कौन आता है ? या कौन आ सकता है ? (तो कहते हैं कि) जिसको निजहित की तीव्र भावना हो वह। इस विषय पर जब चर्चा चलती है तब कई लोग ऐसा कहते हैं कि, `अवलोकन करना तो है परंतु होता नहीं है, भूल जाते हैं, विस्मृत हो जाता है,' ऐसा कहते हैं। `सब पूरा हो जाये (यानी कि) परिणाम व्यतीत हो जाये बाद में याद आता है कि, इसका अवलोकन करना चाहिए।' इसकी क्या वज़ह है ? कि, जिसको आत्महित की तीव्र भावना होती है उसका तो अवलोकन चले ही, अवश्य चले ही चले। जिसकी आत्महित की भावना पर्याप्त मात्रा में नहीं है उसको अवलोकन करना चाहिए यह पता तो चलेगा लेकिन अवलोकन कर नहीं सकेगा। यह भावना का Metre है।

वैसे तो सब लोग यही कहेंगे कि, `हमें भावना तो है ही ! अपना हित हो ऐसी भावना किसको नहीं होगी ? वरना तो हम इसमें समय व शक्ति क्यों देते ? हमारी भावना है तभी तो यहाँ सुनने आते हैं न !' लेकिन ऐसे काम नहीं चलता। अगर वाकई पर्याप्त मात्रा में भावना होगी तो वह अवलोकन में आयेगा, आयेगा और आयेगा ही, उसे सिखाना नहीं पड़ता - ऐसा कहते हैं। उसे अवलोकन करने का उपदेश नहीं देना पड़ता। फिर भी वह (अवलोकन में) आ जाएगा। तिर्यंच को कौन उपदेश देता है ? जबकि जिसको उपदेश मिलने पर भी अवलोकन नहीं चलता है उसका (कारण) भावना की कमी है। भावना का यह सीधा हिसाब है कि, भावना सच्ची है या भावना झूठी है, ऊपर-ऊपर की है ? अगर ऊपर-ऊपर की भावना होगी (तो) अवलोकन नहीं हो सकेगा। वैसी जागृति

ही नहीं आएगी, अवलोकन में तो जागृति है। अतः जागृति लाये वह भावना। जागृति को उत्पन्न न करे, वह भावना नहीं। भावना हो तो भी उसे भावना न माने। यह एकदम स्पष्ट हिसाब है। एक पाई जितना फ़र्क भी इसमें नहीं चल सकता। बहुत स्पष्ट हिसाब है।

`**निजहित की तीव्र भावना के कारण मुमुक्षुजीव जब अवलोकन पद्धति में आता है;...**' इसलिए वह बात ली। मुमुक्षुजीव अवलोकन पद्धति में आता है तब उसका अभ्यास चलता है, इतना ही नहीं लेकर साथ में कारण भी लिया कि, इस कारणवश अभ्यास चलता है, वरना नहीं चलता। `**मुमुक्षुजीव जब अवलोकन पद्धति में आता है; तब स्वयं के चलते परिणाम का जो अनुभव** (है), **उसे समझने का अभ्यास चलता है।**' `अनुभव' को समझने का अभ्यास (चलता है)। इसका नाम `ज्ञानाभ्यास' है। ज्ञानाभ्यास किसको कहना ? शास्त्र पढ़े उसे ज्ञानाभ्यास कहना ? या अपने परिणाम का अवलोकन करे उसको ज्ञानाभ्यास कहना ? शास्त्र के ज्ञानाभ्यास को उपचार से ज्ञानाभ्यास कहा है। क्योंकि वह निमित्ताश्रित कथन है। इसिलए वहाँ उपचार लागू पड़ता है। वास्तव में वह ज्ञानाभ्यास नहीं है।

`**शास्त्र के निमित्त से निमित्ताश्रित ज्ञानाभ्यास है, जब कि यहाँ...**' `यहाँ' मतलब अवलोकन में `**उपादानआश्रित ज्ञानाभ्यास है।**' यह सच्चा ज्ञानाभ्यास है, जबकि वह (शास्त्र का) ज्ञानाभ्यास उपचरित है और यह उपचार भी तब (कहा जाये) कि जब अवलोकन में निजज्ञानाभ्यास चलता हो तब। वरना शास्त्र का वांचन है वह ज्ञानाभ्यास नहीं है, पहाड़ा रटने की बात है। यह बोलते हैं न ? दो गुना दो = चार, तीन गुना तीन = नौ, चार गुना चार = सोलह, पाँच गुना पाँच = पच्चीस। यह पहाड़ा रटने जैसी बात है, उसमें ज्ञानाभ्यास

नहीं है।

श्रोता :- `सोगानीजी' कहते हैं न कि, दुकान के बहीखाते को पलटता है वैसे यह शास्त्र के पन्ने पलटता है !

पूज्य भाईश्री :- कोई फ़र्क नहीं है। दुकान पर अशुभभाव से बहीखाते के पन्ने पलटता था, अब यहाँ शुभभाव से (शास्त्रों के) पन्ने पलटता है ! एक दुकान बंद करके दूसरी दुकान शुरू कर दी ! दुकान का फल क्या ? कमाई क्या हुई ? संसार परिभ्रमण ! शास्त्र पढ़कर भी संसार परिभ्रमण बढ़ा ले !! ऐसी परिस्थिति होती है।

प्रश्न :- अख़बार पढ़े और शास्त्र पढ़े - दोनों में क्या अंतर रहा ?

समाधान :- एक अशुभ है और एक शुभ है, इससे ज्यादा कुछ नहीं। दोनों दुकान एक-सी हैं। संसार फलने में तो दोनों दुकान एक-सी हो गई। इसलिए यहाँ ऐसी बात (ली) है कि, ज्ञानाभ्यास - तत्त्वज्ञान का अभ्यास किसको कहना ?

`**बारंबार के अवलोकन के दीर्घकालीन अभ्यास से; अवगुण टालने के लक्षवाले जीव...**' यह दृष्टिकोण अपनाया हुआ है कि, मुझे अवगुण नहीं चाहिए। इतना विवेक है, हेय-उपादेय का विवेक है कि, गुण की प्राप्ति करनी है, गुण उपादेय है (और) अवगुण है वह हेय है। ऐसा जीव `**अनेक प्रकार के विभावभाव में...**' ऐसे जीव को अपने अनेक प्रकार के विभावभावों में `**आकुलता का अनुभव होता है...**' यानी कि विभाव में और विकल्प में दुःख है `**-ऐसा अनुभवपद्धति से समझता है।**' शास्त्रपद्धति से नहीं। शास्त्र में कहा है कि, राग है, विकल्प है वह दुःखरूप है। `**अशुचिपना, विपरीतता ये आश्रवोंका जानके। अरू दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव**

करे।' ('समयसार' कर्ता-कर्म अधिकार गाथा-७२) शास्त्र में तो आएगा कि, आस्रव में दुःख है, राग में दुःख है; लेकिन क्या तुझे राग की उत्पत्ति के वक्त दुःख लगता है ? अनुभवपद्धति के बिना, अवलोकन बिना इस दुःख को समझ नहीं सकते।

श्रोता :- भाई, सही पद्धति तो यह हुई कि, शास्त्र पढ़ते-पढ़ते भी अपने परिणाम की जाँच करते जानी चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- जाँच करते ही जाना चाहिए। क्योंकि जिस भाव की बात चल रही है वह तो यहाँ भीतर में चल ही रहा है, तो क्या भीतर में भाव कहते हैं ऐसा अनुभव हो रहा है ? शास्त्र में तो अनुभवी जीवों ने अनुभव की वार्ता अनुभवपद्धति से कही है। शास्त्र की परिभाषा ही ऐसी है। शास्त्र मतलब अनुभव की वार्ता अनुभवपद्धति से अनुभवियों द्वारा कही गई हो उसका नाम शास्त्र। इसके अलावा सब कुशास्त्र। - झूठी पुस्तकें। उन्होंने (शास्त्रकर्ताओं) ने तो अनुभवपद्धति से बात की फिर भी खुद अनुभवपद्धति को छोड़कर कल्पना करे, और अपने अनुभव में आनेवाले भावों की जाँच न करे तो इससे शास्त्र कोई समझ में आ गया है यह बात मानने जैसी नहीं रहती है।

श्रोता :- इसमें जो निर्दोषता लिखी है ऐसी निर्दोषता मेरे में है या नहीं यह बारंबार जाँच करनी चाहिए ?

पूज्य भाईश्री :- निर्दोषता, सदोषता - दोनों का जीव को अवलोकन चलना चाहिए। ज्ञान में निर्दोषता है, विभाव में सदोषता है। एक भाव सदोष है, एक निर्दोष है। एक आत्मभाव है, एक परभाव है। इसतरह स्व और पर को अवलोकन से हमें समझना चाहिए।

स्वपना विभाव में हो रहा है इसलिए दुःख दुःखरूप नहीं लगता

है। अब यदि अवलोकन करे तो ज्ञान और राग दोनों अनुभव में आ ही रहे हैं। दोनों गुण एक समय में परिणमन कर रहे हैं। अतः ज्ञान में स्वपना है और राग में परपना है ऐसा जीव को लगना चाहिए। अनुभव में तो ऐसा आना चाहिए। परंतु अनुभव में ऐसा नहीं आता है मतलब कि, इसमें जो स्वपना है उसका अवलोकन नहीं है। स्वपना अवलोकन में ले तो स्वपना अनुभवगोचर हो। पर है वह पर मालूम हो, और स्व है वह स्व मालूम हो। बहुत सीधी बात है।

श्रोता :- यहाँ विषय के अनुसार विचार करे तो शास्त्र अभ्यास और निज अभ्यास दोनों जरूरी हैं। दोमें से एक भी छोड़ दे तो कार्य नहीं होगा।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, छोड़ने का प्रश्न नहीं है। जिसको अपना निज अभ्यास करना है उसको इस अभ्यास में निपुण खुद से विशेषज्ञ ज्ञानियों, धर्मात्माओं, महात्माओं, आचार्यों क्या कहते हैं, इसके साथ खुद Tally (मिलान) करना तो चाहेगा कि नहीं ? शास्त्र को खुद के परिणमन की साक्षी के रूप में देखना चाहिए कि, ये शास्त्र मेरे परिणमन में (अपनी) गवाही देते हैं कि नहीं ? तब तो मेरा शास्त्रस्वाध्याय उचित है। इस तरह शास्त्र को देखना चाहिए। शास्त्र का अभ्यास इस प्रकार होना चाहिए। वरना खुद को छोड़कर शास्त्र का अभ्यास किया करे - वैसे तो अंग-पूर्व की धारणा करे (तो भी) बेकार है।

'टोडरमलजी' ने लिया है। खास करके चरणानुयोग के शास्त्र संबंधित विषय चला है कि, सम्यग्दृष्टि अपने परिणमन को देखते हैं कि, मेरे आचरण में चतुर्थ गुणस्थान में ऐसे (परिणाम) चले, पंचम गुणस्थान में ऐसे परिणाम चलते हैं, छठे-सातवें गुणस्थान में

ऐसे (परिणाम) चलते हैं। मुनियों आचरण के शास्त्र देखते हैं। मुनियों आचारंग का अभ्यास करते हैं।

खुद का जैसा परिणमन चलता है, यही शास्त्र में भी कहा है - ऐसी गवाही जब (शास्त्र) देते हैं तब खुद को भी विश्वास आता है कि, आगे जो बात महात्माएँ कह गये वह बात परम सत्य है। मेरे परिणमन की वे गवाही देते हैं। यदि ऐसे न देखे तो उसे ग्रंथ का पठन करना भी नहीं आता है। इसलिए (ऐसा कहा कि), '**बारंबार के अवलोकन के दीर्घकालीन अभ्यास से; अवगुण टालने के लक्षवाले जीव को...**' यहाँ मुमुक्षुजीव को लेना है। (ऐसे जीव को) अनेक प्रकार के विभावभावों में जो आकुलता का अनुभव होता है उस आकुलता को वह अनुभव से समझता है, अनुभवपद्धति से समझता है।

'**तदुपरांत उन उन विभावों में निहित किन्तु व्यक्त...**' 'निहित' मतलब जल्दी नहीं दिखती, छिपी हुई '**व्यक्त मलिनता को भी अनुभव से समझता है।**' उसमें मलिनता है। ज्ञान पवित्र है और विभाव है वह मलिन और अपवित्र है। भावों की मलिनता व पवित्रता को वह अनुभव से समझता है। कोई कुटिल परिणाम को देखकर नहीं कहते हैं कि 'बहुत मैले परिणाम हैं। इस जीव के परिणाम बहुत मैले हैं। इसके साथ कोई काम करो तो ज़रा सावधानी रखना, भाई !' ऐसे कहते हैं न ?! वह तो तीव्र मलिनता है इसलिए दूसरे लोग भी समझ जाते हैं। परंतु विष्टा का एक कण हो तो भी मलिन है और पूरा ढेर हो तो भी मलिन ही है। वैसे विभाव का एक कण हो तो भी अपवित्र ही है, मलिन ही है। यह भावों की मलिनता बिना अवलोकन समझ में नहीं आती है। ज्ञान की पवित्रता और विभाव की मलिनता अवलोकन बिना कभी समझ में नहीं आती।

वह एक ऐसी चीज़ है कि, इसकी पहचान हुए बिना वह समझ में नहीं आती। बिना परिचय पहचान नहीं होती (और) अवलोकन बिना परिचय नहीं होता।

इस दुःख और मलिनता का जब पता चलता है तब '**उन-उन भावों की अरुचि पैदा होती है तथा वहाँ से खिसकने की सहजवृत्ति उत्पन्न होती है।**' प्रयत्न की शुरूआत यहीं से हुई (कि), यहाँ से खिसकना। जहाँ मलिनता है, जहाँ दुःख है वहाँ से खुद हटना चाहता है। सहजरूप से ! '**इस प्रकार विभावरस मंद पड़ता है।**' विभावरस ऐसे मंद पड़ता है। '**अवलोकन के अभ्यास में आत्मरुचि के कारण...**' अब अवलोकन का अभ्यास कौन करता है ? (तो कहते हैं कि,) निजहित की तीव्र भावना(वाला)। (यानी कि) आत्मरुचि के कारण (अवलोकन का अभ्यास चलता है)। पहले तीव्र भावना के (सद्भाव) की बात ली थी। यहाँ (कहते हैं कि) '**आत्मरुचि के कारण सूक्ष्म हुए ज्ञान में अपनी विभाव परिणति मुमुक्षुजीव को भास्यमान होती है।**' अब, ज्ञान में यह सूक्ष्मता जो आती है उसका कारण आत्मरुचि है। यह विषय वैज्ञानिक है। रुचि ज्ञान की सूक्ष्मता की उत्पादक है। आत्मरुचि के बिना ज्ञान स्थूल रहता है। यह विषय 'पूज्य बहिनश्री' ने 'वचनामृत' में काफ़ी ज़गह लिया है। कल थोड़ा उसका आधार लेकर विचार करेंगे।

५ दि. २५-०२-१९९०

`सुविधि' का प्रकरण (चलता है)। **`जीव सामान्यतः संसार में अनुकूलता-प्रतिकूलता की मुख्यता में संयोगों से चिपककर प्रवर्तते रहते हैं।'** संसारीजीव का यह एक सामान्य चित्र है। अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलता, वर्तमान अनुकूलता और वर्तमान प्रतिकूलता को जीव सर्वस्व जानकर इसमें एकाकार होता है। (यानी कि) वही जैसे जीवन हो, वही सर्वस्व हो, ऐसे जीव संसार में प्रवृत्ति करता है।

`परंतु आत्मार्थी जीव...' अब ऐसे संसारी जीव से आत्मार्थी जीव कैसे अलग पड़ता है (यह कहते हैं)। नज़दीकी भविष्य में जो मोक्षमार्ग में प्रवेश करनेवाला है वह जीव मिथ्यादृष्टि होने पर भी दूसरे संसारी जीवों के समान ही जिसका पूर्वकर्म का उदय होने पर भी, ऐसे प्रसंगों से उसका भी गुज़रना होता हो फिर भी (दूसरों से) वह कैसे अलग पड़ता है ? (तो कहते हैं कि) **`परंतु आत्मार्थी जीव इस प्रकार में नहीं जाकर के...'** उसे न तो अनुकूलता मुख्य है नाहीं, प्रतिकूलता मुख्य है - उसको सिर्फ अपने आत्महित की मुख्यता है, इसलिए उसे `आत्मार्थी' कहेंगे। आत्मार्थी कहने का कारण ऐसा है कि, उस जीव को मुख्य हो गया है अपना आत्महित। अनुकूलता मुख्य नहीं है, प्रतिकूलता भी मुख्य नहीं है। आत्महित होता हो

तो अनुकूलता को छोड़ने के लिए तैयार है, प्रतिकूलता को सहन करने के लिए भी तैयार है।

`परंतु आत्मार्थी जीव इस प्रकार में नहीं जाकर के उदय में इष्ट-अनिष्टपने से निवतिर्त होने के पुरुषार्थ में लगा रहता है...' यहाँ आत्मार्थी को कैसा प्रयोग चलता है (यह कहते हैं) कि, जगत में कोई पदार्थ इष्ट नहीं है, जगत में कोई पदार्थ अनिष्ट नहीं है ऐसा मैं समझा हूँ, मुझे यह बात न्याय से संमत भी होती है, स्वीकार भी आता है तो अब मुझे वे इष्ट-अनिष्ट लगने भी नहीं चाहिए। अगर मेरी समझ में ऐसा है कि, कोई पदार्थ इष्ट नहीं है, कोई पदार्थ अनिष्ट भी नहीं है, तो अब मुझे (इष्ट-अनिष्ट) लगना भी नहीं चाहिए। मुझे ऐसा लगता है क्यों ? मुझे तो अभी (इष्ट-अनिष्ट) लग रहा है। जो भी अवस्था है (परपदार्थ) की उस अवस्था में मुझे इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। तो अब ऐसा जो हो रहा है इसके साथ अब मेरी लड़ाई है, यह (मेरी) समझ की लड़ाई है। वर्तमान योग्यता के प्रतिपक्ष में जीव को जो नई समझ हुई है कि, कोई पदार्थ इष्ट नहीं है, कोई पदार्थ अनिष्ट नहीं है फिर भी मुझे क्यों ऐसा लगता है ? ऐसा होने का कारण क्या है ? इसमें अनिष्ट क्या लगा ? इसमें इष्ट क्या लगा ? मीठी चीज़ है उसका स्वाद मीठा तो जरूर है परंतु इसमें अच्छा क्या है ? और केवल अच्छा ही होता, एकांतरूप से अच्छा ही होता तो फिर इसका निषेध क्यों आ जाता है ? खाते-खाते `ना' करनी पड़ती है, तब अच्छा था वह कहाँ गया ? अच्छा लगा था उसका क्या ? अब यह आगे जो (बात कही) वह तो युक्ति हुई। खाते-खाते `ना' देनी पड़े यह तो युक्ति हुई, परंतु अनुभव ऐसा क्यों हुआ ? अब अनुभव पर आते हैं। सिर्फ युक्ति से संमत नहीं करना है, अनुभव

से संमत करना है कि ऐसा क्यों होता है ? इसमें कल्पना क्या है ? वास्तविकता क्या है ? (यह देखने जाएगा कि) रस टिकेगा नहीं। इसमें कल्पना क्या और वास्तविकता क्या इस घर्षण में जाते ही `मीठा है सो अच्छा' - यह रस नहीं टिकेगा। वह रस छूट जाएगा, टूट जाएगा।

इस प्रकार अपने उदय में इष्ट-अनिष्ट भाव से निवर्तित होने के पुरुषार्थ में वह लगा रहता है। मुझे इष्टःअनिष्टपना क्यों लगता है ? है नहीं फिर भी क्यों लगता है ? इसके सामने वह आंदोलन छेड़ता है। जगत में कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है फिर भी मुझे तो एक-एक उदय में, प्रसंग-प्रसंग पर, प्रतिक्षण ठीक और अठीक, ठीक और अठीक, ठीक और अठीक भाव होते ही रहते हैं। ऐसा तो हरएक संसारी को होता है। तो अब ऐसे (आत्मार्थी) जीव में फ़र्क क्या पड़ा ? फ़र्क यह पड़ा कि, यह प्रकार वह चलने देना बिलकुल नहीं चाहता। अपने परिणमन में ऐसा प्रकार चला लेने के लिए वह बिलकुल तैयार नहीं है। ऐसा नहीं चलेगा। इसमें मेरे आत्मा का अहित होता है। आत्मार्थी जो है न ? (इसलिए उसको लगता है कि) इसमें मेरे आत्मा का अहित हो रहा है। इसके सामने उसकी कड़ी नाराज़गी है। कड़ी नाराजगी मतलब कभी तो वह खेदखिन्न हो जाता है। इतनी नाराज़गी होती है कि कभी खेदखिन्न हो जाता है, भीतर में दुःखी हो जाता है।

इस तरह आत्मार्थी जीव इष्ट-अनिष्टपने से कैसे निवर्तित हो व ज्ञाता कैसे रहा जाए, इस पुरुषार्थ में - प्रयत्न में लगा रहता है। पुरुषार्थ मतलब यहाँ प्रयत्न में लगा रहता है। कैसा है उसका प्रयत्न ? कि, **`-निजहित की अपूर्व लगनी से...'** साधारण ऊपर-ऊपर से नहीं करता। मेरा हित मुझे कर ही लेना है, इस भव

में करके ही जाना है, न जाने फिर अनंतकाल पर्यंत ऐसा Chance मिले या न मिले ? इसलिए कर ही लेना है और वक्त थोड़ा है। आयुष्य का कुछ अंश तो निकल चुका है या बड़ा हिस्सा तो निकल चुका होता है, चालीस साल बीत गये हो, पैंतालीस साल जिसके निकल गए उसका (तो जीवन का) बड़ा हिस्सा निकल गया। अब जो रहा वह छोटा हिस्सा है। अतः **`- निजहित की अपूर्व लगनी से लगा हुआ होने के कारण वह अवश्य आत्महित साधेगा।'** यह आत्मार्थी जीव दूसरे संसारी जीव की तरह अनुकूलता-प्रतिकूलता के रस में और वैसे परिणामों के प्रवाह में बह नहीं जाएगा, वह तो भीतर में थम जाएगा कि, `नहीं, जगत में कोई (पदार्थ) इष्ट-अनिष्ट नहीं है, आत्मा (तो) ज्ञाता-दृष्टा है, इस आत्मा को भी वैसे ही रहने का प्रयत्न कर्तव्य है।'

अब पीछले पैराग्राफ में जो अवलोकन का प्रकरण चला था कि, (जिसमें) मुमुक्षुजीव आत्मरुचिवश अवलोकन का प्रयत्नवंत होने से ज्ञान में (उसको) अपनी विभावपरिणति भास्यमान होती है। यह भास्यमान होता है इसके अलावा इष्ट-अनिष्टपने के सामने - अपने वैसे परिणामों के सामने उसकी लड़ाई शुरू हुई है। इस प्रकार यहाँ आगे चलते हुए... क्रम से एक-एक बात ली है। **`अवलोकन करनेवाला ज्ञान स्वयं का अवलोकन भी करता है,...'** अब विषय थोड़ा सूक्ष्म होता है। क्योंकि ज्ञान भी यहीं से थोड़ा सूक्ष्म होता है। ज्ञान सूक्ष्म होने का कारण रुचि है। जिसको इष्ट-अनिष्टपने में तीव्र रस हो या राग की व परपदार्थ की तीव्र रुचि हो उसका उपयोग - उसका ज्ञान स्थूल हो जाता है और खास तौर पर अध्यात्मविषय में तो स्थूल हो ही जाता है। जगत के विषय में संभव है विशेष उघाड़ हो, जगत के कार्य करने की विचक्षणता

प्राप्त हो, परंतु आत्मा के हित-अहित के विषय में उसका ज्ञान स्थूल हो जाता है। यह ज्ञान जब सूक्ष्म होता है और सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन चलता है तब **`अवलोकन करनेवाला ज्ञान स्वयं का अवलोकन भी करता है,...'** (यानी कि) ज्ञान अपना अवलोकन भी करता है। अब जब ज्ञान अपने अवलोकन में आया, इस Line पर जब ज्ञान की स्थिति हुई - इस Stage पर जब ज्ञान पहुँचा है तब **`वहाँ प्रथम ज्ञान की व्याप्ति के अनुभव को बारंबार उदय के प्रसंगों में जाँचता है,...'** चिंतन, मनन से हटकर यह Line थोड़ी अलग प्रकार की है। अवलोकन की जो पद्धति है वह अनुभवपद्धति है। अनुभव के लिए अनुभवपद्धति ही सार्थक है। अनुभवपद्धति के अलावा कोई भी पद्धति अनुभव के लिए सार्थक नहीं होती, निरर्थक जाती है।

यहाँ ज्ञान अपने - स्वयं के अनुभव के अवलोकन में आया तब खुद की व्याप्ति कहाँ तक है ? (यह जाँच करता है)। उदय के कार्य हो रहे हैं, उदय के परिणाम भी हो रहे हैं, कोई उदय के कार्य इच्छा के अनुकूल होते हैं, कोई उदय में कार्य इच्छा के अनुकूल नहीं भी होता है, तब आत्मार्थीजीव अपने अवलोकन में यह जाँच करता है कि, मेरे ज्ञान की व्याप्ति कहाँ तक है ? इच्छा में मेरा ज्ञान व्याप्त है ? इच्छानुसार परपदार्थ में कार्य हो जाए तब क्या मेरे ज्ञान की वहाँ व्याप्ति है ? व्याप्ति है क्या ? (यह) तलाश करता है। अपने ज्ञान की व्याप्ति के अनुभव की जाँच करता है। विचार करता है वैसे नहीं। विचार है साथ में किन्तु इससे विशेष बात यह है कि खुद अपने अनुभव की जाँच करता है। बारंबार उदय के प्रसंगों में ज्ञान की व्याप्तिरूप अनुभव की जाँच करता है।

`जिस जाँच के अभ्यास की फलश्रुति...'** यानी कि बारंबार ऐसी जाँच करना उसको अभ्यास कहा। ऐसी जाँचरूप बारंबार हुए अभ्यास की फलश्रुति (अर्थात्) इसका Result - नतीजा **`इस प्रकार आती है कि मेरा ज्ञान किसी भी संयोगी पदार्थ में व्यापता नहीं है;...' उसको स्पष्ट मालूम पड़ता है कि, मेरा ज्ञान ज्ञान की मर्यादा से आगे कहीं भी प्रवेश नहीं कर सकता है। जानने के कार्य से आगे मेरे ज्ञान की कहीं भी व्याप्ति संभव नहीं है। यानी (**`पुद्‌गल के जो-जो कार्य जीवभाव के साथ निमित्तनैमित्तिकभाव से परस्पर मेलवाले हो रहे हैं फिर भी**)...' इच्छा के अनुकूल कार्य न हो वहाँ निमित्तनैमित्तिक संबंध का मेल नहीं है। इच्छा के अनुसार कार्य हो तब निमित्तनैमित्तिक संबंध का मेल हुआ। ऐसे इच्छानुसार कार्य जब हो, तब भी उसका ज्ञान यह स्पष्टरूप से जानता है कि, `नहीं, मेरे ज्ञान की व्याप्ति नहीं है मतलब मेरी व्याप्ति नहीं है। भले ही इच्छा हुई, इच्छानुसार कार्य भी हुआ परंतु यह आत्मा उसे नहीं कर सका है, यह आत्मा ने नहीं किया है, क्योंकि मेरी उसमें व्याप्ति है नहीं।' इस तरह खुद की वहाँ अनुपस्थिति है (ऐसे देखता है)। दूसरे संसारी जीव को क्या होता है ? कि, जब कोई कार्य अपनी इच्छानुसार होता है तब उसको लगता है कि, `यह मैंने किया, मुझे इच्छा हुई, मैंने किया, मैं था तब तो हुआ, मेरी वज़ह से हुआ, मेरे आधार से हुआ और इसकी सफलता का कारण मैं ही हूँ।' ऐसा निमित्तनैमित्तिक संबंध से मेलवाला कार्य जब होता है तब जीव को इतना रस आ जाता है कि, मानो हीर की - रेशम की डोरी को गाँठ मारकर ऊपर से तेल की एक बूँद डाल दी। मानो जैसे वह रस (गाँठ) कभी खोलना ही न हो !!

अज्ञानभाव से ऐसे अनुकूलता के कार्यों में यह जीव ने जो

रस लिया है, इसकी परिणति जो जाम हो चुकी है इसे नष्ट करना बड़ी मुसीबत है। बड़ी आपत्ति तो इसमें है, बाद में तो स्वरूपप्राप्ति सहज है। क्योंकि स्वरूप को कहीं लेने नहीं जाना है, स्वरूप कोई नया बनाना तो है नहीं, कोई तैयार करने की - पकाने की चीज़ नहीं है कि, रसोई तो पकाने पर खाई जाती है इसके पहले कैसे खाये ? यहाँ तो चीज़ तैयार है। परंतु खुद ऐसी परिस्थिति में फँस चुका है कि भाव से तो जैसे लाखों योजन दूर है। ऐसी परिस्थिति में अपनेआप को खड़ा कर दिया है। इसलिए यह तकलीफ मिटाने की प्रक्रिया क्या है - Process क्या है ? कि, इस प्रकार जीव का अवलोकन पद्धति में आकर इष्ट-अनिष्टपने के उदय में अपने भावों के साथ, अभिप्राय के साथ लड़ाई करके अपनी अपूर्व लगनी व रुचिपूर्वक यदि ज्ञान सूक्ष्म हो तो वह ज्ञान की व्याप्ति को देख सकेगा। यहाँ से भेदज्ञान का प्रकरण शुरू होता है। अंतरंग में भेदज्ञान का प्रयोग कैसे चालू होता है ? इसका प्रथम कदम कैसे शुरू होता है ? उस शुरूआत का यह वर्णन है।

प्रश्न :- यहाँ उदय से तो भिन्न हुआ परंतु क्या इच्छा से भी भिन्न होता है ?

समाधान :- हाँ, व्याप्ति तो ज्ञान की ज्ञान में ही होती है। ज्ञान की व्याप्ति जब वर्तमान इच्छा में और राग में भी नहीं है तो राग के विषय तक (की व्याप्ति) का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि वहाँ तो क्षेत्र की भी भिन्नता है। यहाँ तो अभी एकत्व हो रहा है इसलिए मेरे में हो रहा है ऐसा पता चलता है कि, जैसे इच्छा मुझे हो रही है। परंतु '**किसी भी संयोगी पदार्थ में व्यापता नहीं है; मात्र जानने की मर्यादा में ही रहता है।**' ज्ञान केवल जानने की मर्यादा में रह जाता है। जानने के भाव में ही मेरी व्याप्ति

है इससे आगे मेरी व्याप्ति नहीं है। मेरी व्याप्ति है ही नहीं। यानी कि मेरी हयाती ही नहीं है। जहाँ व्याप्य-व्यापकरूप से मेरी हयाति (ही) न हो वहाँ 'मैंने कार्य किया' यह बात आएगी कहाँ से ? बनेगी कहाँ से ? संभव ही कहाँ है ? विकल्प भी केवल विकल्प की मर्यादा में रहता है। उस वक्त जो विकल्प है वह विकल्प की मर्यादा में, ज्ञान ज्ञान की मर्यादा में, पुद्‌गल का कार्य पुद्‌गल की मर्यादा में (रहता है)।

मान लीजिए, यह इच्छा अनुसार बोलना होता है, परंतु पुद्‌गल में इस ज्ञान की व्याप्ति नहीं है, बोलने का विकल्प होता है उसमें भी इस ज्ञान की व्याप्ति नहीं है। अभी...! और अभी ज्ञान सिर्फ ज्ञान की मर्यादा में - जानने की मर्यादा से आगे कहीं भी उसकी व्याप्ति नहीं है। बोलनेवाले को ऐसा है। सुननेवाले को ऐसा आना चाहिए कि, सुनने की इच्छा में ज्ञान की व्याप्ति नहीं है। शब्द जो सुनाई पड़ते हैं उसमें मेरी व्याप्ति नहीं है। शब्दों को सुनने की जो इच्छा हुई उसमें मेरी व्याप्ति नहीं है। मेरा ज्ञान मेरे ज्ञान की मर्यादा में व्याप्त है।

एकबार हमारे साथ घनिष्ट चर्चा करनेवाले सब (मुमुक्षुओं) के बीच एक प्रश्न उठाया था कि, जब सुनने बैठते हो तब इस प्रकार का प्रयोग करते हुए सुनते हो क्या ? तो कहा कि, अरे ! विचार तक नहीं आता है, प्रयोग की बात (तो) दूर रही ? 'गुरुदेवश्री' का प्रवचन सुनने बैठते वक्त ऐसी कोई तैयारी करके बैठते हो कि, ज्ञान केवल जानता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। सिर्फ जानना इतना ही मेरा कार्य है ! यह सुनने की इच्छा में, शब्दों में और 'गुरुदेवश्री' में कहीं भी मेरी व्याप्ति नहीं है। मैं कहीं नहीं हूँ। यह तो एक सतत प्रयत्न करने का विषय है। इसका विकल्प भी अगर न आए,

इसकी शुरूआत भी अगर न हो तो सब ऊपर-ऊपर से ही चलेगा। कोई बात अंदर में प्रवेश कैसे करेगी ?

प्रश्न :- भाई ! एक प्रश्न है - ज्ञान हुआ वह ज्ञानगुण की पर्याय हुई, इच्छा हुई वह चारित्रगुण की पर्याय हुई, अब एक गुण दूसरे गुण को कैसे पलटे ? इच्छा को बदलते ही हैं न ? इच्छा को पर की ओर से स्व में लाने का ही आप कह रहे हो न?

समाधान :- नहीं, इच्छा को बदलने नहीं जाना है। ज्ञान को यह नक्की करना है कि मैं कहाँ हूँ ?

प्रश्न :- परंतु उस चारित्रगुण की पर्याय को ज्ञान कैसे पलट सकता है ? एक गुण दूसरे गुण को कैसे पलट सकता है ?

समाधान :- चारित्रगुण की पर्याय में मैं नहीं हूँ, ऐसा ज्ञान जान तो सकता है कि नहीं (जान) सकता ? जब चारित्रगुण में खुद का अभाव है, जब ज्ञान ज्ञानगुण में है, तो चारित्रगुण में जो इच्छा उत्पन्न हुई उसमें मैं नहीं हूँ, बस ! इतना ही जानना है। फिर भले ही इच्छा इच्छा में हो, इसमें मुझे कोई बाधा नहीं है। इच्छा में `अपनत्व' होने से मुझे बाधा है।

प्रश्न :- इच्छा में तो मैं ही हूँ, दूसरा कोई थोड़ा है ?

समाधान :- नहीं, यहाँ विषय थोड़ा विचारणीय है कि, `अपनत्व' जब इच्छा में होता है तब ज्ञान में नहीं होता। जब जीव को `अपनत्व' राग में या इच्छा में होता है तब ज्ञान में नहीं हो सकता। जब जीव को ज्ञान में `अपनत्व' होता है तब इच्छा में `अपनत्व' नहीं हो सकता। ज्ञान व राग परस्पर विरुद्ध स्वभावी होने से दोनों जगह `अपनत्व' हो ही नहीं सकता। वैसा तो बन ही नहीं सकता। अभी जो बन रहा है उसमें इच्छा में `अपनत्व' हो रहा है। हालाँकि वास्तव में तो ज्ञान में `अपनत्व'है। जीव का अस्तित्व तो ज्ञान में

है, राग में नहीं। क्योंकि अगर राग में अस्तित्व होता तो राग का नाश होने पर (ज्ञान के) अस्तित्व का नाश होता। जबकि ज्ञान तो सतत चालू रहता है। ज्ञान का सातत्य अमिट है।

श्रोता :- इच्छा तो पर तरफ का भाव है।

पूज्य भाईश्री :- पर तरफ का भाव है और वह भाव मलिन भी है, वह स्वभावभूत भाव भी नहीं है और वास्तव में वह चारित्रगुण का परिणमन होने पर भी विकारी परिणमन है, रोग है।

प्रश्न :- भाई ! एक प्रश्न है कि, क्या ज्ञान में परलक्ष की वज़ह से इच्छा की उत्पत्ति होती है ?

समाधान :- इच्छा की उत्पत्ति के कारण में अज्ञान और मिथ्यात्व का रोग तो है, लेकिन इच्छा की उत्पत्ति का मूल कारण स्वरूप का अभान है। स्वरूप का अभान (कारण है)।

प्रश्न :- परंतु क्या ज्ञान पर से एकत्व करता है इसलिए इच्छा उत्पन्न होती है ?

समाधान :- नहीं, मूल में तो खुद इच्छारहित ज्ञानमय पदार्थ है इसके बेसुधता में इच्छा उत्पन्न होती है। मूल तो यहाँ है। फिर तो इच्छा की उत्पत्ति के दूसरे अनेक कारण खड़े हो जाते हैं और विभिन्न प्रकार की इच्छा की उत्पत्ति के भी अनेक कारण खड़े हो जाते हैं। एक तो जीव को अपने स्वरूप के अभानपने में खुद में अपनी सुखबुद्धि नहीं है। अतः अवश्य जीव को अनादि से राग में और पर में सुखबुद्धि है और जहाँ सुख (मान) रखा हो, वहाँ तत्संबंधित इच्छा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती, इसे रोकना असंभव है। भले ही सुख नहीं है फिर भी ! जिसमें सुख भासित हुआ (उसकी) इच्छा उत्पन्न हुए बिना रहेगी नहीं। अतः इच्छा की उत्पत्ति का कारण अपने स्वरूप का अज्ञान है, अपने स्वरूप का

अभान है।

प्रश्न :- `इसमें सुख है' ऐसी इच्छा ज्ञान ने की ?

समाधान :- ऐसी इच्छा आत्मा ने अज्ञानभाव से की है। आत्मा ने की है (किन्तु) अज्ञानवश की है। पूरा आत्मा ही इसमें उलझता है और आत्मा अज्ञानवश ऐसी इच्छा करता है।

अब यहाँ जीव ने एक विचार किया है कि, आत्मा एक ज्ञानमय पदार्थ है। ज्ञान के लिए अन्य सर्व पदार्थ केवल ज्ञेयरूप ही हैं। ज्ञेय के अलावा ज्ञान के पास अन्य कोई खाता ही नहीं है। इष्ट-अनिष्टपने का खाता बंद करने की बात है। कोई पदार्थ इष्ट है - यह खाता ज्ञान को नहीं है। कोई पदार्थ अनिष्ट है - यह खाता ज्ञान को नहीं है। फिर भी आत्मार्थी की अवस्था में ऐसा हो जाता है तो ऐसा हो जाने के सामने उसका प्रयत्न चालू होता है कि, यह तो नहीं होना चाहिए। जीव की यह एक कल्पना है, वास्तविकता ऐसी है नहीं, ऐसी कल्पना क्यों हुई ? होने का कारण क्या है ? (ये सब चलने से) होगा क्या ? कि, रस टूटेगा। इस द्वंद्व में रस टूट जाएगा। जरूरत है रस तोड़ने की, क्योंकि भूतकाल में रस की गाँठ मारकर उसे तेल पिलाया है, इसलिए दिक्कत तो वहाँ ही है। अगर रस तोड़ना उसका शुरू हुआ, इतना कार्य अगर जीव के परिणाम में चालू हुआ (तो) वह जीत जाएगा। उसकी जीत है। रस तोड़ना आ गया तो समझ लो जीत ही गया ! यदि रस न टूटा तो समझ लेना कि वह हार गया, इसका काम नहीं है। अतः यह रस तोड़ने की प्रक्रिया है।

श्रोता :- रस टूटने से इच्छा तो फिर स्वतः नष्ट हो जाएगी।

पूज्य भाईश्री :- इच्छा का बेचारी का तो फिर कुछ बल ही न रहा ! रसविहीन इच्छा हो उसका बल कितना ? उसे तोड़ना

तो फिर सामान्य बात है। मूल तो रस में ही शक्ति है। आगे एक बात ले चुके हैं। `**जीव के परिणाम के विज्ञान अनुसार परिणाम की शक्ति उसमें रहे हुए रस में मौजूद है।**' कहाँ है परिणाम की शक्ति ? कि, वह परिणाम जो रस सहित उत्पन्न हुआ है उसमें उस परिणाम की शक्ति है। इस परिणाम की शक्ति को अगर तोड़नी हो तो (यह अवलोकन का प्रयोग है)। विभाव परिणाम में विभावरस है। शुभ में शुभरस है, अशुभ में अशुभरस है - दोनों ही विभाव हैं। इसका रस अगर टूटा तो फिर इसमें कोई ताकत न रही, कोई शक्ति न रही।

प्रश्न :- रस कहो चाहे इच्छा कहो, दोनों एक ही हैं ?

समाधान :- नहीं, रस रस है और इच्छा रसरहित भी होती है और रससहित भी होती है। इच्छा कषाय है। ज्ञानी को इच्छा होती है परंतु रस नहीं है; (उन्हें) खाने की इच्छा होती है, बोलने की इच्चा होती है, चलते-फिरते हैं, पूजा-भक्ति करते हैं, शास्त्र स्वाध्याय करते हैं, संसार के कार्य (करते हैं), जो भी उदय हो वे सब कार्य करते हुए दिखें; उसमें इच्छा भी दिखे (किन्तु) रस नहीं है।

प्रश्न :- इच्छा और रस दोनों अलग-अलग गुण की पर्याय है ?

समाधान :- नहीं, यहाँ तो इसकी सूक्ष्मता की गहराई में जाना है न ! यह तो अभी विभाव परिणाम है। स्वभाव तो इससे भी सूक्ष्म है। यह कषाय तो स्थूल विषय है, फिर भी इसमें सूक्ष्मता है। उस विषय को फिर से लें। इच्छा आदि परिणाम कषाय हैं। कषाय एक बात है, कषायरस दूसरी बात है। जीव को स्वरूप का प्रथम निर्णय, जीव को निर्णय के काल में प्रथम स्वरूप भास्यमान

कब होता है ? कि, उसका कषायरस जब मंद पड़ा हो उस काल में ! यह १९ वाँ बोल है। `**गुरुदेवश्री के वचनामृत**' में (`समयसार') की १४४ गाथा के प्रवचनमें से चुना हुआ, `नंदीश्वर जिनालय' में (संगेमरमर में) टंकोत्किर्ण १९ नंबर का बोल है। वहाँ `कषायरस' शब्द लिया है। अब कषाय और कषायरस इन दोनों में क्या फ़र्क है ? कषायरस तीव्र भी हो जब कषाय मंद हो। शुभभाव में चढ़ जाए और उस शुभभाव में जो कषायरस है वह बहुत तीव्र होता है, (वह) जीव को नुकसान करता है। ज्ञानी अशुभभाव में हो तब भी उनका कषायरस मंद होता है। दिखे तो अशुभभाव में परंतु कषायरस उनका मंद होता है। मिथ्यात्व अवस्था में कषाय तीव्र होता है तब साथ ही साथ कषायरस तीव्र हो जाता है। हालाँकि कषाय मंद हो तब कषायरस मंद भी हो सकता है, यह तो संभवित बात है। परंतु पहले जो (कही) वह तो विरुद्ध बात है कि, कषायरस तीव्र हो (और) कषाय मंद हो। कषायरस मंद हो तब कषाय तीव्र हो ऐसा भी बनता है। यानी दोनों अलग-अलग मुद्दे हैं।

एक ही परिणाम में ये दो अलग-अलग बातें हैं। अतः यह अवलोकन बगैर समझ में नहीं आता है। रस का जो Factor है वह विचार, मनन से समझ में नहीं आता। क्योंकि विचार, मनन जो है वह तर्कणा में जाता है और विचार, मनन का विषय ज्ञान में परोक्ष रहता है। विचारज्ञान जो है वह परोक्षज्ञान की प्रक्रिया है और उसका विषय ज्ञान में परोक्ष रह जाता है। जबकि अवलोकन में विषय प्रत्यक्ष है इसलिए सीधा अनुभव पकड़ में आता है और अनुभव जहाँ पकड़ में आता है वहाँ सूक्ष्मता आती है। यहाँ तो कषाय और कषायरस ऐसी दो बातें हैं, यह बिना अवलोकन समझ में नहीं आता है। अतः इसमें यह पद्धति अनिवार्य है।

यद्यपि यह भी समझाना पड़े यह उचित तो नहीं लगता है क्योंकि यह भी कोई समझाना पड़ता है क्या ? जब यह विषय ही अपनी Line का है। अपने भावों की Line है तो क्या जीव अपने परिणामों की जाँच किए बिना ही, अपना अवलोकन किए बिना ही तत्त्वज्ञान को समझ लेगा ? यह कोई योग्य पद्धति है क्या ? जिस विषय को आप चर्चा में मुख्य करते हो - Agenda पर लेते हो उसी विषय को आप बिलकुल ही छोड़ देते हो ?! आपके घर में चल रहे परिणाम हैं, आपके आत्मा में चल रहे परिणाम हैं उसको तो आप देखते ही नहीं और तत्त्वज्ञान सीख लिया ! पहाड़ा रट लिया बस ! यह तो कितनी विचित्र बात है ?!! वास्तव में तो ऐसा कहना पड़े यही गलत है ! लोग कहते हैं न कि, `आपको इतना भी कहना पड़े यह ठीक नहीं है ! आपको तो इतना कहने की आवश्यकता भी नहीं रहनी चाहिए।' इसतरह इतनी बात तो सामान्य प्रथम कदम में समझ में आ जाए ऐसी है कि, जब इस जीव के शुद्धिकरण का ही विषय है, आत्मा की शुद्धि का जब विषय है तो शुद्धि-अशुद्धि के जो परिणाम हैं उनकी जाँच किए बिना यह विषय समझ में कैसे आ सकता है ? यूँ ही ऊपर-ऊपर से कैसे समझ में आये ? वैसे ही समझा हो उसे तो समझा है ऐसा कैसे कहे ? बात वास्तव में समझ में ही नहीं आयी है। इसलिए तो यह बात थोड़ी अनुचित लगती है कि, इतना भी कहना पड़ रहा है, यह ठीक नहीं लगता।

(यहाँ तो कहते हैं कि) ज्ञान तो `**मात्र जानने की मर्यादा में ही रहता है। विकल्प भी मात्र विकल्प की ही मर्यादा में रहता है।**' देखते जाना ! जाँच करते जाना ! `**वह विकल्प भी विकल्पानुसार कार्य का अनुसरण करे ऐसे शरीरादि की पर्यायों में व्यापता नहीं**

है। अब विकल्प को देखे तो भी खयाल आये ऐसा है कि, यह जो बोलने का होता है, यह होठ और जीभ और कंठ - ये सब जो चलता है, उसमें कहीं विकल्प की व्याप्ति नहीं है। शरीर की क्रिया में विकल्प की व्याप्ति नहीं है। `**विकल्प भी विकल्पानुसार कार्य का अनुसरण करे ऐसे शरीरादि की पर्यायों में व्याप्त नहीं है। इस तरह कार्य-कारण में स्व-पर की भिन्नता अवलोकन से समझ में आने पर...**' कार्य-कारण का जो प्रकरण है उसमें स्व-पर की भिन्नता समझ में आ गई, वैसे नहीं परंतु अवलोकन से समझ में आती (है)। न्याय से, तर्क से, शास्त्र से नहीं लेना है, युक्ति से भी नहीं लेना है परंतु अवलोकन से खुद को समझ में आए तो `**जीव का उदय के कार्यों को करने का रस टूटता है...**' रस टूटता है तब `**ऐसे परिणाम में परपदार्थ के प्रति का ज़ोर** (**बल**) **कम हो जाता है।**' यह उलटे पुरुषार्थ का बल टूटा। रस टूटा मतलब विपरीत पुरुषार्थ का बल कम हो गया। जो काम मैं कर ही नहीं सकता उसमें मैं कितना ज़ोर दूँ ? जो काम यह आत्मा कर ही नहीं सकता उसमें कितना ज़ोर देना ? जब पता है कि `भोगावा' की रेतमें से चूरमे के लड्डू नहीं बना सकते हैं, कलर भले ही चूरमे जैसा हो और चूरमें के कण जैसा ही रेत का कण दिखता हो परंतु इसका लड्डू बनाकर चूरमा करके खा नहीं सकते, (यह पता हो) फिर लड्डू बनाने का कितना ज़ोर आएगा ? यह तो व्यर्थ है, यह प्रवृत्ति ही व्यर्थ है ऐसा भासित होगा। इसकी कोई सार्थकता नहीं है। यह आगे आ गया न कि, समय और शक्ति का दुर्व्यय है, ऐसा लगे। (इस प्रकार अवलोकन से) `**जोर** (**बल**) **कम हो जाता है।**'

`**जहाँ किसी भी कार्य को करने का रस एवं ज़ोर न हो...**'

परिणाम में भले ही इच्छा उत्पन्न हो गई, विकल्प उत्पन्न हो गया परंतु उसमें रस व ज़ोर नहीं हो। `**वहाँ तत्संबंधित दुराग्रह और तीव्र कषायरस कैसे हो ?**' फिर उस कार्य के लिए कोई दुराग्रह नहीं रहेगा, उस कार्य संबंधित कोई तीव्र कषायरस नहीं होगा। उसमें तीव्रता नहीं आएगी। रस टूट जाएगा।

पुनश्च `**सर्व दोषों से रहित होने की भावना में, पूर्णशुद्धि प्राप्त करने का अभिप्राय रहा है।**' यहाँ इस बात के सामने एक प्रश्न आता है कि, शुद्धि और पूर्ण शुद्धि कैसी है, यह तो पता है नहीं। यह (सूत्र) जो है न ? `**पूर्णता के लक्ष से शुरूआत ही वास्तविक शुरूआत है।**' तो पूर्णता - जो मोक्ष है उसका लक्ष कैसे हो ? इसकी तो खबर है नहीं, उस भाव की समझ तो अभी हुई नहीं, वह भाव तो भासित हुआ नहीं, तो वह कहाँ से उत्पन्न हुआ ? पूर्णता का लक्ष आया कहाँ से ? (तो कहते हैं कि) सर्व दोषों से रहित होने की जो भावना (है उसमें से आया है)। सर्व दोषों से - तमाम दोषों से - एक कण से भी, दोष के एक कण से भी रहित होना है। इसमें पूर्ण शुद्धि की भावना निहित है। इस नास्ति में अस्ति छिपी हुई है। `ना ना नास्ति विचार, पण अस्ति एम सूचवे' `श्रीमद्‌जी' ने लिया है न ? यह नहीं,... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... ऐसे `ना ना नास्ति विचार' में अस्ति का निर्देश है।

`**सर्व दोषों से रहित होने की भावना में, पूर्णशुद्धि प्राप्त करने का अभिप्राय रहा है। अतः पूर्ण शुद्धता का लक्ष...**' अथवा पूर्ण शुद्धता का `**- ध्येय दृढ़ मोक्षेच्छा में परिणमित होता है।**' प्रथम और सर्वप्रथम आत्मार्थी जीव को दृढ़ मोक्षेच्छा होती है। अगर दृढ़ मोक्षेच्छा का अभाव होगा तो कोई बात आगे नहीं चलेगी। दृढ़

मोक्षेच्छापूर्वक ही आगे की सब बात संभव है। इसलिए उसको `वास्तविक शुरूआत' कही है। `पूर्णता के लक्ष से शुरूआत ही वास्तविक शुरूआत' कही है। इसके पहले वास्तव में तो शुरूआत ही नहीं है। या इस जीव ने दृढ़ मोक्षेच्छा के बिना अभी तक जितना भी किया है इसमें शुरूआत नहीं की है, शुरूआत ही नहीं की है। इस प्रकार अभी तक उसने जो भी किया है उस पर पहले चौकड़ी लगा देनी है।

दृढ़ मोक्षेच्छा अथवा पूर्ण शुद्धि की भावना - यह लक्ष, यह ध्येय बना क्या ? तो अब शुरूआत होगी। वरना इसके पहले जो कुछ किया उसमें शुरूआत ही नहीं हुई है। माना भले ही हो कि, मैंने शुरूआत की है, माना हो कि मैं इतना आगे बढ़ा हूँ - तो वह सब मिथ्या है, शुरुआत नहीं हुई। यह बात इतनी मुद्दे की है कि, जीव ऐसे विचार करता है कि, `मैं ऐसे शुरूआत करूँ, मैं धर्म करने के लिए ऐसी शुरूआत करूँ, धर्म करने के लिए यहाँ से शुरू करूँ !' - इस शुरूआत के विषय में ही जीव भूल करता है। नीव की भूल यहाँ करता है। जो शुरूआत नहीं है उसे शुरूआत मान बैठता है। फिर वहाँ से चुनाई करने लगता है कि, `अब मैं यहाँ से आगे बढ़ूँ, इतना आगे बढ़ूँ... अभी इतना आगे बढ़ा... या बढ़ूँ... बढ़ा या बढ़ूँ दोमें से एक बात बनती रहती है। परंतु मूल में शुरूआत ही नहीं होती है। अतः यह सब उलटी दिशा में (यानी कि) गृहीत मिथ्यात्व में आगे बढ़ने की बात है।

जैसे संप्रदाय में उपवास मानकर, उपवास करे उसे तपश्चर्या मान लेना गृहीत मिथ्यात्व है। उपवास करके तपश्चर्या माने वह गृहीत मिथ्यात्व है। वैसे ही यहाँ जिसकी शुरूआत नहीं हुई है उसने शुरूआत मान ली वह गृहीत (मिथ्यात्व) में चला गया ! गृहीत

कहाँ से शुरू होता है ? यदि दृढ़ मोक्षेच्छा या पूर्ण शुद्धि का ध्येय नहीं है (तो) शुरूआत नहीं की है, शुरूआत हुई ही नहीं। `गुरुदेवश्री' ना देते हैं, अनंत तीर्थंकर ना देते हैं। `गुरुदेवश्री' ना देते हैं मतलब अनंत तीर्थंकर ना देते हैं। `**पूर्णता के लक्ष से शुरूआत ही वास्तविक शुरूआत है।**' इसके बिना शुरूआत का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। यह नींव की बात है। अब कितना इस पर ध्यान दिया है यह विषय विचारणीय है। यह एक सूत्र तो `गुरुदेवश्री' ने दिया और `स्वाध्यायमंदिर' में एक-एक फुट, डेढ़-डेढ़ फुट के अक्षरों में लिखा भी है। ऊँचाई पर है इसलिए अच्छी तरह पढ़ा भी जाता है। लेकिन हमारा ध्यान उस पर कितना गया ?

हालाँकि यह तो बहुत कुदरती है। जो जीव ऐसे लोकोत्तरमार्ग में प्रवेश करना चाहता है उसका सीधा ही ध्यान उस पर जाता है, सीधा ही लक्ष जाता है कि, वास्तव में मुझे पहुँचना कहाँ है ? कि जिसको ध्यान में लेकर मैं जहाँ खड़ा हूँ वहाँ से शुरूआत करूँ ? शुरूआत तो जहाँ खड़ा है वहीं से करनी पड़ेगी। परंतु खुद कहाँ खड़ा है ? किस स्थिति में खड़ा है ? इसका उसे भान तक नहीं होगा। पता भी नहीं होगा और चाहे जैसे करने लग जाए और माने कि, `अब मैं धर्म करता हूँ, मैं मेरा कार्य करता हूँ, मैं मेरे आत्महित के लिए इतना करता हूँ, उतना करता हूँ।' कुछ पता भी नहीं चलेगा कि, मैं कहाँ खड़ा हूँ ? यह ध्येय जब बाँधेगा तब तो उसे पता चलेगा कि, अब मैं कहाँ खड़ा हूँ ? यह विषय `**निर्भ्रांत दर्शन की पगडंडी पर**' (पुस्तक के) प्रथम प्रकरण में थोड़ा विशेष स्पष्ट किया है।

`**अतः पूर्ण शुद्धता का लक्ष-ध्येय दृढ़ मोक्षेच्छा में परिणमित होता है।**' बहुत सहज है ऐसा होना ! `**स्वरूपप्राप्ति की ऐसी भावना**

में आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है।' यह बात इसलिए ली है कि, पूर्ण शुद्धता है वह तो मोक्षदशा है। आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा है वह तो (मोक्षदशा है) और वह तो पर्याय है। हमें तो स्वभाव पकड़ना है, हम (तो) ऐसा समझे हैं ! पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि का विषय अलग-अलग है न ? पर्यायदृष्टि मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टि है वह सम्यक्त्व है। उलटा-सुलटा फ़र्क है। अब यहाँ दृढ़ मोक्षेच्छा या पूर्ण शुद्धि की जो बात (कही) वह (तो) पर्याय का विषय (हुआ)।

`गुरुदेवश्री' को किसी ने पूछा था। क्योंकि द्रव्य-पर्याय के विषय पर बहुत चर्चाएँ चली थी, इसमें भी खास करके `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' (पुस्तक का प्रकाशन) हुआ तब से तो ज्यादा चर्चाएँ चली। इसमें एकबार इस सूत्र पर चर्चा चली। `साहब ! यह पूर्णता के लक्ष से शुरूआत की बात में त्रिकाली ध्रुव की बात है या पर्याय की बात है ?' तो (`गुरुदेवश्री' ने कहा) `पर्याय की बात है।' त्रिकाली ध्रुव है ऐसा पकड़ लिया हो, पकड़ लिया मतलब यूँ ही ऊपर-ऊपर से ! तो उसको तो ऐसा ही लगे कि, `यह पर्याय की बात कहाँ से आ गई ? पर्याय की बात तो हमें छोड़ देनी है।' इसलिए यहाँ इस बात को करने का कारण यही है कि, स्वरूपप्राप्ति की ऐसी भावना में, खुद को पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति करनी है उसरूप स्वरूपप्राप्ति की भावना में आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है। उसमें स्वभाव की भावना गर्भित है। अभी स्वभाव का पता तो बाद में चलेगा। निर्णय के वक्त (पता चलेगा)। परंतु स्वभाव की भावना का उत्पत्ति स्थान वही है। क्यों ? (क्योंकि) पूर्ण शुद्धरूप से आत्मा का रहना, होना, ऐसा ही वस्तु का स्वभावतत्त्व है। जो मूलतत्त्व, स्वभावतत्त्व, ध्रुवतत्त्व है, वह तो तथारूप परिणमन करना ही वस्तु का मूलस्वरूप है। इस की भावना में स्वभाव की भावना गर्भित

है। वह स्वभाव पर क्यों आ जाएगा, इसका कारण यह है । दृढ़ मोक्षेच्छामें से स्वभाव पर वह जीव कैसे आ जाता है ? यह बात अब सोचनी है। कैसे वह बिना भूल किए स्वतः आ जाता है ! (कि जिससे उसकी) पर्यायबुद्धि छूट जाएगी।

`इसलिए मुमुक्षुजीव को अपना मूलस्वरूप पहचानने की कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है।' पूर्ण शुद्धि की भावना के पूर्व, पूर्ण शुद्धि के ध्येय बिना यदि जीव स्वरूप को पहचानने की कोशिश करेगा (तो उसे) पहचान नहीं होगी। पूर्णशुद्धि के ध्येय पश्चात् जब जीव पहचानने जाता है तब उसे कोई अपूर्व जिज्ञासा होती है। ऐसी पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति जीव कहाँ जम जाए तब होगी ? कहाँ स्थिर होगा तब होगी ? किस तत्त्व को पकड़ ले तो ऐसा हो ? यह देखना है। क्योंकि परिणाम चलित तत्त्व है। परिणाम स्वयं आत्मा का अनित्य, क्षणिक व चलित-मेचक तत्त्व है। `समयसार' में उसे मेचक कहा है। जब वह खुद ही धजा की पूँछ जैसा अंश है, हिलता ही रहे... हिलता ही रहे... हिलता ही रहे... उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... होता ही रहता है। (एक तरफ) पूर्ण शुद्धि प्रगट करनी है, (दूसरी ओर अवस्था में) अत्यंत मैल भरा है, इस स्थिति में पूर्ण शुद्धि प्रगट करने के लिए क्या करना चाहिए ? कहाँ स्थिर होना चाहिए ? ऐसा कौन-सा तत्त्व है कि जिस पर एकाग्र होने से पूर्ण शुद्धि प्रगट हो ? इसकी सर्व प्रथम खोज़ इसमें से शुरू होती है। अंतरखोज़ का वास्तविक प्रकार इस तरह उत्पन्न होता है। वरना लोग स्वभाव की खोज़ करते हैं परंतु वे इस तरह परलक्षी ज्ञान में करते हैं कि, शास्त्रमें से ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जैसे आत्मा ढूँढ़ लेना हो ! शास्त्र में आत्मा कैसा बताया है ? क्योंकि शास्त्र तो अनुभवी जीवों के कथन हैं

तो उसमें आत्मा कैसा बताया है ? किस प्रकार आत्मा को दर्शाया है ? ऐसा आत्मा ! ऐसा आत्मा ! ऐसा आत्मा ! कई सारी बातें आती है आत्मा की ! लेकिन यह तो अंतरखोज़ का विषय है और ऊपर कहा वैसे इसकी अंतर खोज़ शुरू होती है, अन्यथा प्रकार से नहीं। तब इसका पता लगता है। (ऐसा) यह एक खास प्रकार का नियत विषय है, इसकी एक नियत रूपरेखा है।

प्रश्न :- अभी तो यह सब विकल्प द्वारा ही चलता है न ?

समाधान :- विकल्प की अवस्था में अभी तो यह सब चलता है।

प्रश्न :- अभी तक यह जितना भी किया सब विकल्प द्वारा ही किया है न ?

समाधान :- विकल्प की प्रधानता में और जिसको ऐसा कहें कि किसी भी प्रकार की व्यवस्थित विचारपद्धति से रहित। कोई व्यवस्थित Line हाथ में आयी हो वैसे नहीं। यद्वतद्वा ! `समयसार' पढ़ लिया, `नियमसार' पढ़ लिया, `श्रीमद्' पढ़ लिया, यह पढ़ लिया, वह पढ़ लिया... बहुत विचार भी किया, (किन्तु) वास्तविक शुरूआत कैसे हो, इस पर खयाल नहीं गया। हालाँकि जो सहज ही जाना चाहिए और जिसके कारण अपूर्व जिज्ञासापूर्वक जो स्वभाव की अंतर खोज चलनी चाहिए - इस प्रकार में जीव नहीं आता है। इसलिए इसको `सुविधि' के विषय में लिया है। यह एक निश्चित कार्यपद्धति की विधि है, रूपरेखा है।

प्रश्न :- एक के बाद एक सीढ़ी है, इसमें एक भी सीढ़ी चुकने से आगे जा पाएगा क्या ?

समाधान :- नहीं, यह प्रश्न ही नहीं है। यह तो एकदम वैज्ञानिक पद्धति है। विज्ञान ही ऐसा है।

`इसलिए मुमुक्षुजीव को अपना मूलस्वरूप पहचानने की कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासा का अंत जब तक `स्वरूपनिर्णय' में नहीं आता...' यानी कि ऐसी जिज्ञासा का अंत जब तक स्वरूप का भावभासन न हो **`तब तक (यह) अतृप्त जिज्ञासा...'** यह जिज्ञासा तृप्त नहीं होती है। (ऐसी) **`अतृप्त जिज्ञासा मुमुक्षुजीव को सभी उदय प्रसंगों में और पंचेन्द्रिय के विषयों में नीरस कर देती है।'** यह एक जिज्ञासा का स्वरूप है। `अपूर्व जिज्ञासा' यह तो एक शब्द हुआ। परंतु इसका `भाव' क्या है ? इसका यदि विचार करे तो भाव ऐसा है कि, यह जिज्ञासा जब तक तृप्त न हो तब तक उसे किसी भी उदय में रस नहीं आता, किसी पंचेन्द्रिय के विषय में रस नहीं आता।

आदमी को एक लौकिक चिंता गले लग जाए तो भी खाना नहीं भाता है। सामान्यतः मनपसंद भोजन हो तो भी उसको कहीं चैन नहीं पड़ता। आदमी जब Tension में आ जाता है तब कहीं भी उसे रस नहीं आता, किसी भी उदय में उसको रस नहीं आता। एक सामान्य चिंता में भी ऐसा बनता है तो स्वरूप की अपूर्व जिज्ञासा तो कैसी चीज़ है ? (तो कहते हैं कि) उस जिज्ञासावश जीव को कहीं भी रस नहीं आता।

`इतना ही नहीं...'** इससे भी आगे **`अपितु इस स्थिति की तीव्रतामें से गुज़रने पर...' लंबा चले... स्वरूप की खोज में अभी पता हाथ लगने में थोड़ी देर लगे तो इस **`तीव्रतामें से गुजरने पर नींद भी उड़ जाती है...'** प्रायः इस भूमिका के सभी मुमुक्षुजीव की एकबार तो नींद उड़ जाती है। वह जैसे रात-दिन स्वरूप को खोज़ता है !! ऐसी स्थिति में आ जाता है कि, उसकी नींद एकबार तो हराम हो जाती है। चैन की नींद नहीं आती। उसको भीतर में

जैसे यही चलता रहता है ! (नींद) आ जाए तो भी ऐसा लगे कि, यही चलता था, मैं उसे ही खोज़ता था ! अभी भी क्यों पता नहीं चला ? अभी भी क्यों पता नहीं लगा ? इस जिज्ञासा को शास्त्रकारों ने `तृषा' की उपमा दी है। तृषा एक ऐसी चीज़ है कि, ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों असह्य परिस्थिति पैदा करती है, ऐसी असह्य परिस्थिति इस जिज्ञासा के काल में होती है।

अब `सोगानीजी' के जीवन परिचय का विचार करे तो वे इस परिस्थिति में थे। क्यों आते ही पकड़ लिया ? इसका कारण यह है कि, वे (भी इस) असह्य परिस्थिति में आये थे। `आत्मधर्म' पढ़ा, खोज़ तो चालू ही थी। बहुत परिश्रम करते ही थे। इस बीच `आत्मधर्म' मिला तो ऐसा लगा कि, यहाँ कोई बात जरूर है। मैं जिसकी खोज़ में हूँ वह इस ज़गह है, ऐसा लगता है। मुझे जाना चाहिए। भले ही पाँचसौ मील दूर हो ! अजमेर से `सोनगढ़' छहसौ-सातसौ किलोमीटर दूर है। फिर भी सोच लिया कि जाना है, जाकर ही रहूँगा। भीतर में इतनी असह्य परिस्थिति थी कि, प्राण छूट जाए ! नींद उड़ जाना तो क्या (अरे !) प्राण छूट जाए !! ऐसी असह्य परिस्थिति थी !! इसलिए कढ़े हुए दूध में जामन डाले ऐसी स्थिति हो गई। इसका कारण यह था। बहुत तीव्र स्थिति में आये थे।

ऐसी तीव्र स्थिति `सौभाग्यभाई' की भी हुई ! यह देखिये ! पूर्वभूमिका के दृष्टांत मिलते हैं कि नहीं ? `पूज्य माताजी' (`पूज्य बहिनश्री') की बात करे तो, पूर्वभूमिका में स्वरूपप्राप्ति की वेदना कितनी थी ! (इस पर से) पता चलता है कि, सब एक ही मार्ग से गुज़रे हैं। इस परिस्थिति से गुज़रने पर मिथ्यात्व इतना गल

जाता है ! मिथ्यात्व का जो रस है, वह दर्शनमोह का रस इस स्थिति में इतना गल जाता है कि, तब शुद्धात्मा को बतलानेवाले कोई प्रत्यक्ष सत्पुरुष मिल जाए तो सीधा ही काम हो जाता है। उसवक्त यदि प्रत्यक्ष योग हो गया तो अनंतकाल में नहीं हुआ ऐसा काम तुरंत हो जाता है !! इसका कारण यही है।

अब, `गुरुदेव' तो `अजमेर' कहाँ से जाते ? उन्हें कहाँ पता है कि `सोगानीजी' को वेदना उठी है ? देखो ! कुदरत क्या काम करती है !! वह खुद न रह सके। इसलिए उनको इच्छा हुई कि, मुझे जाना चाहिए। स्वरूपप्राप्ति की भावना थी तो `पूज्य बहिनश्री' ने पंद्रह वर्ष की उम्र में `करांची' छोड़ दिया ! `मुझे यहाँ नहीं रहना है, लाख बात की बात मुझे यहाँ नहीं रहना है। किसी कीमत पर नहीं रहना है मतलब नहीं रहना है।' यह इनकी पूर्वभूमिका है। (ऐसी स्थिति में आए) तब पता लगता है। फिर प्रत्यक्ष योग है वह साक्षात् कार्य करता है। वरना योग तो अनंतबार हो चुका है।

`इतना ही नहीं अपितु इस स्थिति की तीव्रतामें से गुज़रने पर नींद भी उड़ जाती है अर्थात् रात-दिन उसकी आत्मा स्वरूप-खोज़ में लगी रहती है। निर्मोही स्वरूप की खोज की तीव्रता के कारण...**' दर्शनमोह क्यों छूटता है ? (क्योंकि) मोह का अभावस्वभावी जो तत्त्व है इसकी खोज़ अब शुरू हुई है। **`निर्मोही स्वरूप की खोज़ की तीव्रता के कारण दर्शनमोह का अनुभाग यथार्थरूप से काफ़ी मात्रा में कम होता है।' यथार्थ प्रकार से बहुत अच्छी मात्रा में तब कम हो जाता है। अब यहाँ मिथ्यात्व इतना कागज जैसा पतला हो जाता है कि, एक टकोरा मारते ही कागज़ फट जाए ! यह पतंग का पतला कागज आता है न ? हलका सा हाथ लगते

ही कागज़ फट जाए। ऐसा पतला मिथ्यात्व हो जाता है। मिथ्यात्व इतना पतला हो गया इसका मतलब क्या ? कि, दर्शनमोह की शक्ति भी इसके रस में थी, इसके अनुभाग में थी। अतः कषायरस घटने से दर्शनमोह का रस घटने का भी प्रसंग आया। अर्थात् दर्शनमोह की शक्ति न रही। जिसकी शक्ति न रहे वह दबता है। सीधी बात है। इसके उपशम होने का अवसर कब आया ? कि, इसकी शक्ति हीन हो गई। शक्तिहीन हो गई इसलिए दबती है।

`**निर्मोही स्वरूप की खोज़ की तीव्रता के कारण दर्शनमोह का अनुभाग यथार्थरूप से काफ़ी मात्रा में कम होता है। इसलिए ज्ञान में अनादि से रहे अज्ञान-अंधकार के पटल की प्रगाढ़ता कम होती है,...**' यह जो पटल है वह ज्ञान के आड़े एक पटल है। बाह्य क्षयोपशम बढ़ना एक बात है और भीतर में Line की (आत्मकार्य की) सूझ आना यह दूसरी बात है। अपने आत्मा की मुक्ति हेतु, हित हेतु भीतर में मार्ग ग्रहण करने की सूझ आना वह ज्ञान की निर्मलता का विषय है। इसके आड़े एक प्रगाढ़ अंधकार का पटल है - परदा है। यह (प्रगाढ़ता) यहाँ पर कम हो जाती है। दो ज़गह काम होता है - एक श्रद्धागुण में और दूसरा ज्ञानगुण में। दो ज़गह तैयारी होती है। यह तैयारी इतनी पर्याप्त मात्रा में होने के बाद आगे का काम सहजमात्र में, बिना कर्तृत्व के परिणाम किये, कर्तृत्वबुद्धि रहित सहज-सहज होता है। प्रायः सम्यक्दर्शन की निर्विकल्प स्थिति के पहले उस निर्विकल्प स्थिति संबंधित विकल्प भी नहीं होता है। वह जीव तो अपने काम में ही लगा हुआ है। (निर्विकल्पता की) स्थिति तो सहज आकर खड़ी हो जाती है। उसे विकल्प नहीं है कि, मैं निर्विकल्प हो जाऊँ। तब ऐसा विकल्प

नहीं होता। ऐसा विकल्प यदि हो तो वह विकल्प ही उसे अवरोधरूप होगा। क्योंकि (वह विकल्प) पर्यायाश्रित है और पर्याय का ज़ोर तो वहाँ द्रव्यदृष्टि करने में उड़ा देना है। अतः यह स्थिति तो वहाँ (सहज) आकर खड़ी हो जाती है !

इस प्रकार यह स्थिति आने के पूर्व श्रद्धा, ज्ञान की परिस्थिति में भीतर ही भीतर कैसे पलटाव होते हैं, यह बात यहाँ ली है। विशेष विस्तार से लेंगे।

ज्ञानलक्षणपूर्वक स्वभावकी पहचान हुए बिना विभावकी भी पहचान नहीं होती और इसी वज़हसे स्वरूपकी पहचान बिना अज्ञानभावसे किसी न किसी विभावमें ही स्वभावकी अर्थात् आत्माकी कल्पना होनेसे - विभावका सेवन नहीं छूटता। कषायकी मंदता अथवा ज्ञान-चारित्र आदि किसी भी गुणके परान्मुखी क्षयोपशममें स्वभावका भ्रम (पहचानके अभावसे) हो जाता है। और उसमें ही आगे बढ़नेकी अभिलाषासे उसका सेवन होता है।

(पूज्य भाईश्री `अनुभव संजीवनी' -१२०)

६ दि. २६-०२-१९९०

(`सुविधि' का प्रकरण चलता है)। (जिसमें) अवलोकन का विषय चलता था। प्रथम स्थूल भावों का यानी शुभाशुभ दोषित भावों का अवलोकन चलता है। उसके अवलोकन से इसका रस घटता है। अवलोकन के अभ्यास के कारण, स्वरूपप्राप्ति की रुचिवश ज्ञान (सूक्ष्म होता है)। ज्ञान सूक्ष्म होने के इतने कारण हैं। (इस प्रकार) ज्ञान सूक्ष्म होने से ज्ञान स्वयं का भी अवलोकन करता है। स्वयं का अवलोकन करते हुए अपनी व्याप्ति के अनुभव की जाँच करता है। तब ज्ञान ऐसे देखता है कि, विकल्प में, शरीरादि के कार्यों में और संयोग के कार्यों में मेरी व्याप्ति नहीं है, मेरी व्याप्ति उसमें नहीं है। अपनी व्याप्ति नहीं होने से खुद (पर के कार्य) नहीं कर सकता, इस शक्यता - अशक्यता का भी स्पष्ट ज्ञान तब होता है। जब खुद की वहाँ अनुपस्थिति वश कार्य करने का प्रश्न ही नहीं है, यह देखते हुए कार्य संबंधित, उस परिणाम पर से ज़ोर व रस भी टूट जाता है। यहाँ तक (ऊपर के) पैराग्राफ का सारांश हुआ।

(अब यहाँ से आगे लेते हैं) `**सर्व दोषों से रहित होने की भावना में...**' अब क्या कहते हैं कि, ऐसा अवलोकन करनेवाले को स्वभाव

की खोज़ करने की सूझ क्यों आयी ? ऐसी बात कहाँ से आयी ? धर्म के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले अनेक जीव अनेक प्रकार से अपनी मन मानी धार्मिक प्रवृत्ति करते हैं, फिर भी कोई स्वभाव की खोज़ नहीं करता - अंतर खोज़ नहीं करता। एक इस पद्धति में - अंतर अवलोकन में आए हुए जीव को अपने शुद्ध स्वभाव को खोज़ने की वृत्ति कहाँ से उठी ? ऐसी सूझ कहाँ से आयी ? ऐसा विचार कहाँ से आया ? तत्संबंधित यहाँ पर स्पष्टीकरण है। ऐसा प्रश्न उठे तो इसका यह उत्तर है।

सर्व दोषों से रहित होने की भावना में पूर्ण शुद्धि की भावना (निहित) है। सर्व दोषों से रहित होने की भावना कहो चाहे परिपूर्ण शुद्ध होने की भावना कहो, ये दोनों एक अभिप्रायमें से उत्पन्न हुए परिणाम हैं। अतः जिसको पूर्ण शुद्धता का ध्येय है, पूर्ण शुद्धता का जिसको लक्ष है या दूसरे शब्दों में कहे तो दृढ़ मोक्षेच्छा है। यह शब्द प्रयोग `श्रीमद्जी' ने किया है - `दृढ़ मोक्षेच्छा !' अब सम्यग्दर्शन की इच्छा न लेकर मोक्ष की इच्छा ही क्यों ? सम्यज्ञान की इच्छा न लेकर मोक्ष की इच्छा ही क्यों ? ऐसा प्रश्न यदि उठे तो इसका भी उत्तर है।

जिसको जितना चाहिए उसका उतने अनुपात में पुरुषार्थ का उत्थान होगा। जिसको कम चाहिए वह कम पुरुषार्थ करेगा, अधिक चाहिए वह अधिक पुरुषार्थ करता है। यह तो स्पष्ट अनुभवगोचर बात है। रोज़ाना दस रुपया कमाना हो वह दस रुपये जितनी मेहनत करेगा। परंतु जिसको रोज़ाना दस हज़ार कमाना हो उसको बड़ा आरंभ-समारंभ करना पड़ेगा। उसको रोज़ का इतना खर्च भी लगता है तो इतनी मात्रा में उसको सावधान रहना होगा, इतनी मात्रा में पुरुषार्थ भी जगाना होगा। यहाँ जिसको दृढ़ मोक्षेच्छा है

उसका पुरुषार्थ इसके अनुपात में - इतनी मात्रा में उत्पन्न होगा। यह एक पुरुषार्थ के उत्थान में मूलभूत तफावत है। मूल में जो फ़र्क है वह इतना है।

इसलिए पूर्ण शुद्धता का लक्ष या ध्येय या दृढ़ मोक्षेच्छा में वह परिणमित होता है। (क्या परिणमित होता है) ? यह (सर्व दोष से रहित होने की) भावना और यह (पूर्ण शुद्धि प्राप्त करने का) अभिप्राय। अब इस भावना और अभिप्राय से जो ध्येय हुआ वह **`स्वरूपप्राप्ति की ऐसी भावना में आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है।** ' इसमें स्वभाव की भावना गर्भित है। उसको भले ही पता नहीं है कि स्वभाव कैसा है ? परंतु पूर्ण शुद्धता मुझे होनी चाहिए इसमें पूर्ण शुद्ध स्वभाव की भावना गर्भितरूप से शामिल है। अथवा जिसको दृढ़ मोक्षेच्छा है इसकी भावना के गर्भ में स्वभाव की भावना उत्पन्न हो चुकी है। यहाँ से उसको स्वभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है, स्वभाव की खोज़ शुरू होती है इसका मूल कारण यही है। इसमें आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है।

`इसलिए मुमुक्षुजीव को अपना मूलस्वरूप पहचानने की कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है।' मेरा मूलस्वरूप कैसा है ? मैं कैसा हूँ ? यह बात मुझे जब तक निश्चित नहीं होगी, मुझे भासित नहीं होगी तब तक कोई भी बात की सही सूझ नहीं आएगी। वास्तव में क्या कर्तव्य है ? क्या अकर्तव्य है ? कुछ नक्की हो ही नहीं सकेगा। अतः इसके पहले कुछ करना है यह बात तो एक तरफ रह गई। सर्व प्रथम मेरे स्वभाव की पहचान होनी चाहिए। मेरा स्वरूप कैसा है यह मुझे नक्की होना चाहिए। ऐसी कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

`ऐसी जिज्ञासा का अंत...' यह जिज्ञासा कब पूर्ण होगी ? कि,

`जब तक `स्वरूपनिर्णय' में नहीं आता तब तक...' (अर्थात्) स्वरूप का भाव भासित न हो, स्वरूप लक्षगत न हो, प्रत्यक्ष अंश पर से अनंत प्रत्यक्ष - सर्व प्रत्यक्ष स्वरूप भासित न हो तब तक यह जिज्ञासा अतृप्त रहती है। जिज्ञासा में संतुष्ट नहीं होता। अतः सामान्यतया मुमुक्षुजीव जहाँ-जहाँ संतुष्ट हो जाता है, संतोष पकड़कर अटक जाता है, ऐसा प्रकार इस जीव का नहीं बनता।

प्रश्न :- अंश पर से अंशी को पहचानने की बात है ?

समाधान :- हाँ, अंश पर से अंशी की पहचान आती है। ज्ञान अंश है और पूरा आत्मा अंशी है, ज्ञानस्वभावी आत्मा है। हकीकत में तो आत्मा और ज्ञान को अलग नहीं कर सकते। भेदकल्पना से अलग समझा जाता है, फिर भी अलग न कर सके ऐसा तत्त्व है और यह `समयसार' का रहस्य है, ज्ञानतत्त्व है। आत्मा ज्ञानतत्त्व है और ज्ञान है वह आत्मतत्त्व है। (आचार्य महाराज) यह बात बहुत शुरू से लेते आए हैं। ज्ञानानुभूति है वह आत्मानुभूति है (और) आत्मानुभूति है सो ज्ञानानुभूति है।

प्रश्न :- दूसरे अनंत गुण गौण होते हैं ?

समाधान :- दूसरे अनंत गुणों का रूप उसे मिल ही जाता है। अतः दूसरे अनंत गुणों के अस्तित्व का इसमें निषेध नहीं है। परंतु दूसरे अनंत गुण कितने हैं ? कैसे-कैसे हैं ? इससे प्रयोजन नहीं है। किसी भी छद्मस्थ जीव को छद्मस्थ अवस्था में सभी गुणों का ज्ञान होता ही नहीं है, अशक्य है। केवलज्ञान में ही होता है। फिर भी उसे अखण्ड, अभेद, परिपूर्ण शुद्ध आत्मा अनुभव में और लक्ष में है। ऐसे मति-श्रुत(ज्ञान के) अभेद परिणमन में अनंत गुणों का ज्ञान गर्भित है, अनंत नयों का ज्ञान गर्भित है। वैसे सभी नयों का तो उपयोग भी नहीं होता, क्योंकि साधक अवस्था का

इतना समय भी नहीं है, असंख्य समय ही है और किसी-किसी को तो अंतर्मुहूर्त ही होता है। नय का उपयोग कहाँ से करे ? कुछएक तो बाहर आते ही नहीं ! अतः ये नय के विकल्प, प्रमाण के विकल्प होना या अनेक गुणधर्मों का, आत्मा में रहे गुणों का ज्ञान होना यह प्रयोजन का विषय नहीं है, जानकारी का विषय है। आराधन का विषय तो अभेद तत्त्व है। 'ज्ञान सो आत्मा' (इस परिणमन में) अनंत गुणों का अभेद स्वरूप पकड़ में आता है, ग्रहण होता है।

प्रश्न :- सभी गुणों का भावभासन हो जाता है ?

समाधान :- सभी गुणों का भावभासन हो जाता है। कह नहीं सकते या परोक्षज्ञान होने से और केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होने से अलग-अलग उसे लक्ष में नहीं ले सकते, परंतु सभी गुणों का ज्ञान इसमें आ गया। अधूरा आत्मा ज्ञान में नहीं आया। पूरा आत्मा ज्ञान में आया है, ऐसा है। 'गुरुदेव' की भाषा में कहे तो, जैसा केवलज्ञान में आत्मा मालूम पड़ता है, वैसा ही नीचे चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा अनुभव में आता है। केवलज्ञान का विषयभूत जो आत्मा है वही श्रद्धा का विषय है, वही अनुभव का विषय है। भेद नहीं पाड़ते हैं किन्तु भेद से कोई प्रयोजन भी नहीं है। वहाँ इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

श्रोता :- मतलब ज्ञानी ही परमात्मा ?

पूज्य भाईश्री :- हैं ही ! ज्ञानी परमात्मा ही हैं !! परमात्मा हुए हैं। स्वरूप अपेक्षा से तो सब परमात्मा ही हैं परंतु वे अनुभव से परमात्मा हुए हैं। वास्तव में तो ऐसा है।

इस अतृप्त जिज्ञासा का संक्षेप में थोड़ा स्वरूप दिखाया है। '**अतृप्त जिज्ञासा मुमुक्षुजीव को सभी उदय प्रसंगों में और पंचेन्द्रिय**

के विषयों में नीरस कर देती है। इतना ही नहीं अपितु इस स्थिति की तीव्रतामें से गुज़रने पर नींद भी उड़ जाती है अर्थात् रात-दिन उसकी आत्मा स्वरूप-खोज़ में लगी रहती है।' इतनी तीव्र जिज्ञासावृत्ति है ! कहीं भी रस न आए, नींद न आए। एक ही लक्ष है कि, मेरा स्वरूप कैसा है ? एक ही दिशा में उसका ध्यान है, एक ही दिशा में इसकी खोज़ है।

पचास हज़ार, लाख (रुपये का) एक हीरा हाथ से गिर गया हो और मिलता न हो तो नींद आती है क्या ? घर में ही तो खोया है न ! कल ढूँढ़ लेंगे, आज रहने देते हैं, सोने का समय हुआ है (चलो सो जाए, ऐसा कोई करता है ?) नींद आने लगती है क्या? उबासी आने लगती है क्या ? अरे ! लेटने पर भी नींद नहीं आएगी। जब कि वह तो पत्थर है फिर भी ! लेकिन अगर उसकी कीमत लाख, पचास हज़ार की हो तो बिना ढूँढ़े कोई सोता नहीं है। यहाँ अनादि से चैतन्यहीरा खो गया है (फिर भी) वक्त होने पर आराम से सो जाता है !! कुछ परवा नहीं है ! फिर कहता है कि, मुझे आत्मा मिलता नहीं है। परंतु तुझे दरकार कितनी है यह तो पहले नक्की कर ! परमात्मा कोई इतना सस्ता नहीं है। तुझे दरकार भी न हो और मिल जाए, ऐसा तो नहीं है।

'**निर्मोही स्वरूप की खोज़ की तीव्रता के कारण...**' किसकी खोज़ है यह ? आत्मा जो निर्मोही स्वरूप है - मोह का अभावस्वभावी तत्त्व है इसकी तीव्र खोज़ के कारण '**दर्शनमोह का अनुभाग यथार्थरूप से काफ़ी मात्रा में कम होता है।**' यहाँ मिथ्यात्व का रस एकदम मंद होता है। इसलिए जीव सम्यग्दर्शन के समीप जाता है। श्रद्धा अपेक्षा से कहे तो वह सम्यग्दर्शन के समीप जाता है। श्रद्धा में

ऐसा फेरफार हुआ, (तब साथ में) ज्ञान में क्या फेरफार हुआ ? कि, इसी कारणवश '**ज्ञान में अनादि से रहे अज्ञान-अंधकार के पटल की प्रगाढ़ता कम होती है,...**' कल हमलोग यहाँ तक आये थे।

अब, यह एक अज्ञान-अंधकार का जो परदा है वह क्षयोपशमरूपी आड़वाला नहीं है। यहाँ हीनाधिक क्षयोपशम का प्रश्न नहीं है। परंतु अपने स्वरूप संबंधित जो अज्ञान है उस अज्ञानरूप परदे की यहाँ बात लेनी है। जिसको ज्ञान की मलिनता कही जाती है। मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञान की निर्मलता होने पर अपने स्वरूप का भावभासन आता है। ज्ञानदर्पण मलिन हो तब तक उसमें भावभासन नहीं आता। अतः ऐसी जो स्वरूप की खोज़ है, भीतर में स्वरूप की जो तीव्र खोज़ है वह ज्ञान की निर्मलता भी उत्पन्न करती है। क्योंकि सब ज़गह से रस उड़ गया। कषायरस जो था वही ज्ञान को मलिन करता था। इसकी प्रगाढ़ता कम होते ही भूमिका के योग्य निर्मलता होती है।

'**अर्थात् इस भूमिका में ज्ञान स्वरूपनिश्चय हेतु सक्षम / निर्मल होता है...**' कितना निर्मल होता है ? कि, स्वरूपनिश्चय कर सके उतना, स्वरूप का भाव भासित हो, ज्ञान में ज्ञानस्वभाव भासित हो, प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञान का स्वभाव खुद को ही भासित हो, इतना निर्मल होता है। इतना धैर्यवंत होता है, इतना सूक्ष्म होता है और इतना निर्मल होता है। ज्ञान के ये तीन गुण प्रगट होते हैं।

जो ज्ञान परपदार्थ प्रत्ययी रसपूर्वक पर सन्मुखता सहित वेग में रहता था, कि जिससे मलिनता उत्पन्न होती थी; वह ज्ञान वेग छोड़कर धीरा हो जाता है, निर्मल होता है और भाव भासित हो

उतना सूक्ष्म होता है। क्योंकि स्वभाव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जितना भासन हो उतना वह सूक्ष्म होता है।

प्रश्न :- यहाँ मलिनता में क्या लेना है ?

समाधान :- मलिनता में कषायरस है। कषायरस से रंजित जिसके परिणाम हैं, तीव्र कषायरस से रंजित जिसके परिणाम हैं, उसका ज्ञान स्वस्वभाव को - ज्ञानस्वभाव को देखने के लिए शक्तिवंत नहीं रहता, योग्यतावंत नहीं रहता। वह देख नहीं सकेगा, उसको विचार में आएगा परंतु देख नहीं सकेगा। मेरा स्वभाव कैसा ? वह मुझे पता चले तो अच्छा, ऐसा उसे लगेगा जरूर; लेकिन वैसे तो कोई पता नहीं चलता है। ऐसा विकल्प कोई कार्यकारी नहीं है।

श्रोता :- इतने साल व्यर्थ ही गवाँये हैं !

पूज्य भाईश्री :- है तो ऐसा ही। परंतु फिर भी कोई बात नहीं। 'जब जागे तब सवेरा !' इसमें क्या दिक्कत है ? वैसे भी उम्र चाहे जितनी भी हो, सत्य मार्ग यही है ऐसा जब प्रतिभास आता है तब सर्वप्रथम जीव को ऐसा ही लगता है कि, बहुत देर हो गई ! चाहे जितनी उम्र हो ! 'पूज्य बहिनश्री' का दृष्टांत देखें तो उन्हें पंद्रह साल की उम्र में भी देर हो गई ऐसा लगता था ! पंद्रहमें से अठारह हुए, कल पच्चीस हो जायेंगे ! ऐसे ही समय बीत जाये यह कैसे चलेगा ? छटपटाहट रहती थी। (अतः) किसी भी उम्र में जब ऐसा लगे कि, यह आत्मा, यह मार्ग, यह सत्य ग्रहण करने जैसा है, तब जीव को ऐसा ही लगता है कि, अभी तक मैंने यह क्या किया ? अभी तक मेरा ध्यान नहीं गया ? मैंने इस धर्म के नाम से झूठा आडंबर ही किया है ? और माना कि धर्म किया - ऐसा लगता है, लेकिन कोई बात नहीं, ऐसा लगेगा स्वाभाविक है। ऐसा लगना यह स्वाभाविक है, ऐसा तो होगा।

प्रश्न :- ग्रहण किया किसको कहे ?

समाधान :- ग्रहण किया तो (तब माना जाए कि) (जब) खुद 'अपने आपरूप' उसमें भासित होने लगे तब। राग में जो 'मैं'पना हो रहा है इसके बदले ज्ञान में 'मैं'पना होता है, अस्तित्व ग्रहण होता है। ग्रहण होना मतलब अस्तित्व का ग्रहण होना। अस्ति कहो, सत्ता कहो, शुद्ध सत्ता कहो, शुद्ध जीवास्तिकाय कहो, सत्ता को सत्य कहो, सत्ता का गुण वह सत्य है। सत्य मतलब सच बोलना, यह तो इसका रूढ़ि अर्थ है। हकीकत में 'सत्य' शब्द सत्ता का सूचक है और सत्ता है वह श्रद्धा, ज्ञान को ग्रहण करनेरूप अपनी हयाति - शुद्ध सत्ता है - उसे सत्य कहा जाता है। वास्तव में तो सत्य इसे कहते हैं। वरना वैसे तो सत्य के नाम पर बहुत-सी बातें चलती हैं।

प्रश्न :- शुद्ध श्रद्धान और शुद्ध सत्ता एक ही है ?

समाधान :- शुद्ध श्रद्धान है वह विषयी है (और) शुद्ध सत्ता इसका विषय है। एक ग्रहण करता है, दूसरा ग्रहण होता है, ऐसा है। ऐसा भेद होने पर भी अनुभव में भेद नहीं है क्योंकि स्वयं ही है।

(यहाँ कहते हैं) '**ऐसे मुमुक्षुजीव को अध्यात्मशास्त्र के भाव...**' सभी भाव '**यथार्थरूप से भासित होते हैं...**' जानने के लिए यह एक इसका दूसरा पहलू है कि, उसे सभी न्याय यथार्थ समझ में आते हैं। अध्यात्मशास्त्र के अध्यात्मतत्त्व के न्याय कोई सत्पुरुष कहते हो, खुदने वह न्याय सुना भी न हो - पढ़ा भी न हो, ऐसा (न्याय) सामने आ जाए (तो भी) उसे यथार्थ समझ में आता है। उसको अब विपरीत अभिप्राय नहीं रहे, ऐसा कहना है। इसलिए उसे सीधा समझ में आता है। गलत नहीं, हकीकत में यथार्थरूप

से उसे समझ में आता है। 'बराबर है, ऐसा ही होना चाहिए, वस्तु का स्वरूप ऐसा ही होना चाहिए... वस्तु का स्वरूप ऐसा ही हो सकता है।' ऐसा ही उसकी समझ में आएगा। यह एक विशेषता है। जब किसी जीव को बात का स्वीकार नहीं आता है कि, 'यह सही नहीं लगता, यह ठीक नहीं लगता' - यह सूचित करता है कि, तत्संबंधित विपरीत संस्कार अभी उसके छूटते नहीं हैं, छूटे नहीं हैं।

'**ऐसे मुमुक्षुजीव को अध्यात्मशास्त्र के भाव यथार्थरूप से भासित होते हैं और ऐसे निमितों में अध्यात्मरस...**' '**ऐसे निमित्तों में**' यानी कि ऐसे शास्त्रों का अवगाहन करे तब, ऐसे शास्त्रों के श्रवण का प्रसंग हो तब विशेष वृद्धिगत होता है। उसका अध्यात्मरस उस प्रसंग पर विशेष वृद्धिगत होता है। ये सब दर्शनमोह के अनुभाग कटने के, शक्ति टूटने के, मिथ्याश्रद्धा की शक्ति टूटने के ही सब प्रकार हैं। चारों तरफ से उस पर लडाई (प्रहार) चलती है। क्योंकि यह बहुत बड़ा दुश्मन है। अनंत संसार में भटकानेवाला अगर कोई है तो यह दर्शनमोह है। अनंतकाल निगोद में, अनंत बार नरक में डालनेवाला यह है। इसलिए चारों तरफ से उस पर हमला चलता है।

प्रश्न :- किसी भी प्रकार का दर्शनमोह इस प्रकार का नुकसान करता है ?

समाधान :- (दर्शनमोह की) एक ही जाति है। दर्शनमोह की विकल्प अपेक्षा से गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व, ऐसी अनेक जाति हैं। गृहीत में फिर जितने-जितने अलग-अलग अन्य धर्म हैं वे सब आते हैं। बाकी दर्शनमोह सब में सामान्यरूप से एक है। विशेषरूप से इसके भेद देखे जाते हैं।

`**दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का दूसरा एक समर्थ कारण भी इस काल में उत्पन्न होता है,...**' दूसरे कर्मों का विशेष विचार करने की जरूरत नहीं है। अगर राजा एक बार मरा तो बाकी बचा सैन्य तो समझ ही लो भाग गया ! फिर कोई खड़ा नहीं रहेगा। लशकर को मालूम पड़ा कि, `इसने हमारे राजा को मार दिया, अब हमारा क्या बूता है, फोकट में मारे जायेंगे, भागो रे भागो...!' कोई खड़ा ही नहीं रहेगा। `**दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का दूसरा एक समर्थ कारण भी इस काल में उत्पन्न होता है,...**' यह एक विशेष बात यहाँ है। `**वह विद्यमान सत्पुरुष के चरणसान्निध्य में सरलतापूर्वक सत्संगप्राप्ति की भावना है।**' यह उपादान का विषय है। सत्संग और सत्पुरुष उसमें निमित्त हैं। अभी जहाँ उपादान की चर्चा चलती है वहाँ वह हो या न हो इससे कोई संबंध नहीं है, किन्तु भावना उत्पन्न हो जाती है।

जब जीव को पता चलता है कि, मुझे मेरा स्वरूप जानना है, मुझे मेरे स्वरूप का अनुभव करना है, (लेकिन) यह अनुभव करने का मार्ग, उपाय, रीत, कार्यपद्धति तो अभी मुझे हाथ नहीं लगी; तब उसे पहला विचार आता है कि, ऐसे (अनुभवी) कोई हैं क्या? ऐसे अनुभवी मनुष्य कोई हैं सही ? (अर्थात्) उसको पहले यह भावना उत्पन्न होती है। फिर पुण्ययोग हो तो मिले, पुण्ययोग न हो तो नहीं मिले - वह अलग विषय है। लेकिन भावना उत्पन्न होती है जो कि दर्शनमोह को कम करती है। उसकी भावना से (दर्शनमोह) कम होता है। नहीं मिले तो भी दर्शनमोह कम हो, मिले तो भी दर्शनमोह कम होता है। क्योंकि अब तो दर्शनमोह की मौत ही आयी है ! इसलिए सत्पुरुष मिलेंगे तो भी मरेगा, सत्पुरुष नहीं मिलेंगे तो भी मरेगा ही। क्योंकि उसकी भावना ही

दर्शनमोह को कम कर देती है।

प्रश्न :- भावना है वही उसकी जागृति हुई ?

समाधान :- भावना जागृति को लाये ही। भावना जागृति को अवश्य लाती है। यदि जागृति न लाये तो वह भावना नहीं है ऐसा समझ लेना।

`**दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का दूसरा एक समर्थ कारण भी इस काल में उत्पन्न होता है, वह विद्यमान सत्पुरुष के चरणसान्निध्य में सरलतापूर्वक सत्संगप्राप्ति की भावना है।**' एक विशेषण और लगाया है। सत्संगप्राप्ति बहुतों को होती है किन्तु सरलता नहीं रहती। वहाँ कमनसीबी है कि सत्संग असत्संगरूप हो जाता है अथवा सत्संग है वह उसे फलवान नहीं होता। इसलिए (यथार्थता में) जीव इतनी सरलता में आ जाता है कि, उसके आत्मा को कहीं नुकसान न हो ! असरलता से संभवित नुकसान उसको नहीं होता, यह सीधी बात है।

`**अनादि से अनजान ऐसे सन्मार्ग को दर्शानेवाले सत्पुरुष,...**' कैसे हैं सत्पुरुष ? अनादि से खुद जिससे अनजान है ऐसे सन्मार्ग को दर्शानेवाले हैं, ऐसे सत्पुरुष `**मार्ग के सच्चे जिज्ञासु के लिये वास्तव में परमात्मा तुल्य ही हैं,...**' `**परमात्मा तुल्य ही हैं** !' क्यों? (क्योंकि) मार्ग तो परमात्मा ही सर्वोत्कृष्टरूप से दिखाते हैं। दूसरे वे दिखा सकते हैं जो मार्ग के अनुभव में खड़े हो, मार्ग में साक्षात् मार्गस्वरूपरूप खड़े हो।

`अष्टपाहुड' में `भगवान कुंदकुंदाचार्य' ने मुनिराज को साक्षात् मूर्तिमंत मोक्षमार्ग बतलाये है। मोक्ष का राजमार्ग जो है (इसलिए)। भावलिंगी नग्न दिगंबर संत ! जैनमुनि ! उसे जिनमार्ग कहा है। वास्तव में जिनमार्ग तो उनका शुद्धोपयोग है। `जिणसासणं सव्वं !'

परंतु वे स्वयं ही मार्ग को प्रसिद्धरूप से (दर्शाते हैं), उनका अंतर-बाह्य दीदार इसकी प्रसिद्धि करता है। इसलिए उन्हें ही मोक्षमार्ग बता दिया है। देखो ! मूर्तिमंत मोक्षमार्ग ये मुनिराज हैं !

सत्पुरुष हैं वे (मार्ग को) प्रसिद्ध कर सकते हैं। क्योंकि उनके अनुभव में आयी हुई चीज़ है। अतः ऐसे सच्चे जिज्ञासु के लिए, `**मार्ग के सच्चे जिज्ञासु के लिए...**' ऊपर-ऊपर की जिज्ञासावाले के लिए नहीं। वे `**वास्तव में परमात्मा तुल्य ही हैं, ऐसा मात्र स्वरूप के खोज़ी जीव को ही लगता है;...**' उसको ऐसा ही लगता है कि, यदि कोई ऐसा पुरुष मिल जाए तो वास्तव में मुझे परमात्मा से भेट हो गई !! उन्हें परमात्मा के पर्यायान्तररूप देखता है। उन्हें (देखने) की उसकी नज़र बदल जाती है। `**ऐसा मात्र स्वरूप के खोज़ी जीव को ही लगता है,...**'

`**इसलिए यदि कदाचित किसी सत्पुरुष का योग हो...**' हो भी सकता है, किसी को नहीं भी होता है। परंतु ऐसी भावनावश प्रायः होता ही है। किसी संस्कारी जीव को नहीं भी हो तो भी उसका कार्य सिद्ध हो जाता है। बाकी जिसको संस्कार न हो उसे प्रायः योग हो जाता है। ऐसा बन सकता है कि, मिथ्यात्व अवस्था में (सत्पुरुष के विरह की) वेदना में ही प्राण छूट जाए ! सीधा ऐसे क्षेत्रे में उत्पन्न होता है कि, जहाँ फिर ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता, महाविदेह जैसे क्षेत्र में तो बहुत-से होते हैं !! कोई ऐसा कहे कि, परंतु (यह) कैसे संभव है ? संयोग तो हाथ की चीज़ नहीं है, परंतु भावना के साथ कुदरत बंधी हुई है। भावना के साथ कुदरत बंधी हुई है !! यहाँ वेदना में उसका आयुष्य पूरा होते ही दूसरे समय में वहाँ उत्पन्न हो जाए ! कि जहाँ बहुत संख्या में - समूह में हो, वहाँ ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता। वहाँ फिर उसको देर नहीं

(लगती है) फिर तेज़ी से कार्य कर लेता है, ऐसा बनता है। तो किसी को तो इधर ही योग हो जाता है।

`**इसलिए यदि कदाचित किसी सत्पुरुष का योग हो जाये तो सर्वार्पणबुद्धि से सत्संग को मुख्य करता है...**' कैसे सत्संग की उपासना करता है ? जहाँ सर्वार्पणता हो वहाँ असरलता होने का तो प्रश्न ही नहीं है। सर्वार्पणता से वह सत्संग को प्राधान्य देता है। फिर वह सत्संग को किसी भी कीमत पर गौण नहीं करता। यह तो जब योग हो तब की बात है। `**और यदि ऐसा योग न हो तो, वह ऐसे योग की आश्रयभावना में वर्तता है।**' मुझे ऐसा योग हो तो अच्छा ! वह भी उसके दर्शनमोह के अनुभाग को कम करेगा। सत्संग का योग होगा तो वह भी उसके दर्शनमोह के अनुभाग को कम करेगा।

`**इस प्रकार के परिणाम, दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का अति सुगम व सरल उपाय है।**' यह जो सत्पुरुष के चरणसान्निध्य में सर्वार्पणबुद्धि से सरल परिणाम पूर्वक रहने की भावना (है) वह (दर्शनमोह का अनुभाग घटने का) सुगम से सुगम उपाय है। दूसरी कोई बात कम - ज्यादा समझ में आए, न आए इन सबका फैंसला हो जाएगा। `बहिनश्री के वचनामृत' का ४२५ (नंबर का) बोल है कि, तत्त्व की यथार्थ धारणा करने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता है ? (तो कहा है कि,) खास प्रकार की योग्यता का अभाव है इसलिए। खास प्रकार की योग्यता में (ऊपर जो कहा वह) बाधक कारण नहीं है। (अर्थात्) तत्त्व की धारणा में अगर कोई सामान्य क्षति होगी तो वह निकलने में देर नहीं लगेगी। (धारणा) में कमी होगी तो इसकी भी कोई चिंता नहीं है। इतना अधिक यहाँ दर्शनमोह का अनुभाग घटने का समर्थ कारण है।

इसलिए यह स्पष्टीकरण है कि, कोई तत्त्व को मुख्य करके सत्पुरुष को गौण करते हैं। (और कहते हैं कि) `गुरुदेवश्री' ने तत्त्व की मुख्यता करवाई है, भक्ति की नहीं। ऐसा कहते हैं न? (कहनेवाले को) इस बात का रहस्य समझ में नहीं आया है। रहस्य ऐसा है कि, (दर्शनमोह घटने का) यह अति सरल उपाय है। `श्रीमद्‌जी' ने जो ढोल पीटा है, प्रत्येक पत्र में जो ढोल पीटा है, इसका यही कारण है।

प्रश्न :- तत्त्व की मुख्यता हो और भक्ति उत्पन्न न हो यह संभव है क्या ?

समाधान :- किसी काल में ऐसा नहीं बनता। (भक्ति उत्पन्न न हुई हो) तो उसके पास तत्त्व नहीं है। तत्त्व की बात भले ही करता हो (परंतु) तत्त्व उसके पास है नहीं। अगर विद्यमान सत्पुरुष की उपेक्षा होती है और जहाँ भी होती हो वहाँ तत्त्व का अभाव है ऐसा समझना। यह बिलकुल सीधा हिसाब है। वरना ऐसा बन ही नहीं सकता। ऐसे निकृष्ट काल में इस धरातल पर सत्पुरुष की मौजूदगी कहाँ से ? पहली बात तो यही है कि, इनकी उपस्थिति कहाँ से ? इनकी (उपस्थिति ही) बड़ी बात है। फिर भी कोई हो इनकी उपेक्षा होना (यह तो) बहुत बड़ी कमनसीबी है।

श्रोता :- ऐसे सत्पुरुष हो इनकी भक्ति में अवरोध करना ही नहीं चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- बिलकुल नहीं करना चाहिए। अवरोध भी नहीं करना चाहिए, कुछ नहीं कर सकते। सरलता उसका नाम है, वरना तो असरलता हो गई ! अवरोध डाले तो बड़ी असरलता हो गई। यदि स्वयं सत्पुरुष का समागम चाहता है तो इस अभिप्राय में जगत के सारे जीवों को यह सत्पुरुष का समागम प्राप्त हो,

यह भाव आये बिना नहीं रहता। यह इसका न्याय है। अगर कोई अंतराय डालना चाहता है (तो) इसका मतलब कि, वह खुद ही नहीं चाहता है, खुद चाहता ही नहीं है। ऐसा इसका अर्थ होता है। इसमें बहुत बड़ा न्याय है। यह तो बहुत स्वाभाविक है। (वरना) मुनिराज को क्या जरूरत थी ? जिन्होंने राजपाट छोड़कर जंगल में निवास किया, उन्हें `समयसार' (जैसे) शास्त्र लिखने की क्या जरूरत थी ? (कि), जीवों का अज्ञान मिटे और मिथ्यात्व छूटे (इसलिए लिखे हैं)। वे स्वयं तो अज्ञान और मिथ्यात्व तोड़कर छठे-सातवें गुणस्थान में विराजमान हैं। बहुत अल्प भवों में एकाध भव में तो मुक्ति में चले जायेंगे। उन्हें अन्य जीवों का मिथ्यात्व और अज्ञान छूटे इसके लिए `समयसार' की ४१५ गाथा (लिखने का) परिश्रम उठाने का (भाव) क्यों आया ? अवश्य आता ही है ! यह स्वाभाविक है। जिस मार्ग को खुद ने पाया उसे जगत के सारे जीव प्राप्त करे ऐसी जो भावना यह सत्पुरुषों का संप्रदाय है।

(`श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथमें से) ४३० नंबर का पत्र अभी पढ़ा कि नहीं ? याद है ? `सत्पुरुषों का यह संप्रदाय है।' (ऐसा लिखा है)। परमार्थ के कारण को भी अगर कोई प्राप्त करे, कारण के एक अंश को, कारण के कारण को कोई प्राप्त करे तो यह सत्पुरुषों का (संप्रदाय है)। ऋषभादि तीर्थंकर से लेकर यह बात ली है। उनके (खुद के) ऊपर बात चली है तब उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि, यह हमारें हृदय की भावना है परंतु वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखते हुए परिस्थिति सानुकूल नहीं दिखती है। यह समझकर खुद ने बात को गोपित कर दी है।

`इस प्रकार के परिणाम, दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का अति सुगम व सरल उपाय है। `स्वरूपनिश्चय' होने की योग्यता

की प्राप्ति - तथारूप वर्तमान पात्रता यहाँ उत्पन्न होती है।' इसीलिए (`कृपालुदेव' ने) ७५१ (पत्रांक में) तीन Stage लिए हैं न ? आप्तपुरुष की भक्ति, आज्ञाभक्ति ऐसा कहकर (प्रथम कारण लिया है)। बाद में दूसरा कारण स्वरूपनिश्चय का लिया है। मतलब वह क्रम हो गया। पहली सीढ़ी (सत्पुरुष की पहचान) है, दूसरी सीढ़ी यह (स्वरूपनिश्चय) है। यह स्वरूपनिश्चय होने की योग्यता यहाँ प्राप्त होती है। `**तथारूप वर्तमान पात्रता यहाँ उत्पन्न होती है।**'

`**दर्शनमोह के विज्ञान अनुसार यह सिद्धांत है कि `दर्शनमोह मंद हुए बिना वस्तुस्वरूप का भासन होता नहीं और दर्शनमोह का अभाव हुए बिना आत्मा अनुभव में आये ऐसा है नहीं।**' अवतरण चिह्न में जो बात ली है वह `पूज्य गुरुदेवश्री' का वचनामृत है। `नंदीश्वर जिनालय' - (सोनगढ़) में जो वचनामृत उत्कीर्ण किए हैं उसमें २०३ नंबर का यह बोल है। यह बोल `परमागमसार' में भी आ गया है, (बोल-३००)। `गुरुदेवश्री के वचनामृत' में २०३ नंबर का बोल है। `हैद्राबाद' में पहले दिन (स्वाध्याय में) यह बोल लिया था, यह वही बोल है।

`**दर्शनमोह के विज्ञान अनुसार यह सिद्धांत है कि `दर्शनमोह मंद हुए बिना वस्तुस्वरूप का भासन होता नहीं और दर्शनमोह का अभाव हुए बिना आत्मा अनुभव में आये ऐसा है नहीं।**' भावभासन बिना अनुभव नहीं (होता) इसलिए `गुरुदेवश्री' ने वचनामृत में यह बात ली है। `**आत्मानुभव होने का यह अनिवार्य क्रम है।**' इस क्रम को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार से सीधा आत्मानुभव में आ जाए, सम्यग्दर्शन में आ जाए ऐसा तीनकाल में नहीं बन सकता। इस क्रम के अलावा नहीं, इस रीत के अलावा नहीं और अन्य किसी भी रीत से भी यह बात नामुमकीन है।

प्रश्न :- दर्शनमोह का क्षय हो तो अनुभाग घटे ?

समाधान :- दर्शनमोह दबे। दर्शनमोह मंद होना मतलब इसकी शक्ति मंद हो, शक्ति कम हो। अनुभाग मतलब शक्ति, रस।

प्रश्न :- दर्शनमोह का मतलब क्या ?

समाधान :- यह मिथ्यात्व मतलब दर्शनमोह। दर्शनमोह शास्त्रीय परिभाषा है। मिथ्यात्व के परिणाम तो हमलोग बोलते हैं कि नहीं ? वही दर्शनमोह है। दर्शनमोह और चारित्रमोह दो बातें आती हैं कि नहीं ? दर्शनमोह मतलब मिथ्यात्व के परिणाम, चारित्रमोह मतलब दर्शनमोह व्यतीत होने के पश्चात् जो राग-द्वेष रह जाए वह। अज्ञानता ज्ञान अपेक्षा से कहते हैं। यह श्रद्धा की अपेक्षा से कहते है। दोनों अविनाभावी होते हैं। जहाँ दर्शनमोह हो वहाँ अज्ञान अवश्य होता है। अज्ञान ज्ञान के खाते में जाता (है), दर्शनमोह श्रद्धा के खाते में जाता (है)। दर्शनमोह मतलब मिथ्याश्रद्धा।

(यहाँ कहते हैं) `**आत्मानुभव होने का यह अनिवार्य क्रम है। उपरोक्त पात्रता में आया हुआ मोक्षार्थी जीव...**' अब यहाँ कार्यपद्धति में आगे का विषय लेना है। (मुमुक्षुजीव) कैसे आगे बढ़ता है ? यहाँ तक पात्रता में आगे बढ़ा हुआ मोक्षार्थी जीव है वह `**अंतर संशोधन में गहराई में जाता है...**' अपने स्वरूप की खोज़ में गहराई में जाता है। `**तब स्वयं के `ज्ञान लक्षण' से...**' अन्य किसी लक्षण से नहीं, सत्ता लक्षण से नहीं। वरना शास्त्र में सूत्र तो अनेक प्रकार के हैं। द्रव्य कैसा है ? `सत्द्रव्यलक्षणम्' `लक्षण' शब्द इस्तेमाल किया है।

विद्वानों में यह एक विवाद चलता है, इसलिए थोड़ा विचार कर ले ! देखो ! `उमास्वामी' ने `सत्' को लक्षण कहा है। `सत्द्रव्यलक्षणम्' ! जब कि आप `उपयोग' लक्षण की बात (करते

हो)। परंतु `उपयोग' लक्षण (भी) उन्होंने कहा है। जीव को उपयोग लक्षण कहा है। `सत्द्रव्यलक्षणम्' कहा उसमें सिर्फ जीवद्रव्य की बात नहीं लेनी है। उसमें छओं द्रव्य की बात लेनी है। परंतु उसको तो भूल जाते हैं। खुद की मरज़ी अनुसार अभिप्राय में कोई बात बैठती हो फिर प्रकरण का खयाल नहीं रहता कि अभी यहाँ कौन-सा प्रकरण चल रहा है? जहाँ `सत्द्रव्यलक्षणम्' कहा है उसमें छओं द्रव्य के लक्षण की बात चली है। जहाँ जीव का लक्षण बताना है वहाँ उसी आचार्य ने `उपयोग लक्षण जीव' कहा है।

श्रोता :- उपयोग तो सत् का ही लक्षण है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सत् ऐसे जीव का (लक्षण है)। क्योंकि सत् है वह छओं द्रव्य में सामान्य है। इसलिए (उस लक्षण से) जीव को भिन्न नहीं दिखा सकते (जब कि) यहाँ तो भिन्न आत्मा को जानना है। जब भिन्न आत्मा को जानना हो तो वहाँ इसका कोई असाधारण लक्षण लेना पड़ेगा, साधारण लक्षण से अलग नहीं देख सकेंगे। वैसे तो `नियमसार' में `परमपारिणामिक भावलक्षण जीव' कहा है। परंतु परमपारिणामिक भाव भी छओं (द्रव्य में) है। छओं द्रव्य को परमपारिणामिक भाव है। इसलिए वह लक्षण भी जीव की अलग से (पहचान) करने में काम नहीं आता।

`लक्षण' शब्द का अर्थ लक्षण से लक्षित होता हुआ पदार्थ ऐसा भी होता है और `लक्षण' शब्द का अर्थ स्वरूप के अर्थ में भी होता है। `परमपारिणामिक भावस्वरूप जीव' ऐसा कहा है। वहाँ लक्षण से लक्ष होने के अर्थ में बात नहीं चली है, स्वरूप के अर्थ में लेनी है। इस प्रकार लक्षण शब्द शास्त्र में दो अर्थ में इस्तेमाल होता है।

प्रश्न :- उपयोग सत् का लक्षण है तो फिर उपयोग को सत् कहे तो ?

समाधान :- उपयोग सत् नाम जीव का लक्षण है। जीव सत् है, उपयोग भी सत् है। वह अवांतरसत्ता हो गई। सत्ता का प्रकरण लिया जाए तो महासत्ता में छओं द्रव्य - पूरा विश्व आ गया। फिर अवांतरसत्ता में छओं द्रव्य आते हैं। फिर तो अवातंरसत्ता में इसके गुण, इसकी पर्यायें, इसके धर्म, सब सत् में आ जाता है। सब सत् में ही आते हैं। सत् नाम अस्तित्व। जिसका अस्तित्व (है) वह सत् (है)।

`उपरोक्त पात्रता में आया हुआ मोक्षार्थी जीव अंतर संशोधन में गहराई में जाता है तब स्वयं के `ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है...' अब यहाँ से विधि लेनी है। अभी तक विधि की पूर्वतैयारीरूप विधि कैसी होती है यह प्रकरण चला। पूरे Article का आधा हिस्सा इसमें गया। यानी जब जीव की इतनी भूमिका तैयार हो फिर वह विधि में प्रवेश करेगा। इसके पहले विधि का पता नहीं लगता। भले ही आत्मा... आत्मा... करता रहे ! ज्ञायक... ज्ञायक... करता रहे, पता नहीं लगेगा। उसे यथार्थ विधि हस्तगत होनी चाहिए और इसके पहले इतनी तैयारी होनी चाहिए। यह इसका एकदम नियत क्रम है।

जिस तरह मोक्षमार्ग तीनों काल नियत है - `दर्शन, ज्ञान, चारित्राणी मोक्षमार्गः' (इसमें) फेरफार नहीं चले। मोक्षमार्ग में फेरफार नहीं चलता। वैसे ही इसके अनुसंधानरूप परिणाम - इसकी प्राप्ति की विधि के जो परिणाम हैं वे भी तीनों काल नियत हैं। क्योंकि यह वस्तु का विज्ञान है। हलवा बनाने की विधि में कुछ आगे-पीछे नहीं चलता; विधि विधि के अनुसार ही होती है। हलवा हलवे की विधि से ही बनता है, अन्यथा विधि से कभी हलवा नहीं बनता।

`**ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है : इस विधि का प्रसिद्ध नाम `भेदज्ञान' है।**' शास्त्र में यह नाम प्रसिद्ध है। परंतु नाम में बहुत बातें भरी हैं इसलिए इसका विस्तार करना पड़ता है। भेदज्ञान क्या चीज़ है ? दिगंबर शास्त्रों में नाम तो प्रसिद्ध है। श्वेतांबर शास्त्रों में यह नाम प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि वहाँ ४५ (आगम में) यह विधि का विषय नहीं चला है। ४५ आगम में विधि का विषय नहीं है ! `गुरुदेवश्री' को पूछा था, `गुरुदेवश्री' ने तो ४५ (आगम) पढ़े (थे) न ? (इसलिए) पूछा था। क्योंकि कभी-कभी हमारा किसी श्वेतांबर आचार्यों के साथ बातचीत का प्रसंग हो जाता है। उन दिनों (ऐसा ही प्रसंग) था इसलिए मैंने पूछा था।

अब, हमने जो विषय शुरू किया था (उसमें) पहले पन्ने पर (तीसरा पैराग्राफ है)। `**ज्ञानीपुरुषों ने आत्महित के उपाय का दो विभाग में वर्णन किया है - एक तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग कि जो सम्यक् पुरुषार्थ सहित होता है...**' चतुर्थ गुणस्थान के बाद `**और दूसरा उसकी प्राप्ति हेतु पूर्वभूमिका में उस मार्ग पर्यंत पहुँचने के प्रयासरूप मुमुक्षु दशा।**' इसमें दो विभाग लिए हैं। पहले भाग में दो विभाग किये। एक - पात्रता तक जीव तैयार हो और बाद में स्वरूपनिर्णय के काल में भेदज्ञान की विधि में आकर स्वरूपनिर्णय करे वह अवश्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता ही है। इसलिए `**इस विधि का प्रसिद्ध नाम `भेदज्ञान' है।**' अब यह प्रकरण यहाँ से शुरू करना है।

`**वहाँ प्रथम बुद्धिपूर्वक ऊपर ऊपर से भेदज्ञान का प्रयास चालू होता है।**' जब भेदज्ञान की शुरूआत होती है तब सविकल्पदशा में यह एक बुद्धिपूर्वक का प्रयास है। ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि, जहाँ सहज भेदज्ञान चलता है वहाँ बुद्धिपूर्वक कोई

विकल्प करके प्रयत्न करना नहीं पड़ता है। परंतु जब तक ऐसा भेदज्ञान शुरू (न) हो, उस भूमिका में - उस Stage तक जीव नहीं पहुँचता है तब तक ऐसी बुद्धिपूर्वक वह भेदज्ञान शुरू करता है। जिस तरह (सत्पुरुष की) पहचानपूर्वक की भक्ति सहज है, उसे करनी नहीं पड़ती; परंतु ऐसी भक्ति में न हो तब तक ओघभक्ति में तो जीव आता है। हालाँकि ओघभक्ति को रखने का सवाल नहीं है। नीचे की अपेक्षा से स्थान दिया जाता है, ऊपर की (भूमिका की) अपेक्षा से उसका निषेध किया जाता है। सहज भक्ति की अपेक्षा से उसका निषेध किया जाता है। परंतु सहज भक्ति में न आये तब तक ओघभक्ति में भी रहकर वह उपेक्षा में न रहे, विरोध में न रहे, विरुद्ध न जाये, इस हेतु से ओघभक्ति को भी वहाँ स्थान दिया जाता है कि, ठीक है, चलो ! ओघभक्ति में तो आया। इस तरह यहाँ बात है।

प्रश्न :- अवलोकनपूर्वक जो शुरूआत करता है उसको भेदज्ञान की धारा तो शुरू हो ही जाती है न ?

समाधान :- हाँ, वहाँ भेदज्ञान का विषय शुरू होता है परंतु वहाँ इसकी चर्चा नहीं की है। अब यहाँ भेदज्ञान को लक्ष में रखकर थोड़ी चर्चा की है।

प्रश्न :- वहाँ ओघे-ओघे चलता होगा ?

समाधान :- नहीं, वहाँ ओघे-ओघे मतलब जब तक बुद्धिपूर्वक का प्रयास है वहाँ ओघसंज्ञा है। (स्वरूप)निर्णय होने के पश्चात् सहज परिस्थिति में आता है।

प्रश्न :- अवलोकन की शुरूआत करता है तब तक तो अभी ओघसंज्ञा ही है न ?

समाधान :- हाँ, ओघसंज्ञा तो है ही। परंतु वह ओघसंज्ञा की

निवृत्ति करेगा। ओघसंज्ञा के दो प्रकार हैं। एक ओघसंज्ञा मिटे ऐसा प्रकार और दूसरा ओघसंज्ञा में रह जाए ऐसा प्रकार। प्रत्येक परिणाम में ऐसे दो पहलुओं का विचार करना पड़ता है। जैसे कि (मुनिराज को) छठा, सातवाँ गुणस्थान आता है। मुनिराज को सातवाँ गुणस्थान अनेकबार आता है, परंतु जब वे श्रेणी में आरूढ़ होते हैं तब जो सातवाँ गुणस्थान आता है ऐसा पहले नहीं आया। फिर से, मुनिराज को छठा और सातवाँ गुणस्थान अनेकबार आता है, परंतु वे जब सातवें गुणस्थान से आगे श्रेणी में आरूढ़ होते हैं, तब जो सातवें गुणस्थान में आये उसका प्रकार कोई अलग है। वह प्रकार ऐसा नहीं है कि फिर छठे में आना होवे। आगे का प्रकार ऐसा था कि वे क्षण में छठे में आ जायेंगे। यह प्रकार ऐसा है कि क्षण में आठवें से लेकर ऊपर की श्रेणी में आरूढ़ हो जायेंगे। तो वहाँ सातवें, सातवें (गुणस्थान में) इतना फ़र्क है। इस तरह ओघसंज्ञा का भी सूक्ष्मता से विचार करे तो फ़र्क है। वरना वैसे तो सभी जीव ओघसंज्ञा में ही पड़े हैं। जब तक सहज भेदज्ञान नहीं करे तब तक ओघसंज्ञा में ही पड़े हैं। लेकिन जो जीव अवलोकन पद्धति में आयेगा वह ओघसंज्ञा में नहीं रहेगा। उसकी ओघसंज्ञा छूट जाएगी, ऐसा कहना है।

प्रश्न :- भेदज्ञान का अभ्यास चालू हो तब उसे ग्रंथीभेद होता है न ?

समाधान :- ग्रंथीभेद तो बाद में होगा। जब स्वानुभव में आएगा तब ग्रंथीभेद हुआ, ऐसा कहलाता है। अभी तो इसके प्रयास में है। ग्रंथीभेद करने के प्रयत्न में आया है, ऐसा कहना है।

प्रश्न :- ऊपर-ऊपर से मतलब ओघसंज्ञा लेना ?

समाधान :- ऊपर-ऊपर से मतलब क्या है कि, भेदज्ञान की

जो गहराई है उस गहराई तक अभी नहीं जा पाता है। भेदज्ञान का जब प्रारंभ करता है तब उसको बुद्धिपूर्वक भेदज्ञान करने का विकल्प आता है, विचार आता है और अवलोकनपद्धति से वह भेदज्ञान करने का प्रयत्नवंत होता है। अभी कर नहीं पाता है (लेकिन) भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है। यहाँ विकल्पपूर्वक थोड़ी कृत्रिमता रहती है और ओघसंज्ञा भी है - ये सब प्रकार अभी मौजूद हैं। इसलिए यहाँ से आगे क्रमशः कैसे बढ़ता है इस विषय पर थोड़ा विचार करना है।

भेदज्ञान कर्तव्य है ऐसा हमलोगों को लगता है। हमलोग तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं इसलिए भेदज्ञान कर्तव्य है, इसमें तो कोई दो राय नहीं है। `संवर अधिकार' में तो स्पष्ट लिया है कि, भेदज्ञान ही एक मात्र संवर का उपाय है। संवर कहो चाहे धर्म कहो (सब एकार्थ हैं)। दूसरा कोई संवर का उपाय नहीं है, (अन्य) सब बातें फोकट की हैं। पूरे `समयसार' को देखें तो सभी अधिकार में आचार्यदेव ने भेदज्ञान का विषय ही Agenda पर धारावाहीरूप से लिया है। क्योंकि यह एकमात्र विधि है, इसलिए। `समयसार' में विधि का विषय अनेक जगह पर, विभिन्नरूप से समर्थ आचार्य महाराज - `कुंदकुंदाचार्य' और `अमृतचंद्राचार्य' की कलम से चला है, ऐसा कहना होगा। इसीलिए `गुरुदेवश्री' ने `समयसारजी' की प्रशंसा विशेषतः की, उसका कारण यही है।

यह भेदज्ञान करने योग्य है ऐसा लगने पर भी होता तो नहीं है। तो नहीं होने का कारण यह है कि खुद पूर्वभूमिका में नहीं आया है। जो तैयारी करके आता है उसका काम होता है। बाज़ार में सोना या हीरा खरीदने जाये लेकिन जेब में पैसे लेकर जाये तो माल मिलता है, कि यूँ ही जाकर खड़ा रह जाये (और कहे

कि) `भाई ! मुझे चुटकीभर सोना दीजिए न ज़रा !' भीखारी जाए और चीमटा पटके (और कहे कि) `चुटकीभर सोना दे दे !' (लेकिन) भाई ! यह कोई नमकीन नहीं है कि जैसे कोई थोड़ा नमकीन दे दे वैसे ही सोना दे दे !! इस तरह हर किसी को भेदज्ञान नहीं होता। करना चाहे तो भी नहीं होता, करेन की इच्छा हो भी नहीं होता। इसकी पूर्वभूमिकापूर्वक ही वह संभव है। यह इसका नियम है। इसे कायम रखकर यह सारी आगे की चर्चा का विचार करना है। जीव यदि सहजरूप से भेदज्ञान में प्रवेश करे तो भेदज्ञान का फल जो शुद्धोपयोग है, जिस शुद्धोपयोग के साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है, वह अवश्य होता है। अगर भेदज्ञान नहीं हुआ तो शुद्धोपयोग होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसकी विशेष चर्चा करेंगे।

विधि :- ज्ञान द्वारा स्वयंकी (पूर्ण सामर्थ्यकी) प्रत्यक्षताका अवलोकन होते ही, उसमें `मैं हूँ' - ऐसे निजपदका आस्तिक्य होनेसे, अर्थात् निज सत्ताके अवलंबनकी भींस (ज़ोरसे अवलम्बित होना) आनेसे - उस रूप पुरुषार्थ द्वारा अनुपम पदकी लीनता होती है। (इसमें ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेसे पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता (चारित्र) हुआ) सब साथमें ही है।

(पूज्य भाईश्री `अनुभव संजीवनी' -२१८)

७ दि. २७-०२-१९९०

`सुविधि' का प्रकरण चलता है (जिसमें) भेदज्ञान का विषय चलता है। `**प्रथम बुद्धिपूर्वक ऊपर-ऊपर से भेदज्ञान का प्रयास चालू होता है। प्रयास मतलब स्वयं मात्र जाननेवाला / ज्ञायक है ऐसे ज्ञायक का ज्ञायकरूप से अभ्यास करे,...**' यहाँ से बात ली है कि, अंतर अवलोकन के अभ्यास में मंथन आदि चलने से बुद्धिपूर्वक कुछएक समाधान हो चुके हैं। वह भूमिका का कार्य पूर्ण हुआ, वह भूमिका स्पष्ट हो गई। आगे जो अवलोकन चला था और अभी जो अवलोकन चल रहा है उसमें इतना तफावत है कि, यहाँ ज्ञान `मैं'पना (और) रागादि भाव में `मैं' नहीं। ऐसा एक विधि-निषेध का प्रयोग चालू होता है। पहले वह नहीं था। पहले अनेक प्रकार के अपने दोषों को देखना हुआ, विभावरस की मंदता हुई, ज्ञान में भी अवलोकन वृद्धिगत् हुआ जिसके कारण दर्शनमोह इतनी हद तक मंद हुआ कि, स्वभाव के प्रतिभास की भूमिका प्राप्त हुई। यहाँ तक पहुँचने पर अब स्वभाव के प्रतिभास की भूमिका आयी तब साथ-साथ यह एक प्रकार चालू होता है।

भेदज्ञान के अभ्यास में, मैं मात्र जाननेवाला - ज्ञाता हूँ, मैं सिर्फ जाननेवाला ज्ञाता हूँ अतः ज्ञायकपने में, ज्ञातारूप रहना - उतना ही मेरा कार्य है। इस तरह ज्ञातारूप रहने का प्रयत्न-प्रयास, उसको

यहाँ अभ्यास कहते हैं। बारंबार ज्ञाताभावरूप रहने का प्रयास, ऐसा यदि मैं करूँ; (क्योंकि) अभी रह तो नहीं सकता है परंतु तथारूप प्रयत्न करना चाहता है। इष्ट-अनिष्टपना होना उचित नहीं है। क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अतः जब ज्ञाता हूँ (तो) ज्ञातारूप रहूँ। ज्ञाता हूँ इसलिए ज्ञातारूप ही रहूँ।

प्रश्न :- यही देशनालब्धि है ?

समाधान :- देशनालब्धि तो प्रत्यक्षयोग में होती है। (इसके पहले) सत्पुरुष की भावना होती है, सत्संग की भावना होती है। (जिससे) दर्शनमोह विशेषतः मंद होता है। ये आनुषंगिक परिणाम हैं। (सत्पुरुष का) योग मिले, योग नहीं भी मिले।

प्रश्न :- मैं तो ज्ञाता हूँ, ज्ञातारूप रहना ही मेरा स्वभाव है, यह बात तो देशना में ही मिलती है न ?

समाधान :- इसमें ऐसा है कि, बुद्धिपूर्वक इतनी बात तो समझ में आयी है कि, आत्मा देहादिस्वरूप नहीं है, रागादिस्वरूप नहीं है - आत्मा ज्ञानस्वरूप है। (फिर भी) खुद रागादि स्वरूप अपना अनुभव करता है तो तब तक अभी कृत्रिम प्रयत्न चलता है। फिर देशनालब्धि किसी को पहले मिल चुकी हो तो इसकी खबर खुद को नहीं होती। न मिली हो तो उसकी खबर भी खुद को नहीं होती है। अतः वहाँ तो एक ऐसे प्रकार के परिणाम लिए हैं कि, (देशनालब्धि) मिली हो चाहे नहीं मिली हो सत्संग की भावना तो तभी से उत्पन्न हो ही जाती है। यह सत्संग की भावना तो ज्ञानदशा में भी रहती है। ऐसा नहीं है कि, यह विषय केवल मुमुक्षुदशा का ही है, बाद में यह विषय नहीं रहता, ऐसा बिलकुल नहीं है। ज्ञानी को भी सत्संग की भावना विशेषतः रहती ही है। परंतु इस प्रकार में जीव अवश्य आता ही है, नहीं आए ऐसा नहीं बनता।

क्योंकि परिणाम बाहर जाते हैं, जब बाहर जाते ही हैं तो (अपनी) रुचि के अनुकूल निमित्त को ही ग्रहण करेंगे या खोजेंगे।

किसी भी जीव के परिणाम अपनी रुचि के अनुकूल संग को खोजते हैं या ग्रहण करते हैं। यह तो बहुत स्वाभाविक है। अतः जिसको अपना आत्महित करना है उसको आत्महित की रुचि के जो निमित्त हैं उसकी खोज़ चलेगी या जहाँ कहीं भी होंगे उसको प्राप्त करेगा, उसके संग में रहेगा, बस ! यह बहुत स्वाभाविक है। इसलिए बीच में यह बात स्पष्ट कर दी कि, इससे हटकर कोई अन्य प्रकार के परिणाम होना संभवित नहीं है। ऐसा है।

अब, भेदज्ञान का प्रयास करनेवाले जीवों में कोई जीव देशनालब्धि में आ भी गया हो, (और) कोई जीव देशनालब्धि में नहीं आया होगा तो वह देशनालब्धि में आ जाएगा, लेकिन यह कुदरत के अधीन है। या तो पहले कुदरती बन चुका है या कुदरती बाद में बन जाएगा। यहाँ तो अभी बुद्धिपूर्वक प्रयत्न चलता है और ऐसा अभ्यास चलता है तब... इसका दूसरा अर्थ क्या हुआ ? `**यानी**' ऐसा कहकर बात ली है।

`**यानी उदय में जब-जब हर्ष-शोक के भावों के तीव्र रस के प्रसंगों में अपनी जाँच करे...**' क्या होता है कि, ज्ञायकरूप रहने का अभ्यास करे तब ज्ञायकरूप रह तो नहीं पाता। तब प्रथम कक्षा के भेदज्ञान में शुरूआत कैसे होती है ? कि, सामान्य उदयप्रसंगों में तो अभी ज्ञान और राग की भिन्नता के बीच कोई सूक्ष्मरूप से कार्य नहीं हो पाता है, (लेकिन) जब हर्ष और शोक के परिणाम में रस तीव्र होता है, विभावरस तीव्र होता है तब वह अपनेआप की जाँच करता है यानी कि `(**ज्ञान, ज्ञान की जाँच करे**)...' वह ऐसे कि ज्ञातापने रहने के बज़ाय हर्ष-शोक जो होते हैं, उस हर्ष-

शोक का जो अपनत्वरूप से वेदन हो जाता है (तब) वह ज्ञान को देखता है, चलते हुए ज्ञान की जाँच करता है। इस जाँच के दौरान उसे `**स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मेरे ज्ञान में तो वास्तव में कुछ कम-ज्यादा हुआ नहीं...**' न तो कुछ आया है नाहीं कुछ गया है। जब मेरे में न तो कुछ आया और न तो कुछ गया है, तो (फिर) हर्ष के समय न मुझे कुछ मिला है, शोक के समय न मेरेमें से कुछ गया है। किसी चीज़ का मुझे लाभ नहीं है, किसी चीज़ का मुझे नुकसान (भी) नहीं है। मेरेमें से कुछ आता-जाता नहीं है। यह अपने ज्ञान की जाँच करते हुए, ज्ञान बारंबार अपनी जाँच करके यह निर्णय करता है; बारंबार यह जाँच करता है कि, क्यों ये हर्ष-शोक होते हैं ? जब कुछ आता-जाता नहीं है फिर ये हर्ष-शोक क्यों होते हैं ? अतः वह रस ठंडा पड़ता जाता है। यह अभ्यास जब तक एक निर्णय की भूमिका तक न पहुँचे तब तक मुख्यरूप से चलता है।

अब, यहाँ अभी विकल्प साथ में है। इस प्रकार के अभ्यास में अभी विकल्प है तो जरूर। फिर भी `**यह सिर्फ विकल्प करने मात्र नहीं...**' यह सिर्फ विचार नहीं है। `**परंतु चलते हुए परिणमन में अपने अनुभव की जाँच करके मालूम पड़ी हुई भिन्नता है।**' भिन्नता कैसे मालूम हुई ? कि, मेरे में कुछ आया नहीं, मेरेमें से कुछ गया नहीं, चलते हुए परिणाम में यह स्पष्ट बात है। मेरा ज्ञान ज्ञान ही है। ज्ञान में कुछ आया नहीं, ज्ञानमें से कुछ गया नहीं। ज्ञान ने कुछ गँवाया भी नहीं और ज्ञान ने कुछ पाया भी नहीं। ज्ञान ने मतलब मैंने। यह प्रकार केवल विकल्प नहीं है। `**परंतु चलते हुए परिणमन में अपने अनुभव की जाँच करके...**' जाँचपूर्वक मालूम हुई, विचारपूर्वक मालूम हुई ऐसे नहीं परंतु, `**जाँच**

करके मालूम पड़ी हुई भिन्नता है।'

`**बारंबार इस प्रकार भिन्नपने का अभ्यास होने से स्वयं को खयाल आता है...**' विशेष खयाल आता है, बारंबार के अभ्यास से खुद को विशेष खयाल आता है कि, `**मिथ्याबुद्धिरूप अध्यास से जो `परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है...**' वह झूठ है। `**उसका झूठापन समझ में आता है।**' हर्ष-शोक के परिणाम में परप्रवेशपना होता है। या तो उदय प्रसंग में खुद का प्रवेश हुआ ऐसा लगता है, या खुद में किसी परपदार्थ का प्रवेश हुआ ऐसा उसे अनुभव होता है। खास करके स्वाद के विषय में, स्पर्श के विषय में - शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि और स्वाद के विषय में - खट्टा, खारा, तीखा, मीठा, कडुआ। उसमें परप्रवेशभाव का अनुभव ज्यादा होता है। चक्षु इन्द्रिय का विषय तो क्षेत्र से ही भिन्न है, परंतु यहाँ विशेषतः सन्निकर्ष से परिणाम उत्पन्न होते हैं इसलिए परप्रवेशभाव का अध्यास होता है। अब, जब तक अंतर भेदज्ञान का अभ्यास नहीं है तब तक वह हकीकत में सच ही लगता है (यानी कि) `मुझे सचमुच कडुआ लगता है, मुझे सचमुच ठंडा लग रहा है।' यहाँ अब इसका झूठापन समझ में आता है। और वह भी (सिर्फ) विचार से समझ में नहीं आता, परंतु तथारूप अनुभव के अभ्यासपूर्वक समझ में आता है।

विचार से, न्याय से, आगम से, तर्क से समझ में आना एक बात है, यहाँ अनुभव के अभ्यास से समझ में आना यह बिलकुल अलग ही बात है। विचार से समझने में वह विषय परोक्ष रह जाता है। यहाँ प्रयोग के अभ्यास द्वारा समझने में विषय प्रत्यक्ष हो जाता है। एक बात प्रत्यक्ष हो (और) वही बात परोक्ष रहे, इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। एक अनुमानज्ञान का विषय बनता है

और एक अनुभवज्ञान का विषय बनता है। एक में विषय संबंधित रस उग्र नहीं होता अथवा गहराई में नहीं जाता। (जब कि) यहाँ इस विषय संबंधित - भेदज्ञान के विषय संबंधित रस गहराई तक जाता है, प्रगाढ़ रस उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष में रस का बहुत बड़ा फ़र्क है। कोई भी प्रसंग जब परोक्ष हो और वही प्रसंग जब प्रत्यक्ष हो तब दोनों में रस का अंतर बहुत रहता है। रस है वह बल है, परिणाम की शक्ति है - इसका तो हमलोग ने आगे विचार कर लिया।

प्रश्न :- अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-शोक होना, यह तो कल्पना ही हुई न ?

समाधान :- वह कल्पना ही है, ऐसा अनुभव से तब समझ में आता है। जब भेदज्ञान के प्रयोग में चढ़ता है तब अभी तो बुद्धिपूर्वक के प्रयत्न में भी इतना स्पष्ट होता है कि, यह कल्पना हो रही है, यह झूठ है। वास्तव में मेरे में कुछ नहीं आता, मेरेमें से कुछ नहीं जाता। यदि वाकई में ठंडापन अच्छा होता तो सर्दी के मौसम में भी अच्छा लगना चाहिए था। यदि गरमी अच्छी होती तो ग्रीष्मऋतु में भी वह अच्छी लगनी चाहिए थी। (जब कि) गरमी में ठंडा अच्छा लगता है, सर्दी के मौसम में गरमी अच्छी लगती है। इसलिए कोई एक अच्छा है यह नक्की नहीं होता है - ऐसा कोई निश्चय नहीं हो पाता है। परंतु ज्ञान में ऐसे विभिन्न ज्ञेयभावों का प्रवेश नहीं होने पर भी प्रवेश हुआ ऐसा झूठ का अनुभव होता है। जिसको अध्यास कहते हैं। उसका नाम अध्यास।

प्रश्न :- लड्डू मेरे में आ गया ?

समाधान :- लड्डू आत्मा में नहीं आ सकता। इतना ही नहीं परंतु लड्डू के मीठेपन का वेदन आत्मा कर भी नहीं सकता। खा

भी नहीं सकता और वेदन भी नहीं कर सकता। अध्यास से मानता है (कि मैंने लड्डू खाया।) अतः अशक्य कार्य को शक्य मानने से आकुलता की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहती। दुःख यहाँ से खड़ा होता है, उत्पन्न होता है। मूल में दुःख यहाँ है। दुःख का मूल ही यहाँ पर है।

प्रश्न :- हकीकत में क्या होता है ?

समाधान :- हकीकत में आत्मा को ज्ञान होता है। परंतु उसका ध्यान, उसका लक्ष ज्ञान पर नहीं है। आत्मा को (सिर्फ) ज्ञान होता है, इसके अलावा आत्मा कुछ नहीं कर सकता। `ज्ञानादन्यत्करोति किम्' कैसे कर सकता है ? ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :- परप्रवेशभाव क्या है ?

समाधान :- परप्रवेशभाव तो अध्यास है, झूठा भाव है, कल्पनामात्र है; परंतु अब यहाँ इस कल्पना को वह सिर्फ विचार से नहीं समझा, उसके अनुभव को पकड़कर समझता है, यह बड़ी बात है। बड़ा फ़र्क यहाँ पर है। बात विकल्प सहित है फिर भी सिर्फ विकल्प नहीं है, वर्तमान अनुभव भी इसमें है, ज्ञान भी है। केवल विकल्प नहीं है। जहाँ वर्तमान अनुभव रहित सिर्फ विकल्प हो वहाँ ऐसे विचारज्ञान को बल नहीं मिलता। इसलिए भेदज्ञान नहीं होता। यहाँ बल मिलता है।

फिर से, `**बारंबार इस प्रकार भिन्नपने का अभ्यास होने से स्वयं को खयाल आता है कि मिथ्याबुद्धिरूप अध्यास से जो `परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है उसका झूठापन समझ में आता है।**' यह बात तो उसे खयाल में आती है। आगे जो खयाल आया था और इस खयाल में बड़ा अंतर है। `**परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है,...**' अब क्या है कि, यहाँ तो प्रयोग की चर्चा चलती

है, तो परप्रवेशभाव भी एक प्रयोग है, वह कोई विकल्प नहीं है। परप्रवेशभाव है वह भी प्रयोग है, वह कोई विकल्प नहीं है। दलील ऐसी आती है कि, 'अभी तो विकल्प है न ? यहाँ अभी तो विकल्प से समझ में आता है न ?' खुद का जो परप्रवेशभाव है वहाँ सिर्फ विकल्प है कि वास्तव में ऐसा अनुभव करता है ? चर्चा का विषय क्या है ? कि, उलटे अनुभव का मिलान सुलटे अनुभव के साथ करना है। विकल्प का मिलान नहीं करना है। विचार से मिलान करने का काम तो पूर्ण हुआ मंथन के काल में। वह भूमिका पूरी हुई। अब यहाँ तो चलते हुए अनुभव का मिलान करना है कि, इसमें सत्य क्या है, असत्य क्या है। थोड़ा ध्यान रखकर समझने जैसा है। क्योंकि यह अनुभव से समझने का विषय है।

प्रश्न :- विपरीत प्रयोग माने क्या ?

समाधान :- विपरीत प्रयोग में क्या है कि, यह जीव उलटा प्रयोग करता है। परपदार्थ में प्रवेश हुआ ऐसा अनुभव करता है। जैसे आत्मा मानो परपदार्थ में प्रवेश करता है या परपदार्थ आत्मा में प्रवेश करता है, ऐसा जीव को भीतर में अनुभव होता है। वह सिर्फ विचार नहीं है, वह उसका परिणमन ही है। केवल विकल्प नहीं है। जैसे कि यह मिठाई मीठी चीज़ है यह विचार है परंतु उसके मीठेपन का अनुभव (वह प्रयोग है)। (मिठाई) का मीठापन विचार में नहीं लगता है। भले ही उसका मीठापन समझ में आता हो। गुड़ मीठा है, शक्कर मीठी है (वहाँ) उसका मीठापन समझ में आता है लेकिन जब वह चीज़ जीभ पर आती है तब उस मीठेपन का अनुभव होता है। तो यह विचार और अनुभव में अंतर हुआ कि नहीं ? एक विचार है और दूसरा प्रयोग है, ऐसा कहना है। जब खुद मीठेपन का स्वाद लेता है तब वह मीठेपन का प्रयोगात्मक

ज्ञान है और जब सिर्फ मीठेपन का विचार करता है कि शक्कर मीठी है, तब वह विचारात्मकज्ञान है। इस प्रकार मीठेपन का ज्ञान विचारात्मक भी होता है और प्रयोगात्मक भी होता है। अब यहाँ चर्चा प्रयोग की चलती है। इस प्रकरण में विचार की चर्चा हमने आगे पूर्ण कर ली।

प्रश्न :- प्रयोग मतलब अनुभव - वेदन ?

समाधान :- हाँ, वेदन। वेदन को प्रयोग कहते हैं। चलते परिणमन में परिणमन होना उसे प्रयोग कहते हैं। क्योंकि हमें तो परिणमन लाना है न ? विचार कर-करके उससे वंचित नहीं रह जाना है। वरना तो कोई ऐसे कहेगा कि, ये सब तो ठीक है, सिर्फ बातें ही बातें करनी हैं परंतु ऐसा नहीं है, यहाँ परिणमन लाने की बात है।

प्रश्न :- विचारदशा में मिथ्याअनुभव और मिथ्यावेदन करता है ?

समाधान :- करता ही है। विपरीतता का सिर्फ विकल्प थोड़ी करता है ? वहाँ तो ऐसा कहता है कि, भाई ! सिर्फ मिठाई की तारीफ़ करने से पेट नहीं भरता। भूख लगे तब मिठाईवाले की दुकान के सामने खड़ा-खड़ा मिठाई की सुंगध ले, मिठाई का जी भर के दर्शन करे और इसकी तारीफ़ भी करे कि, बहुत अच्छी है... बहुत अच्छी है... तो इससे भूख कितनी शांत होगी ? वहाँ तो पता चलता है कि, खाये बिना पेट नहीं भरेगा। वैसे यहाँ परिणमन आये बिना शांति नहीं होगी। और अशांति नहीं मिटेगी। सिर्फ विचार, विकल्प और बातें करने से काम नहीं चलता।

कई लोग ऐसा व्यंग भी करते हैं कि, आपके वहाँ तो सब इकट्ठे होकर ज्ञान की बातें करेंगे और मानेंगे कि उसमें ही धर्म हो गया बस ! क्यों ऐसे देखते हैं ? (क्योंकि) वर्तमान जीवन के साथ इसकी सुसंगतता नहीं देखते हैं ! मुमुक्षु के वर्तमान जीवन

में या उसके साथ कोई प्रसंग आ पड़े, उदय प्रसंग - व्यवहार (प्रसंग) खड़ा हो तब उसको खयाल आता है कि, इसकी बातों में, विचारों में और इसके आपसी व्यवहार में बिलकुल साम्यता नहीं है ! भले ही अंतर हो लेकिन आंशिक मेलवाला तो होना ही चाहिए। पूर्णता का ध्येय हो तब साधकदशा में अधूरापन हो सकता है लेकिन बिलकुल विरुद्धता हो और कोई मेल ही न हो, यह तो उचित नहीं है। इस बात को तो सामान्यबुद्धि के मनुष्य भी समझ सकते हैं, उन्हें भी ऐसा लगता है कि, यह ठीक नहीं हो रहा है। जो चलता है वह ठीक नहीं है। ऐसा जो अभिप्राय खड़ा होता है उसमें भी कुछ तथ्य रहा है, बिलकुल तथ्यविहीन बात नहीं है। क्योंकि स्थूलबुद्धि में भी यह बात खयाल में आ जाती है।

श्रोता :- आत्मा का जो स्वभाव नहीं है फिर भी वह ऐसा अनुभव करता है कि, जैसे मैं आत्मा खुद पूरा का पूरा कड़ुआ हो गया !

पूज्य भाईश्री :- मैं कड़ुआ हो गया ! कड़ुआ रस मेरे में (आ गया)। पुद्‌गल का जो कड़ुआ रस है वह तो पुद्‌गल परिणाम है, (फिर भी) आत्मा उसमें तन्मय हो गया ऐसा अनुभव करता है। हकीकत में आत्मा के प्रदेशों को उसका स्पर्श तक नहीं हुआ है। क्योंकि एक जड़ है, एक चैतन्य है। वैसा अनुभव करे तो वह उसका विपरीत प्रयोग है।

जो बात विपरीत प्रयोग द्वारा दृढ़ हुई हो वह सिर्फ विचारमात्र से कैसे सुलटेगी ? विचार में कहाँ इतना बल है ? जो बात विपरीत प्रयोग से उलटी दृढ़ हो चुकी है उसे अविपरीत प्रयोग से सुलटानी होगी। ठीक है ? सामान्य दाग होगा तो पानी से निकल जाएगा, परंतु कोई गहरा दाग पड़ गया हो तो उसे निकालने के लिए तो तथारूप Solution या तथारूप Chemical होगा तब निकलेगा,

वरना नहीं निकलेगा। सामने भी ऐसी तेज़ चीज़ चाहिए कि नहीं चाहिए ? वैसे यह जीव को विभाव की आदत हो चुकी है, जिसके कारण इस जीव को संसाररोग है, जन्म-मरण का रोग है, विभावरोग ने जहाँ घर कर लिया है, इसकी दवाई भी इसके अनुरूप चाहिए न ? साधारण दवाई से कैसे मिटेगा ?

श्रोता :- इससे विपरीत तेज़ प्रयोग चाहिए इसके लिए।

पूज्य भाईश्री :- विपरीत के सामने अविपरीत। यानी कि विपरीत से विपरीत। परंतु उससे भी बलवान प्रयोग होना जरूरी है। जो चल रहा है उससे बलवान प्रयोग चाहिए। हालाँकि खुद के पास विभाव की अपेक्षा स्वभाव का बल अनंतगुना अधिक है, इसलिए ऐसा बल कहाँ से लाना यह चिंता करने की जरूरत नहीं है। वह तो खुद में मौजूद ही है। कर सकता है अगर करना चाहे तो।

`परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है, ऐसा अवलोकन से समझ में आता है तब उस भूल को मिटाने की सूझ...'** (यानी कि) यह भूल प्रयोग से मिटेगी ऐसी सूझ आती है, **`खयाल में आती है।' वरना संतोष हो जाएगा कि, शास्त्र पढ़ें और बात समझ में आ गई तो जैसे मुझे ज्ञान हो गया। भूल कहाँ पर होगी ? जैसे सुना, पढ़े, समझ में आया इसलिए मुझे ज्ञान हो गया ऐसा मान लेगा। उसको भूल मिटाने की सूझ नहीं आती है।

श्रोता :- क्षयोपशम में तो निर्णय बराबर कर लेगा।

पूज्य भाईश्री :- परलक्षी क्षयोपशम में, परलक्षी ज्ञान में आगम अनुसार निर्णय कर लेता है। दूसरों को ऐसा लगे कि, `आगम में जो कहा है वही बात इसकी समझ में बराबर है, (दिमाग में) बात बराबर बैठ गई है। इसलिए इसका ज्ञान बराबर है।' (लेकिन) गलत बात है। वह ज्ञान बराबर (यथार्थ) नहीं है। इस प्रकार की

भूलभूलैयाँ हो जाती है।

श्रोता :- अवलोकन में आए तो ठीक से समझे।

पूज्य भाईश्री :- उस वक्त ही उसे सही समझ होती है। क्योंकि अवलोकन में प्रयोग का अभ्यास है। इसलिए उसवक्त जीव को समझ में आता है कि, भूल ऐसे हो रही है, यह तब खयाल में आता है। तब वह '**भूल को मिटाने की सूझ खयाल में आती है।**' यानी कि '**सुलटे प्रयोग की रीत समझ में आती है।**' अभी यह उलटा प्रयोग चालू है। सुलटा प्रयोग ऐसे होगा। अतः यह भेदज्ञान है वह प्रयोगात्मक करना है, विकल्पात्मक नहीं करना है।

इस पद्धति के अभाव में हमारे यहाँ लोग क्या करते हैं कि, यह भेदज्ञान का विषय जब तक नहीं समझ में आये तब तक शास्त्र से ठीक तरह समझने की कोशिश करें और फिर ऐसा विकल्प करें कि, 'मैं राग नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ... मैं तो राग नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ... मैं ज्ञान हूँ, मैं राग नहीं।' वह कोई भेदज्ञान नहीं है, ऐसा विकल्प है वह भेदज्ञान नहीं है।

हकीकत में तो '**यह 'परप्रवेशभाव' ही जीव के स्वसंवेदन को रोकनेवाला भाव है।**' यह विषय 'अनुभवप्रकाश' में 'दीपचंदजी' ने लिया है। यह विषय ज़रा सूक्ष्मता से समझ ने जैसा है। परप्रवेशभाव में वेदकभाव है। जीव में जो वेदन का प्रकार है उसका Misuse है ! अस्थान में प्रयोग ! Misuse मतलब इसका अस्थान में प्रयोग है। जिसका वेदन कर नहीं सकता उसके वेदन के लिए वेदन करनेवाला भाव खींचता है। वेदन कर नहीं सकता इसलिए आकुलता होती है।

श्रोता :- ज्ञान का दुरुपयोग करता है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान का और ज्ञान में भी वेदन का, जानने

का नहीं। (ज्ञान में) दो भाव हैं न ? जानना और वेदन करना। उसमें यहाँ वेदन का दुरुपयोग है। जानने में तो पर जानने में आता है परंतु वेदन में पर का वेदन नहीं होता। 'ज्ञान' के Article में इस विषय पर थोड़ा स्पष्टीकरण किया है।

प्रश्न :- परप्रवेशभाव में कल्पना ले सकते हैं ?

समाधान :- है तो कल्पना परंतु वेदन संबंधित कल्पना है। क्या (होता है) ? कि, सच में मैं लड्डू खा रहा हूँ, मुझे सचमुच मीठा लगा, मीठापन जैसे मेरे में उतर गया और मुझे बहुत अच्छा लगा। जैसे जीभ द्वारा मीठापन आत्मा में उतर गया और उसे बहुत अच्छा लगा ! यह एकदम विपरीत अध्यास है। पुद्गल पुद्गल रहता है, जीव का ज्ञान जीव का ज्ञान (ही) रहता है। भ्रम से कल्पना करता है कि, मैंने मीठापन का वेदन किया, मैंने मीठापन को भोगा, मैंने मीठापन का अनुभव किया। ऐसा जो विपरीत वेदन का प्रकार है वह स्वसंवेदन का अनुभव नहीं करने देता।

ज्ञान ज्ञान का वेदन करे ऐसा जो स्वसंवेदन, उस स्वसंवेदन का अगर कोई प्रतिबंधक भाव है तो यह परप्रवेशभाव है। भेदज्ञान के अभ्यासपूर्वक परप्रवेशभाव का अभाव होते ही स्वसंवेदन तो स्वतः भीतर में मौजूद ही है जो कि आविर्भूत होकर अनुभवगोचर हो जाता है। स्वसंवेदन कर्तृत्वभाव से करनी पड़े ऐसी चीज़ नहीं है क्योंकि वह जीव का स्वभाव है। हालाँकि ज्ञान अपने वेदकभाव का त्याग कर ही नहीं सकता, परंतु परवेदन के अध्यास में और उसके लक्ष में रहे जीव को वहाँ अंधेरा लगता है। ज्ञान के वेदन में अंधेरा-सा हो जाता है। क्योंकि पूरा उसका वेदकभाव विपरीत होकर परिणमन करता है, पर में अटककर परिणमन करता है।

प्रश्न :- वास्तव में तो वेदन होता ही है न ?

समाधान :- वास्तव में ऐसा होता है परंतु अवलोकन करे तो उसे समझ में आए। यहाँ क्या है कि, परप्रवेशभाव को भी अवलोकन में लेना। परप्रवेशभाव को भी अवलोकन में लेना चाहिए कि ऐसा क्यों हो रहा है ? कैसे हो रहा है ? तभी उसकी सूक्ष्मता पकड़ में आएगी। उसकी सूक्ष्मता पकड़ में आते ही रस तो वहाँ टूट जाएगा। वरना वैसे तो परवेदन में तीव्र रस रहता ही है, जानने में इतना तीव्ररस न (भी) हो परंतु वेदन में तो रस तीव्र होता ही है, परंतु यदि अवलोकन में आए तो रस मंद हो जाए। रस ठंडा होवे तो ज्ञान में ज्ञान का वेदन क्या ? और पर का वेदन क्या ? इन दोनों के बीच जो अंतर है उसे वेदन द्वारा समझने का प्रसंग आएगा।

प्रश्न :- वर्तमान में चल रहे परिणमन में देखना है ?

समाधान :- हाँ, चलते हुए परिणमन में ही (देखने की) बात है, वरना तो विचार का विषय हो जाएगा। यह तो इसका नींव का सिद्धांत है कि, बात चलते हुए परिणमन की ही चलती है, व्यतीत हो चुके परिणामों का विचार करने की बात यहाँ पर नहीं चलती है। यहाँ यह विषय थोड़ा सूक्ष्म है। खुद का जो परप्रवेशभाव है उसे अवलोकन से समझे और ज्ञान में ज्ञानवेदन क्या है, इसका भी अवलोकन करने का प्रयत्न करे। क्योंकि **`यह `परप्रवेशभाव' ही जीव के स्वसंवेदन को रोकनेवाला भाव है।'**

`इस प्रकार भेदज्ञान के प्रयोगाभ्यास से मालूम पड़ता है कि कोई परज्ञेय (रागादि परभाव भी) वास्तव में...'** वह परज्ञेय में जाता है। **`मेरे पर - ज्ञान पर किंचित मात्र असर नहीं पहुँचा सकता है।' अब क्या है कि, ज्ञान में कोई विकृति नहीं ला सकता है। कोई ज्ञेय या कोई भी विभाव ज्ञान में विकृति नहीं ला सकता।

ज्ञान तो हमेशा ज्ञान ही रहता है। ज्ञान ज्ञान मिटकर अन्यथा हो जाए ऐसा कभी नहीं बनता। ज्ञेय का प्रतिबिंब अवश्य ग्रहण करता है, फिर भी वह ग्रहण करनेवाला भाव वह ज्ञान ही है, ज्ञेय नहीं। इतना ही नहीं, वह ग्रहण करनेवाला भाव ज्ञान की स्वच्छता व ज्ञान का धर्म होने से वह विकृति भी नहीं है। ज्ञान में ज्ञेय का प्रतिबिंब उठना वह ज्ञान की विकृति नहीं है। वह ज्ञान की आकृति है, विकृति नहीं। वह ज्ञेयाकार ज्ञान है, तो वह ज्ञान ही है। आकृति को मुख्य न करे तो वह ज्ञान ही है। बस, ज्ञान में तो ज्ञान ही है। ज्ञान में ज्ञान ही मालूम पड़ता है यह कहने के पीछे आकृति को गौण करने का हेतु है, लीजिए !

`गुरुदेवश्री' का वचन आता है न ? `समयसार' में भी आता है कि, ज्ञान में ज्ञान ही मालूम होता है। (`समयसार कलश') २७१ (नंबर के श्लोक में) लिया है न ? कि, ज्ञान ही ज्ञेय है, अन्य ज्ञेय है सो उसका ज्ञेय नहीं है। वास्तव में तो ज्ञान ही ज्ञान का ज्ञेय है। इसका मतलब क्या हुआ ? कि, अन्य ज्ञेयों की उपस्थिति होने पर भी और जानने में आते हो फिर भी इतने गौण हो जाते हैं कि, मुझे ज्ञेय जानने में नहीं आता मुझे ज्ञान ही जानने में आता है, ऐसा कहना चाहते हैं। वहाँ ज्ञान की मुख्यता करनी है (और) ज्ञेयाकार ज्ञान की गौणता करनी है, अत्यंत गौणता करनी है, उसे लक्षमें से दूर कर देना। क्योंकि उसके साथ मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, उसके साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। मैं उससे असंग तत्त्व हूँ, मैं ज्ञेय से असंग तत्त्व हूँ।

श्रोता :- अनादिकाल से इस परप्रवेशभाव के कारण विपरीतता होती रही फिर भी ज्ञान तो ज्ञान ही रहा है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान तो एक ऐसा अभेद किला है कि, जिसको

कोई भेद नहीं सकता। उसको कोई भेद नहीं सकता, तोड़ नहीं सकता, उल्लंघन नहीं कर सकता।

`समयसार' के निर्जरा अधिकार में एक दृष्टांत आता है कि, वैद्य जो है वह ज़हर खा ले तो भी नहीं मरता, उलटा अपने रोग को वह इससे मिटाता है। ज़हर खाकर क्या करता है ? रोग को मिटाता है। Poisonous (ज़हरीली) दवाई ली जाती है कि नहीं ? `संखिया'में से दवाई बनती ही है ! ज़हरमें से दवाइयाँ बनती हैं, सर्प के ज़हरमें से दवाइयाँ बनती हैं। ज़हर में वैसे तो मारने की शक्ति है परंतु एकांतरूप से ऐसा नहीं है। वह बात एकांतरूप से ऐसी नहीं है, जीवित रखने की शक्ति भी है ! ज़हर ज़हर का घातक है, तो जिसको ज़हर चढ़ गया हो उसको ज़हर उतारने के लिए इसका घातक ज़हर दिया जाए तब ज़हर ही ज़हर को जिवीत रखता है। वह तो जीवित रखता है, मारता नहीं; ऐसा हुआ कि नहीं ? वैसे कर्म के उदय में सामान्यतया नया कर्मबंध होने का निमित्तत्वरूप धर्म रहा है, उपादान(धर्म) नहीं। मिथ्यात्व का - मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो तब मिथ्यात्व होता ही है। कुछएक प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि, जिसके उदय में अविनाभावीरूप से सामने दर्शनमोह का भाव होता ही है। इसलिए उपशम के काल में सम्यग्दर्शन होता है, उदय के काल में नहीं होता। सम्यग्दर्शन है वह दर्शनमोह की कर्मप्रकृति का - मिथ्यात्व कर्म प्रकृति का अनुदय परिणाम है उदय परिणाम नहीं - उदयभाव नहीं, अनउदयभाव है। सम्यग्दर्शन उदयभाव में नहीं जाता, उपशमभाव में जाता है। वहाँ (`समयसार' में) ऐसा लिया है कि, सम्यग्दृष्टि का दर्शनमोह तो गया लेकिन चारित्रमोहवश भी नया बंध होगा कि नहीं होगा ? तो (कहते हैं कि) कर्म के उदय में, कर्मप्रकृति में नया बंध करने

का धर्म ज़रूर है, परंतु किसको ? कि, जिसको इसकी भिन्नता का ज्ञान न हो उसको। जो इससे भिन्न रहता है या वहाँ जो हेयबुद्धि से वर्तता है उसने कर्म के उदय की कर्मबंध करने की शक्ति को नष्ट कर दी है। जैसे ज़हर की मारने की शक्ति नष्ट कर दी है वैसे कर्म के उदय की नया बंध करने की शक्ति का उसने घात कर दिया है। वहाँ ऐसी बात ली है, शैली कैसी ली है ! वैसे ज्ञान को कोई विकृत नहीं कर सकता, ऐसा यहाँ लेना है।

`**भेदज्ञान के प्रयोगाभ्यास से...**' यानी कि अपने ज्ञान की बार-बार जाँच करने से खुद को `**मालूम पड़ता है...**' `**मालूम पड़ता है**' मतलब अनुभवज्ञान से समझ में आता है कि, `**कोई परज्ञेय** (**रागादि परभाव भी**) **वास्तव में मेरे पर - ज्ञान पर किंचितमात्र असर नहीं पहुँचा सकता है।**' ज्ञान निर्लेप रहता है, ऐसा कहना है। ज्ञान सदा निर्लेप रहता है, लिप्त नहीं होता।

`**अनंतकाल से मैंने परपदार्थ का अनुभव किया है ऐसी मान्यता रखी है,...**' (अर्थात्) अनेकप्रकार के परपदार्थ का मैंने अनुभव किया है ऐसा मान रखा है। अनंतकाल से अनंत पदार्थों का मैंने अनुभव किया है ऐसा मान रखा है। `**वह असत्य है।**' इस आत्मा को किसी भी पदार्थ का अनुभव नहीं हुआ, (सिर्फ) जानने में आये हैं। शक्कर मीठी है ऐसा आत्मा ने जब जाना तब आत्मा मीठा नहीं हो गया। ज्ञान कभी मीठा नहीं हुआ, हो सकता भी नहीं।

प्रश्न :- प्रयोग की शुरूआत में ऐसा नक्की करता है ?

समाधान :- हाँ, प्रयोग की शुरूआत में यह नक्की होता है, प्रयोग से यह नक्की होता है। नरक में तीव्र ठंड के क्षेत्र हैं, तीव्र गरमी के क्षेत्र भी हैं। वहाँ की गरमी का एक कण भी यहाँ

आ जाए तो हज़ारों मील में सब नाश हो जाए ! मृत्यु हो जाए, प्राणियों की मृत्यु हो जाए। तिर्यंचों के एवं मनुष्यों के प्राण छूट जाए। एक कण यहाँ आ जाए तो भी दस-दस हज़ार मील तक सारा विनाश हो जाए। (फिर भी) वहाँ जो आत्माएँ हैं उनके आत्मा का ज्ञान बिलकुल उष्ण नहीं होता। जो दुःखी होते हैं उसमें `मुझे गरमी लगती है' इसका दुःख है। `गुरुदेवश्री' के प्रवचन में बात आती थी कि, नरक में दुःख किसका है ? `यह मेरा उदय है' इसका दुःख है। दुःख किसको होता है ? जिसको `मेरा उदय' भासित होता है उसको। (वास्तव में) जीव को उदय है ही नहीं, ज्ञान तो केवल जानता ही है। वहीं पर मौजूद सम्यग्दृष्टि जीव सुखी हैं। दुःख का अनुभव नहीं करते, सुख का अनुभव करते हैं। `यह मुझे नहीं हो रहा, मुझे मालूम ज़रूर होता है परंतु वह मुझे नहीं होता है। मुझे स्पर्श नहीं कर सकता।' - (ऐसा) अनुभव करते हैं। `मुझे स्पर्श नहीं कर सकता। यह ठंड या यह गरमी, यह दुर्गंध मुझे स्पर्श नहीं कर सकते, मैं निर्लेप रहता हूँ।'

प्रश्न :- गरमी से मुझे जलन हुई ऐसा सिर्फ जानना, वेदन में नहीं आना, दो में क्या अंतर है ?

समाधान :- गरमी से उष्णता का ज्ञान होता है। जलता हूँ- ऐसे नहीं मालूम होता। गरमी में जलन पैदा करे ऐसी उष्णता है, तीव्र उष्णता है, ऐसा मालूम होगा; परंतु ज्ञान न तो जलता है, न तो दग्ध होता है नाहीं उस पर कोई जलने का दाग लगता है, न तो ज्ञान की राख होती है। दाग होता है न ? ज्ञान को क्या गरमी का दाग लग जाता है ? या ज्ञान की राख होती है ? ज्ञान जलकर क्या हो जाए ? ज्ञान को कुछ हो ही नहीं सकता। ज्ञानतत्त्व आत्मा ऐसा ही कोई अनंत सामर्थ्यवंत तत्त्व है

कि, उसको कुछ नहीं हो सकता !! तैंतीस सागर मतलब अरबों के अरबों साल (बीते) ऐसे क्षेत्र में आत्मा रहे (तो भी) वैसा का वैसा रहता है ! अपने सामर्थ्य में, अपने प्रदेश में कहीं पर भी जीव को नुकसान हो जाए, या कुछ और हो जाए यह वस्तुस्थिति नहीं है, ऐसा बन नहीं सकता। ऐसा अखण्ड, अभेद, अछेद्य, अभेद्य कीला वह है। (जिसको) भेदा नहीं जा सकता, छेदा नहीं जा सकता।

`**अनंतकाल से मैंने परपदार्थ का अनुभव किया है ऐसी मान्यता रखी है, वह असत्य है। अनंतकाल से रागादि भावों के असर में अनेकविध विकारीभावरूप अपने को अनुभव करके...**' यानी `मैं'पने अनुभव करके `**प्रगाढ़ रसवाले विकारी परिणाम के बीच रहने के बावजूद भी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।**' यह निर्लेपता उसको समझ में आती है। जब वह अपने ज्ञानतत्त्व को अवलोकन में लेता है तब उसे समझ में आता है कि, भूतकाल में गड़बड़ बहुत हो गई, काफ़ी रस ले लिया। परपदार्थ संबंधित तीव्र से तीव्रतम रस को गाढ़ किया, तीव्र से तीव्रतम रस लिया फिर भी ज्ञान तो ज्ञान ही रहा है, ज्ञान तो कोरा का कोरा ही रहा है। ज्ञान में किसी की मिलावट नहीं हो सकती। कल्पनाएँ बहुत की, बहुत से झूठ का वेदन किया, उलटा अनुभव बहुत तीव्रता से किया तो भी ज्ञान ज्ञानरूप ही रहा है। यह वस्तु की सुंदरता है। मेरा ज्ञानस्वरूप सदाय ज्ञानस्वरूप ही रहा है, `**निर्लेप ही रहा है।**'

`**अगर मोक्षार्थी जीव विशेष प्रकार की पात्रता में वर्तता हो और स्वहित में उत्साहित वीर्य से वर्तते हुए प्रत्येक कार्य में - प्रत्येक प्रसंग में, उपयोग में ज्ञान की व्यापकता को अवलोकता हो तो स्वयं `ज्ञानमात्र' रूप भिन्न भासित होता है।**' अपनी भिन्नता उसे भासित होती है। पहले उसको जुदाई भासित होती है। परपदार्थ को जानते

ही उसके साथ जो एकमेक हो जाता था, तो अब व्याप्ति को देखते हुए उसे ऐसा लगा कि, नहीं ! मैं भिन्न रहता हूँ। मेरा ज्ञानतत्त्व कहीं एकमक नहीं होता, कहीं भी उसकी व्याप्ति नहीं है और न तो मेरे ज्ञान पर किसी का असर आता है।

`**इसप्रकार `ज्ञानमात्रपने का' अभ्यास वृद्धिगत होने से `ज्ञानमात्र' में ज्ञानवेदन भास्यमान होता है।**' क्या (होता) है कि, जिस परप्रवेशभाव के कारण ज्ञान में ज्ञानवेदन है - यह जीव की पकड़ में नहीं आता था कि, ज्ञानवेदन क्या चीज़ है ? सुख-दुःख का वेदन, शीत-उष्ण का वेदन, मीठेपन या कड़ुआपन का वेदन - ये तो सब समझ में आते हैं परंतु ज्ञानवेदन क्या है ? यह जो खुद को पहले नहीं समझ में आता था वह खुद को भिन्नता द्वारा, खुद जो ज्ञानमात्ररूप भिन्न रहता है ऐसा भासित होने का जो बनता है तब ऐसी भिन्नता के बार-बार भास्यमानपने के कारण उसको खुद को ज्ञानमात्र में ज्ञानवेदन का भासन होता है कि, ज्ञान में ज्ञानवेदन रहा हुआ है।

`**वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता।**' अब यहाँ से नई दिशा खुल जाती है। जब अपनी निर्लेपता को देखते-देखते इसकी भिन्नता भासित होने लगी, और ज्यों-ज्यों भासन स्पष्ट होता जाए त्यों-त्यों दर्शनमोह की शक्ति कम होती जाती है, ज्ञान निर्मल होता जाता है और जीव को खुद को ज्ञानमात्र में ज्ञानवेदन भासित होने लगता है। वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। बाकी सब परोक्ष, मति-श्रुत में पूरा विषय परोक्ष है। एकमात्र वेदन के विषय को परोक्ष नहीं कहा जाता, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। क्योंकि परोक्ष कहने में और प्रत्यक्ष कहने में इतना फ़र्क है कि, बीच में जब कोई इन्द्रियादि परपदार्थ का निमित्त माध्यम के रूप में हो तब उस ज्ञान को

परोक्षज्ञान कहा जाता है और जब बीच में ऐसी परपदार्थ की निमित्तरूप मध्यस्थता न हो परंतु ज्ञान सीधा काम करे तब उसे प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। तो तब ज्ञान ज्ञान का वेदन करे इसमें माध्यम की क्या जरूरत है ? ज्ञान ज्ञान का वेदन करे इस बीच किसी माध्यम की जरूरत नहीं है। इसलिए वह प्रत्यक्ष है।

`**वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। अतः ज्ञानवेदन से स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष...**' है और अत्यंत प्रत्यक्ष है ऐसे `**सहज स्वरूप से है - ऐसे अपने मूल स्वरूप का भावभासन स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है,...**' यहाँ भावभासन हुआ तब निर्णय हुआ, यहाँ निर्णय हुआ। अतः निर्णय में प्रत्यक्ष तक का विषय आ गया। अपनी भिन्नता, अपनी वेदकता, अपनी व्यापकता और अपनी प्रत्यक्षता - यह सब इसमें स्पष्ट हो गया। ज्ञान स्वरूप अपेक्षा से भिन्न रहता है, कहीं भी नहीं व्यापता, अपने वेदनयुक्त ही है, उसके वेदन को छुड़ाया नहीं जा सकता और वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानलक्षण में जो इसका लक्षण प्रत्यक्ष है उस पर से लक्ष्य में रही हुई अनंत प्रत्यक्षता जो है इसका भाव भी जीव को भासित हो जाता है। यहाँ जीव को अपनी स्वरूप प्रत्यक्षता का भावभासन होता है।

इस विषय में तो प्रत्यक्षता के जो वचन आते हैं, वे कभी-कभी तो बहुत ज़ोरदार आते हैं !! `श्रीमद्‌जी' का एक वचन है - `आत्मा प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष है' ऐसा कहकर बात ली है। ७१० नंबर का पत्र है। `**आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है...**' (अज्ञानी) कहता है, `मुझे दिखता नहीं है।' (यहाँ कहते हैं) आत्मा है इतना ही नहीं (परंतु) आत्मा अत्यंत प्रगट है ! `**क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में है।**' यह प्रत्यक्षता का बोल है। क्योंकि स्वसंवेदन में तो प्रगटपना

है। यदि ज्ञान को ज्ञान का वेदन प्रगट अनुभवगोचर है तो आत्मा अत्यंत प्रगट है। दिखता नहीं है... दिखता नहीं है... दिखता नहीं है ऐसी बात क्यों करते हो ? ऐसा कहते हैं। यह तो अत्यंत प्रगट चीज़ है। `है' उसमें हयाती ली है, `प्रगट है' इसमें प्रत्यक्षता ली है और प्रत्यक्षता है इसके सबूत में स्वसंवेदन ले लिया है। इस तरह तीन बोल में पूरी बात ले ली है।

यहाँ क्या कहा ? `**अत्यंत प्रत्यक्ष सहज स्वरूप से है - ऐसा अपने मूल स्वरूप का भावभासन स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है,...**' यहाँ से अब पुरुषार्थ की दिशा बदली। पुरुषार्थ की दिशा जो परसन्मुख थी वह यहाँ जब प्रत्यक्ष भावभासन हुआ तब राग से हटकर, ज्ञानलक्षण को मुख्य करके, ज्ञान पर आकर उसने प्रत्यक्षता देखी। मतलब प्रत्यक्ष हुआ, अनंत प्रत्यक्ष हूँ ऐसा लगते ही पुरुषार्थ में सीधा ही उछाला आए बिना नहीं रहता। ऐसे स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ की उत्पत्ति यहाँ से हुई जो वृद्धिगत होकर सम्यग्दर्शन को प्रगट करेगा, यह बात यहाँ से लेनी है। विशेष लेंगे......

विधि :- अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे देखनेसे, जीवको मात्र ज्ञानका-सामान्यका ही अनुभव है । वहाँ ज़ोरसे स्वपना होनेसे अनेक ज्ञेयाकार व पर्यायत्व गौण हो जाते हैं; `स्वभावका आश्रय' लक्ष्यके कारणसे हो जाता है। स्वभावके आश्रयमें द्रव्य-पर्यायके भेद सहज ही निरस्त हो जाते हैं; क्योंकि स्वभाव द्रव्य-पर्याय भेदसे निरपेक्ष है। स्वभाव अनुभय स्वरूप है ।
(पूज्य भाईश्री `अनुभव संजीवनी' - ११४)

८ दि. २८-०२-१९९०

(`सुविधि' का प्रकरण चलता है)। `**उपरोक्त पात्रता में...**' (पात्रता में) मतलब जिसका दर्शनमोह मंद हुआ है। दर्शनमोह की मंदता को पात्रता कहा है। चारित्रमोह की मंदता यह कोई पात्रता नहीं है। ऊपर सिद्धांत लिया न !? `**दर्शनमोह मंद हुए बिना वस्तुस्वरूप का भासन होता नहीं और दर्शनमोह का अभाव हुए बिना आत्मा अनुभव में आये ऐसा है नहीं।**'

`**उपरोक्त पात्रता में आया हुआ जीव अंतर संशोधन में गहराई में जाता है तब स्वयं के `ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है।**' निर्णय करने में भी भेदज्ञान सहायक है, अनुभव करने में भी भेदज्ञान सहायक है, ऐसा कहना है। क्योंकि निर्णय करना मतलब ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय जब ज्ञानलक्षण से करना है तो वहाँ उस ज्ञान को, मात्र ज्ञान - अकेला ज्ञान - सामान्य ज्ञान को लक्षणरूप लेना होगा। परसन्मुख ज्ञान नहीं, अल्पज्ञान का अल्पज्ञत्व भी नहीं, ज्ञान के मति-श्रुत का कोई भेद भी नहीं और इन्द्रियज्ञान भी नहीं, इसमें से कुछ नहीं लेना है (बस) ज्ञानसामान्य !

प्रश्न :- पर्याय की ओर का लक्ष नहीं ?

समाधान :- पर्याय का लक्ष नहीं, पर्याय के भेद का लक्ष नहीं, गुणभेद का लक्ष भी नहीं और अन्य किसी गुण का लक्ष भी नहीं, क्योंकि दूसरे गुण से भी (आत्मा) पकड़ में नहीं आता। दूसरा कोई गुण प्रगटरूप नहीं है, ज्ञान प्रगट है।

प्रश्न :- देखता है पर्याय को ?

समाधान :- हाँ, क्योंकि प्रगट तो पर्याय में ही है न ? व्यक्त तो पर्याय में है। स्वभावअंश व्यक्त पर्याय में है। अपने व्यक्त अंश को देखे तो विश्वास आये। अनुमान में विश्वास नहीं आता। एक बात प्रत्यक्ष देखी हो और एक बात सिर्फ सुनी हो, तो सुनी हुई बात में तो शंका उठ सकती है, लेकिन प्रत्यक्ष देखी हुई बात में शंका कैसे उठेगी ? ऐसा कहना है। बल आने का कारण भी वही है। विश्वास पैदा होता है।

`स्वयं के `ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है :- इस विधि का प्रसिद्ध नाम `भेदज्ञान' है;...'** अर्थात् निर्णय करने की विधि भी भेदज्ञान है, अनुभव करने की विधि भी भेदज्ञान है, बार-बार अनुभव करने की विधि भी भेदज्ञान है और सिद्धपद तक पहुँचे तब तक **`सिद्धा ये किल केचन। भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।' ऐसा लिया। यानी कि विधि का प्रकार - कार्यपद्धति का प्रकार कहीं नहीं बदलता, एक ही प्रकार से है।

प्रश्न :- ऐसा भेदज्ञान अवलोकन से शुरू होता है ?

समाधान :- अवलोकनमें से भेदज्ञान होने की शक्यता खड़ी होती है। क्योंकि अवलोकन में ही प्रथम विभावभाव एवम् उसके रस का परिचय शुरू होता है, और दूसरी ओर ज्ञान में स्वभाव का परिचय होता है। जब दोनों जाति की परख आती है तब से भेदज्ञान होने

की शुरूआत होती है। पहचान के बाद भेदज्ञान शुरू होता है। पहले पहचान हेतु अवलोकन करना पड़ता है, बाद में भेदज्ञान करने में भी अवलोकन का प्रकार ऐसा है कि, वह जाँच करता है। भेदज्ञान हो नहीं जाता, परंतु भेदज्ञान का प्रयत्न शुरू होता है। जब प्रयत्न शुरू होता है तब तो अभी भेदज्ञान नहीं हुआ, किन्तु भेदज्ञान करने का प्रयत्न (शुरू) हो जाता है। तब उसे भी भेदज्ञान कर रहा है ऐसा कहा जाता है। सादी भाषा में (ऐसा कहते हैं कि) यह भेदज्ञान कर रहा है; (किन्तु वास्तव में) अभी भेदज्ञान का प्रयत्न हो रहा है। उसमें भी अवलोकन इस प्रकार चलता है कि, मेरे ज्ञान में राग का या परपदार्थ का आना-जाना, नफा-नुकसान, लाभ-नुकसान क्या होता है ? विकृति-अविकृति क्या होता है ? ऐसे अवलोकन चलता है। यह राग जो हुआ उसने ज्ञान में विकृति पैदा की या ज्ञान ने केवल प्रतिबिंबरूप दशा धारण की है ? परपदार्थ में - संयोग में नुकसान हुआ तब मेरे ज्ञान में कोई कमी आयी है क्या ? मेरे ज्ञानमें से कुछ चला गया क्या ? जो भी नुकसान हुआ इसमें क्या मेरे ज्ञानमें से कुछ कम हुआ ? ऐसी जाँच करता है। ऐसा अवलोकन होता है, इस प्रकार का अवलोकन (चलता है)।

श्रोता :- जो अवलोकन करता है, अवलोकन जिसको शुरू होता है उसके परिणाम में सरलता बहुत आने लगती है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, काफ़ी फ़र्क पड़ता है, बहुत फ़र्क पड़ता है। अवलोकन में जब जीव आता है तब हकीकत में वह अपना आत्महित करने के लिए तैयार, तैयारीवाला, पात्रतावान जीव है। भावना में - सच में भावना में आया हुआ जीव है। वरना बिना भावना अवलोकन नहीं कर सकता। भावना की तीव्रता (में आये)

बिना (अवलोकन नहीं होता)। वैसे ऊपर-ऊपर की भावना तो होती है परंतु जीव दूसरे काम में जीव लग जाता है - उदय के कार्य में जुड़ जाता है। परंतु तीव्र भावना हो तो जीव अवलोकन करते जाता है। यह फ़र्क पड़ता है।

`वहाँ प्रथम बुद्धिपूर्वक ऊपर-ऊपर से भेदज्ञान का प्रयास चालू होता है।**' यह प्रयास चालू होता है। **`प्रयास मतलब स्वयं मात्र जाननेवाला / ज्ञायक है ऐसे ज्ञायक का ज्ञायकरूप से अभ्यास करे...' `मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे रहने का अभ्यास करे, ऐसे देखने का अभ्यास करे। **`यानी उदय में जब-जब हर्ष-शोक के भावों के तीव्र रस के प्रसंगों में...**' मतलब सुख-दुःख के प्रसंग में, लाभ-नुकसान के प्रसंग में, शांति-अशांति के प्रसंग में जब रस तीव्र हो तब **`अपनी जाँच करे...**' `अपनी जाँच करे' मतलब `(**ज्ञान, ज्ञान की जाँच करे**)...' अपनी जाँच करे मतलब विभाव की जाँच करे सो बात नहीं, परंतु ज्ञान स्वयं ही प्रवर्तमान ज्ञान की जाँच करे। तो स्वयं को **`स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मेरे ज्ञान में...**' यानी कि मेरे में **`तो वास्तव में कुछ कम-ज्यादा हुआ नहीं...**' कुछ आता-जाता नहीं है, कोई कुछ नहीं करता, कर भी नहीं सकता है। **`अर्थात् हर्ष होने से मुझे कुछ मिला नहीं और शोक के प्रसंग में मेरेमें से कुछ गया नहीं।**' यह तो एक कल्पना हुई कि, मुझे नुकसान हुआ। कल्पना हुई कि, मुझे लाभ हुआ। दोनों में कल्पना ही हुई है। आत्मा को लाभ भी नहीं हुआ है, आत्मा को परपदार्थ का नुकसान भी नहीं हुआ है, कुछ नहीं हुआ है।

`यह सिर्फ विकल्प करने मात्र नहीं परंतु चलते हुए परिणमन में अपने अनुभव की जाँच करके मालूम पड़ी हुई भिन्नता है।' यह जाँच करके कहो चाहे अवलोकन करके कहो दोनों एक ही

बात हैं। **`बारंबार इस प्रकार भिन्नपने का अभ्यास...**' यह प्रयोगाभ्यास है। इस प्रकार का बारंबार भिन्नता का अभ्यास मतलब प्रयोग होने पर **`स्वयं को खयाल आता है...**' यानी विशेष भासित होता है। यहाँ खयाल आता है मतलब ऊपर-ऊपर से खयाल नहीं आता, परंतु भासित होने लगता है कि, **`मिथ्याबुद्धिरूप अध्यास से जो `परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है...**' वह झूठ है, वह मिथ्या है, झूठ है। वास्तव में मेरे में कुछ प्रवेश नहीं करता, मेरा ज्ञान किसी में प्रवेश नहीं करता - न तो राग में, न तो राग के विषयभूत पदार्थों में। ऐसा उसका झूठापन भासित होता है। अतः जब झूठापन भासित होता है तो इसमें तीव्रता आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वैसे मिथ्यात्व की तीव्रता कम होती है, मिथ्यात्व का - दर्शनमोह का रस यहाँ घटता है।

``परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है,...' यह स्वयं ही प्रयोग है। कोई प्रश्न पूछते हैं कि, प्रयोग मतलब क्या और प्रयोग करना कैसे ? तो यहाँ प्रयोग की कोई Theory नहीं समझनी है। अगर प्रयोग को समझना है तो अपने चलते हुए विपरीत प्रयोग की जाँच करे, उसे जाने, अनुभव करे और उस अनुभव पर से समझे कि प्रयोग क्या चीज़ है। यह प्रश्न उठता है न कि, प्रयोग माने क्या ? प्रयोग कैसे करें ? परंतु प्रयोग तो हो ही रहा है, प्रयोग तू कर ही रहा है। प्रयोग करना नहीं आता है, सो बात नहीं है, उलटा प्रयोग तू कर ही रहा है। उसी (उलटे) प्रयोग को सुलटाना है।

प्रश्न :- उलटा किस तरह चलता है ?

समाधान :- उलटा करता है - परप्रवेशभाव रूप। मुझे यह भाता है - यह उलटा प्रयोग है। `यह मुझे बहुत अच्छा लगा, यह मुझे

बूरा लगा, यह मुझे नहीं भाता, यह कडुआ लगता है, यह मीठा लगता है' - ये सब उलटे प्रयोग हैं। उलटा अनुभव कहो चाहे उलटा प्रयोग कहो (एक ही बात है)। सीधी बात तो इतनी है। प्रयोग तो अनुभव के साथ संबंध रखता है। विचार और अनुभव में अंतर रहता है। प्रयोग और अनुभव में अंतर नहीं। प्रयोग तो स्वयं ही अनुभवपद्धति है। कार्यपद्धति की - अनुभव करने की यह अनुभवपद्धति है। ``**परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है,...**'

वैसे तो क्या है कि, जीव खुद विचार नहीं करता है। इसलिए विचार में तर्क उठाता है कि, प्रयोग को कैसे कहना ? प्रयोग को हम समझ नहीं पाते हैं। परंतु यदि अवलोकन हो तो तुरंत पता चलता है कि, यह उलटा प्रयोग चल रहा है और यह सुलटा प्रयोग करना है।

श्रोता :- वेदन तो हो ही रहा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अनुभव तो कर ही रहा है। अनुभूतिस्वरूप भगवानआत्मा है। अनुभव तो कर ही रहा है परंतु मिथ्या अनुभव कर रहा है, अध्यासितरूप से अनुभव में रहता है।

`**विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है, ऐसा अवलोकन से समझ में आता है तब उस भूल को मिटाने की सूझ खयाल में आती है।**' कि, सुलटा प्रयोग करना चाहिए। अभी उलटा प्रयोग हो रहा है, ऐसी सूझ आती है। मूल में तो ऐसी सूझ का अभाव रहता है। मुमुक्षुजीव तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर लेता है (और) मानता है कि, मुझे अब ज्ञान हुआ। क्योंकि खुद कुछ समझने लगा है और यत्किंचित् समझा भी सकता है। परंतु भीतर में प्रयोग की सूझ का अभाव रहता है। तो वास्तव में वह तत्त्वज्ञान नहीं है, वह तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का एक भ्रम मात्र है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई,

मुझे तत्त्वज्ञान है, यह एक नया भ्रम है। वास्तव में तो वह तत्त्वज्ञान है ही नहीं। विकल्प को समझ मान लेता है। विकल्प के साथ विचारज्ञान जरूर है परंतु वह तो बिलकुल खोखला है ! हलका-सा उदय का धक्का लगते ही कहाँ गया पता नहीं चलता, ऐसे खो जाता है। थोड़ा-सा उदय बदलता है, Normal उदयमें से कुछ इधर-उधर हुआ कि कहाँ गया इसका पता तक नहीं चलता। इतना भीतर में खोखलापन है।

`**समझ में आता है तब उस भूल को मिटाने की सूझ खयाल में आती है। अर्थात् सुलटे प्रयोग की रीत समझ में आती है। यह `परप्रवेशभाव' ही जीव के स्वसंवेदन को रोकनेवाला भाव है।**' समझने जैसा विषय यह है कि, कितना बड़ा नुकसान है ! खुद को जो स्वसंवेदन आना चाहिए, जिस स्वसंवेदन में प्रथम ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, जिस स्वसंवेदन में अपूर्व आनंदअमृत का स्वाद आता है। एक बार इस अमृत को पीने से जीव अजर-अमर हो जाता है। इसको बड़ा नुकसान यह परप्रवेशभाव करता है। वैसे जीव को मीठा लगता है, अपने संयोग - अनुकूल संयोग जीव को मीठे लगते हैं। प्रतिकूल संयोग जीव को कडुए लगते हैं। कडुए मतलब अप्रिय लगते हैं। परंतु ये दोनों प्रकार के परिणाम जीव के स्वसंवेदन के रोधक हैं। बहुत बड़ा प्रतिबंध है, बहुत बड़ा अवरोध है। स्वसंवेदन को प्रगट होने में - इसकी उत्पत्ति में यह बहुत बड़ा अवरोध है।

`**इस प्रकार भेदज्ञान के प्रयोगाभ्यास से मालूम पड़ता है कि कोई परज्ञेय (रागादि परभाव भी) वास्तव में मेरे पर - ज्ञान पर...**' ज्ञान पर मतलब मेरे पर `**किंचितमात्र असर नहीं पहुँचा सकता है।**' यहाँ से ज्ञानसामर्थ्य भासित होता है। क्यों ? `**अनंतकाल से**

मैंने परपदार्थ का अनुभव किया...' ऐसा माना। वास्तव में अनुभव कर नहीं सका, परंतु तीव्र रसपूर्वक अनुभव कर लिया, ऐसा माना। अनुभव करते समय तीव्र रस लिए तो भी वह प्रकार ज्ञान में अध्यासरूप विकृति उत्पन्न न कर सका, ज्ञान के साथ एकमेक न हो सका। ऐसा (उलटा) अनुभव किया वह सब `**असत्य है।**'

`**अनंतकाल से रागादि भावों के असर में...**' `**असर में**' मतलब उसमें एकमेक होकर - एकत्वरूप होकर `**अनेकविध विकारीभाव रूप अपने को अनुभव करके...**' (अर्थात्) मैं विकारी हुआ, रागी हुआ, क्रोधी हुआ, मानी हुआ, मनुष्य हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ - ऐसा अनुभव करके `**प्रगाढ़ रसवाले विकारी परिणाम के बीच रहने के बावजूद भी...**' ऐसे प्रगाढ़ रसरूप विकारी परिणाम सहित परिणमन होने पर भी `**मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।**' (अर्थात्) ज्ञानतत्त्व तो ज्ञानतत्त्व ही रहा है। यह ज्ञान का अनंत सामर्थ्य है। यह रागपरक और संयोगपरक ज्ञान के सामर्थ्य का विचार है। स्वयं के ज्ञानसामर्थ्य का विचार इस पर से आता है कि, मेरे में अनंत ज्ञान रहा है। जब मेरा सामर्थ्य अनंत है तो मेरा ज्ञान भी अनंत है। इस ज्ञान की अनंतता भासित होती है, सुख की भी अनंतता भासित होती है। जब ज्ञान की और सुख की अनंतता भासित हो तब उसे स्वरूपनिर्णय हुआ ऐसा जानना, तब तक स्वरूपनिर्णय नहीं है। तब तक जीव के निर्णय में `पर में और राग में सुख है' - ऐसा उलटा निर्णय अभी कायम रहा है, इसमें कोई फेरफार नहीं हुआ।

निर्णय के समय सारी दुनिया बदल जाती है कि, ये राग और पर में सुख माना था वे सुख से शुन्य हैं। मेरा ज्ञानतत्त्व - आत्मतत्त्व अनंत सुख से भरा है। अनंत ज्ञान और अनंत सुख से भरा है।

अपने अनंत ज्ञान और अनंत सुख की अनन्यरुचि होती है। अनन्यरुचि उसे अन्यरूप रहे, ऐसी परिस्थिति में नहीं रहने देती। इसका नाम `अनन्य रुचि' है। इस प्रकार `**मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।**' (ऐसा भासित होता है)।

`**अगर मोक्षार्थी जीव विशेष प्रकार की पात्रता में वर्तता हो...**' `विशेष प्रकार की पात्रता' मतलब मुझे सिर्फ मेरा एक आत्मतत्त्व ही चाहिए, मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। (`बहिनश्री के वचनामृत') में पात्रता के विषय में यह बात ली है। `**और स्वहित में उत्साहित वीर्य से वर्तते हुए प्रत्येक कार्य में...**' इसे भूल नहीं जाता। बाद में इतनी अधिक दरकार उत्पन्न होती है कि `**प्रत्येक कार्य - में प्रत्येक प्रसंग में,...**' और कभी-कभी तो प्रति क्षण `**उपयोग में ज्ञान की व्यापकता को अवलोकता हो तो स्वयं `ज्ञानमात्र' रूप भिन्न भासित होता है।**' (अर्थात्) मेरी व्याप्ति न तो राग में है, न तो मेरी व्याप्ति शरीर में है, (और) नाहीं मेरी व्याप्ति परपदार्थ में भी है - मैं तो ज्ञानमात्ररूप से ज्ञान में ही व्याप्त हूँ। इस प्रकार भिन्नता और व्यापकता (भासित होती है)।व्यापकता के आधार से जिसको भिन्नता भासित हुई और वह भासित होने का अभ्यास वृद्धिगत हुआ वह `**अभ्यास वृद्धिगत होने से `ज्ञानमात्र' में ज्ञानवेदन भास्यमान होता है।**' अब यहाँ इसकी गहराई हाथ लगी। भेदज्ञान में आगे बढ़ने पर इसकी गहराई हाथ लगी।

प्रश्न :- व्यापकता माने क्या ?

समाधान :- व्याप्ति का मतलब क्षेत्र से व भाव से मर्यादा निश्चित हो जाना। भाव से रागभाव में खुद की व्याप्ति नहीं है, क्षेत्र अपेक्षा से शरीर में भी व्याप्ति नहीं है, एक क्षेत्र में दोनों होने पर भी। भाव से राग में व्याप्ति नहीं है और क्षेत्र से शरीर में व्याप्ति नहीं

है, फिर आगे की बात तो कहने की जरूरत नहीं रहती। यह तो एकदम स्पष्ट है कि, अन्य किसी भी कार्य में मेरी व्याप्ति नहीं है। सांयोगिक अन्य किसी भी कार्य में मेरी व्याप्ति नहीं है।

ज्ञान की व्याप्ति ज्ञान में है और ज्ञान से आगे कहीं इसकी व्याप्ति नहीं है। अवलोकन बिना यह समझ में आना मुश्किल है। इसके अंतर अवलोकन बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती। कुछएक बातें ऐसी हैं जो विचार के स्तर से आगे की बातें हैं। फिर वह विचार की मर्यादा में नहीं समझ में आती। उसे समझने के लिए थोड़ा और आगे चलना होगा।

जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव है वहीं पर कर्ता-कर्म संबंध है। जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है वहाँ कार्य करने का कोई संबंध कर्ता को नहीं रहता यानी कि आत्मा को नहीं रहता। यह तो `श्री समयसारजी' के पूरे `कर्ता-कर्म अधिकार' की मूल सैद्धांतिक घूँटी है।

प्रश्न :- तो क्या ये सब विकल्प में बिठा रखा है ?

समाधान :- विकल्प में बिठा लिया है इसलिए पर में व्याप्तिरूप - परप्रवेशभाव का अनुभव कर लेता है। विकल्परूप (ज्ञान) कितना व्यर्थ जाता है ! विचाररूप ज्ञान कैसे व्यर्थ जाता है ! व्यवहार में इसका कोई उपयोग ही नहीं है, जीव को इसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता। अतः वास्तव में वह समझा ही नहीं है, ऐसा कहते हैं ! जिस बालक को सौ रुपये की नोट का मूल्य पता न हो, उसको यदि सौ रुपये की नोट खेलने दी जाए तो ? फाड़ने लगेगा या चबाने लगेगा, बालक को क्या मालूम है ? दस-बारह महिने का बालक हो उसे नोट दे दें, जैसे बच्चे को हाथ में देते हैं न ? लीजिए भाई, बच्चे के हाथ में सौ रुपया देते

हैं। तो क्या उसके हाथ में रहने देगा ? अगर रहने देगा तो उसका गोला बनाकर मुँह में डाल देगा ! उसकी चक्षुइन्द्रिय में रंग, अंक का प्रतिबिंब तो जैसे बड़े को होता है ऐसा ही बालक को होता है, लेकिन इसका मतलब उसे सौ रुपया का ज्ञान है, ऐसा कह सकते हैं ? उसको सौ रुपये का ज्ञान नहीं है। वैसे (यहाँ) पुस्तक पढ़े, इसका शब्दार्थ करे, भावार्थ करे और विकल्प की - राग की मुख्यता में सब लंबा-लंबा चाहे कितना भी विचार कर ले, परंतु वह कोई सही समझ नहीं है।

श्रोता :- अवलोकन में आये बिना इसकी सफलता नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- अवलोकन में आये बिना वास्तव में तो समझ हुई ही नहीं। रोटी बनाने जाये तभी पता चलता है कि, यह रोटी बनाने का ज्ञान क्या चीज़ है ? वरना तब तक भले ही रोज़ देखता है, पता भी हो कि ऐसे रोटी बनती है, परंतु वह समझ वास्तविक समझ नहीं है। उसको जब रोटी बनानी होगी तब नहीं बनेगी, खाने के काम वह नहीं आएगी, पेट नहीं भरेगा।

अतः जब व्यापकता द्वारा भिन्नता का अभ्यास बार-बार चलता है तब ज्ञान थोड़ा विशेष निर्मल होता है। निर्मल होने पर जीव को ज्ञानमात्र में ज्ञानवेदन का भासन भी होता है। अब ज्ञानवेदन और प्रत्यक्षता को सीधा संबंध है। यहाँ से प्रत्यक्षता तक पहुँचने की पूरी Link शुरू हो जाती है। आत्मा अनंत प्रत्यक्ष स्वरूपरूप है वहाँ तक ज्ञान लक्षण द्वारा पहुँचना कैसे बनता है ? क्योंकि दूसरे (गुणों में) ऐसा प्रकार नहीं है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का प्रकार श्रद्धा में नहीं है, चारित्र में नहीं है, आनंद में नहीं है, किसी में नहीं है। ज्ञान के अलावा प्रत्यक्ष-परोक्ष का पहलू दूसरे गुणों में नहीं है - उत्पन्न नहीं होता। इसलिए ज्ञान से ग्रहण होता है। लक्षरूप

आत्मा ज्ञानलक्षण से ग्रहण होता है और अन्य (दूसरे गुणों) से ग्रहण नहीं होता इसका यही कारण है। वैज्ञानिक कारण है। अन्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद ही नहीं है।

`टोडरमलजी' की `रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में प्रश्न उठाया है कि, `हमें प्रत्यक्ष श्रद्धा हुई है ऐसा कुछ समझाईये' तो कहते हैं `भाई ! श्रद्धा में तो प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद ही नहीं है।' वहीं से चर्चा की है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद तो ज्ञान में आता है। आत्मा अनंत प्रत्यक्ष है - ऐसी स्वयं को प्रत्यक्षता भासित हुए बिना खुद की हयाति संबंधित निःशंकता कैसे आएगी ? जो सत्ता सम्यग्दर्शन को ग्रहण करती है, उस सत्ता के विषय में प्रत्यक्षता भासित हुए बिना निःशंकता आयेगी कहाँ से ? इसलिए वह पूरी Line इसमें ली है कि, `**ज्ञानवेदन भास्यमान होता है।**'

`**वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। अतः ज्ञानवेदन से स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष,...**' खुद प्रत्यक्ष और अत्यंत प्रत्यक्ष `**सहज स्वरूप से है - ऐसा अपने मूल स्वरूप का भावभासन...**' होता है और यह भावभासन `**स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है।**' यह भावभासन हुआ वह स्वरूपनिर्णय है। भावभासन हुआ तो स्वरूप का लक्ष हुआ और सर्व शास्त्रों का निमित्तत्व, सर्व शास्त्रों की रचना, सर्व शास्त्रों का लक्षरूप ध्येय (यह स्वरूप निर्णय ही है)। क्यों इन शास्त्रों का स्वाध्याय करना ? कि, `**लक्ष थवाने तेहनो**' ऐसा जो आत्मा का लक्ष हो - भावभासन हो इसके लिए `**कह्यां शास्त्र सुखदायी**' `**जिनपद निजपद एकता**' खुद का जिनपद भासित होता है। मैं स्वयं ही साक्षात् जिनेन्द्र हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ, इसमें कोई फ़र्क नहीं है ऐसा निजपद में भासित होता है। देहपद में निजपद दिखता था वह छूटे और स्व में स्वपद भासित हो तब उसे लक्ष

हुआ, ऐसा कहा जाएगा। भावभासन हुआ, ऐसा कहा जाएगा। अभी अनुभव तो बाद में होगा परंतु प्रथम भावभासन होता है।

यहाँ इस प्रकार दर्शनमोह मंद हुए बिना... इस हद तक कभी नहीं हुआ। दर्शनमोह तीव्र-मंद, तीव्र-मंद होता है। जैसे चारित्रमोह होता है वैसे, परंतु इतनी हद तक दर्शनमोह कभी मंद नहीं हुआ कि, जिसमें भावभासन हो। इतना दर्शनमोह मंद हुए बिना यानी कि भावभासन हुए बिना भाव भासित नहीं होता। भावभासन न हो तब तक अनुभव में नहीं आ सकता।

श्रोता :- सूक्ष्म विचार में जाये तब मान लेता है कि मुझे भावभासन हुआ।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह सूक्ष्म विचार भी प्रयोग के आगे स्थूल है। प्रयोग में (जितनी) समझ की सूक्ष्मता है उतनी सूक्ष्मता विचारज्ञान में कभी नहीं आती। परंतु स्थूल विचार का परिचय बहुत है, इसमें से जब सूक्ष्म विचार में जाता है तो उसे लगता है कि, मुझे भाव भासित हुआ। यह बात सत्य है। मुमुक्षुजीवों को इस प्रकार का भ्रम होने की संभावना है, कइयों को हो भी जाता है। वह तो चारित्रमोह में जैसा होता है वैसा ही इसमें है। कषाय की तीव्रता का बहुत परिचय है, (अतः) मंद हो, बहुत मंद हो तब उसे ऐसा लगता है कि, मुझे कुछ आत्मा की शांति हुई। जीव को ऐसा लगता है कि, मैं आत्मा के कल्याण मार्ग पर हूँ। वह जैसे चारित्रमोह में भूल खाता है वैसे यहाँ ज्ञान में भूल खाता है। ज्ञान का बहिर्लक्षी क्षयोपशम और चारित्र का बहिर्लक्षी क्षयोपशम - दोनों भूलावे में पड़ने के कारण हैं और इसके भेद-प्रभेद भी बहुत हैं। यानी भूलावे में आ जाने के हज़ार ठिकाने हैं - ऐसा कहा जाता है।

`**ऐसा अपने मूल स्वरूप का भावभासन...**' यहाँ तक कल चला

था। `**स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है।**' यहाँ से पुरुषार्थ की भूमिका शुरू होती है और यहाँ से भेदज्ञान की प्रायोगिक प्रक्रिया जो है इसमें सहजता आयी। सहजता मतलब ज्ञानदशा की जो पूरी-पूरी सहजता होती है इतनी नहीं, परंतु उसका अनुसरण यहाँ से शुरू हुआ। अब वह ज्ञानदशा में (आ जाएगा)।

काफ़ी पंडित लोग इस बाबत में थोड़ी भूल करते हैं कि, ज्ञानी को भी मति-श्रुत का क्षयोपशम है और हमें भी मति-श्रुत का क्षयोपशम है। (क्योंकि) है तो अभी क्षयोपशम ज्ञान ही न ? कभी-कभी तो भीतर में ऐसा भी लगता हो कि, ज्ञानी को इतना क्षयोपशम नहीं है जितना हमारा है !! हमारा तो बहुत है, क्योंकि हमारा वांचन काफ़ी है, हमारी विचारशक्ति ज्यादा है, हमारी तर्कशक्ति भी काफ़ी है ! `न्यायालंकार' होते हैं न ? ये सब डिग्री - उपाधियाँ लगाई जाती हैं न ? उसे लगता है कि, हमने काफ़ी न्यायों को समझा है। बड़े-बड़े न्यायशास्त्र पढ़े हैं। कर्मशास्त्रों का पाठी हो तो कर्मग्रंथों को पढ़ा है (ऐसा लगेगा)। ज्ञानी तो इतने पाठी नहीं भी हो ! (पंडितों को लगता है कि) उन्हें भी मति-श्रुत है, हमें भी मति-श्रुत है, इसमें क्या ज्ञानी... ज्ञानी... (करते हो) ? इतनी भी क्या ज्ञानी कि विशेषता दिखाते हो ? कुछ समझ में नहीं आता है। (लेकिन) भाई ! उनका ज्ञान जात्यांतर हुआ है। वही मति-श्रुत भवनिवृत्ति का हेतुरूप है, तेरा मति-श्रुत भवप्रवृत्ति का हेतुरूप है। बहुत बड़ा अंतर है। `श्रीमद्‌जी' ने प्रसिद्ध वचन से यह बात की है।

श्रोता :- द्रव्य ही शुद्धतारूप परिणमन करता है ।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, `राजमल्लजी' तो यहाँ तक कहते हैं। `श्रीमद्‌जी' ने तो पर्याय की बात की, `राजमल्लजी' ने तो द्रव्य

की बात की है कि, सम्यग्दृष्टि जीव का द्रव्य ही शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है। क्योंकि प्रश्न यह उठा कि, राग तो उन्हें भी होता है ? जैसा राग हमें - संसारियों को होता है वैसा ही राग उनको भी होता है। हमे - संसारि के राग में और उनके राग में वैसे तो कोई अंतर नहीं दिखता। न तो उनकी प्रवृत्ति में फ़र्क दिखता है, न तो इनके राग में फ़र्क दिखता है, शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के राग तो होते हैं। तो कहते हैं कि, उनके द्रव्य ने शुद्धत्वरूप परिणमन कर लिया है। वहाँ से बात उठायी - उन्होंने द्रव्य की बात ली, पर्याय की बात नहीं ली। यानी कि, वह द्रव्यप्रधान पर्याय का कथन है। हमलोग जिस विवक्षा का विचार करते हैं इसमें भी है तो पर्याय का ही कथन। क्योंकि परिणमन कर रहा है न ? परंतु द्रव्यप्रधान पर्याय का वह कथन है। उनका द्रव्य ही शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है। `राजमल्लजी' ने ऐसा कहा। इसका मतलब कि इनका राग है वह राग नीरस है, रूखा है, वे राग से भिन्न हो चुके हैं। राग और उनको जैसे कोई संबंध ही नहीं है ! उन्हें राग नहीं है, ऐसा कहा जाता है।

(`समयसार') `निर्जरा अधिकार' में तो यही बात ली है कि, ज्ञानी को राग का अभाव होने से निर्जरा है। परपदार्थ के कार्यों के बीच वह दिखता होने पर भी, परपदार्थ को भोगता है फिर भी उसको बंध नहीं है। क्योंकि राग का अभाव है, ऐसा कह दिया ! (तो क्या) राग नहीं है ? राग तो दिखता है। तो कहते हैं कि, है फिर भी नहीं है। उनका द्रव्य ही शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है। बहुत सुंदर गूढ़ भाषाप्रयोग किया है !! Tone बहुत अच्छा है, विवक्षा में भी ऐसी बातें - गहन बातें रही हैं। बहुत अच्छी ध्वनि है ! उनका द्रव्य ही शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि के परिणाम द्रव्य का अनुसरण करके ही चलते हैं ?

समाधान :- स्वयं शुद्धात्मा है और यह शुद्धात्मा शुद्धात्मारूप ही परिणमन कर रहा है। जैसे **`अमृतचंद्राचार्यजी'** ने लिखा कि, **`ज्ञानादन्यत्करोति किम्' `आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।'** वह कैसे कर सकता है ? सोना लोहरूप परिणमन कैसे कर सकता है ? ऐसा कहते हैं। वैसे ज्ञान अज्ञानरूप परिणमन कैसे करे ? हमारा ज्ञान अज्ञानरूप परिणमन नहीं करता। पुण्यभाव भिन्न दिखते हैं, पापभाव भिन्न दिखते हैं। पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ दोनों होते हैं किन्तु दोनों भिन्न दिखते हैं और स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अनुभव में आता है। यह एक ऐसा विषय है कि, यह विषय यदि समझ में आ जाए तो उसे तत्त्व समझ में आए और यही अगर समझ में नहीं आया तो तत्त्व समझ में नहीं आएगा। `समयसारजी' का जो मूल रहस्यभूत विषय है वह यही है। `श्रीमद्‌जी' को जो बार-बार लिखना पड़ता है कि, `प्रवृत्ति में समाधि है... प्रवृत्ति में समाधि है...' वहाँ इसी बात को कहना चाहते हैं। वे अपनी जीवंतदशा से बात करते हैं ! `यहाँ उपाधि है, उपाधि में समाधि है।' लेकिन ये उपाधि और समाधि दोनों बातों का मेल कैसे है ? तो कहते हैं कि, जो समझना है वह यही तो समझना है। इसीका नाम अनेकांत है। एक पर्याय में अलग-अलग प्रकार की दो बातें ! यह जब तक समझ में न आए तब तक तत्त्व समझ में नहीं आया।

जब तक ज्ञानी की ज्ञानदशा समझ में नहीं आती है तब तक ज्ञानदशा की पकड़ जिस पर है वह आत्मा भी समझ में नहीं आता है। क्योंकि वह दशा आत्माकार हुई है। जब व्यक्त आत्माकार दशा भी समझ में न आती हो तो अव्यक्त आत्मा कब समझ में आयेगा ?

प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए भगवान `कुंदकुंदाचार्यदेव' ने इस दशा के बारे में कहा कि, **`जिणसासणं सव्वं'** जाओ ! हम इसे समस्त जिनशासन कहते हैं ! पूरा जिनशासन यहाँ समाविष्ट है। इसलिए इस पर (हमने) एक नया संकलन (पुस्तक) तैयार किया **`जिणसासणं सव्वं'** - यह जिनशासन है।

(यहाँ कहते हैं) ऐसा (स्वसन्मुखता का) पुरुषार्थ **`वृद्धिगत होने पर कोई अपूर्व पराक्रम से परोक्षपने का विलय...'** होता है। क्योंकि स्वयं सहज प्रत्यक्ष है - ऐसा प्रत्यक्षता का बल वर्तमान परिणमन में जो परोक्षता है उसे तोड़ देता है, वह टिक नहीं सकती। ऐसा बल उत्पन्न हो जाता है कि, `मैं तो यह प्रत्यक्ष हूँ न!' फिर उसकी अवस्था में परोक्षता नहीं रह सकती, ज्यादा टिक नहीं सकेगी। अतः ऐसा पुरुषार्थ **`वृद्धिगत होने पर कोई अपूर्व पराक्रम से...'** यानी कि एक ऐसी मात्रा तक वह बढ़ता जाता है कि परोक्षपने का विलय करता है या परोक्षता को उत्पन्न नहीं होने देता और **`अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्थिरभाव...'** (यानी कि) आत्मा में स्थिर उपयोग ऐसा **`अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्थिरभाव धारण करेगा।'**

**`इस प्रकार का भेदज्ञान वह विभाव के निषेधपूर्वक प्रगट स्वभाव का आदर-सत्कार है।'** दूसरे प्रकार से देखे तो जिसमें विभाव का निषेध हुआ है (अर्थात्) `विभाव सो मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ' - ऐसे अपने त्रिकाली स्वभाव का सत्कार कहो चाहे त्रिकाली स्वभाव का आदर कहो, इसीका दूसरा नाम `भेदज्ञान' है। भेदज्ञान विधि-निषेधरूप जीव की प्रवृत्ति है। भेदज्ञान क्या है ? साधकजीव की विधि-निषेधरूप प्रवृत्ति है। ऐसे साधकजीव को लक्ष के स्थान में - आश्रय के स्थान में - अपने मूल स्वरूप के स्थान में त्रिकाली तत्त्व यह अपना स्वरूप है। स्वरूप है उसमें प्रवृत्ति नहीं है। दो

बात में अंतर क्या समझना है ? प्रवृत्ति प्रवृत्ति के स्थान में है, लक्ष्यरूप स्वरूप लक्ष्य के स्थान में है। स्वरूप अपने लक्ष के स्थान में है - लक्ष के विषयभूत स्थान में है। ज्ञान में एकसाथ दो बात हुई - एक भेदज्ञान की प्रवृत्ति और दूसरा लक्ष्य। दोनों बातें ज्ञान की पर्याय में रहती है। लक्ष में लक्ष का विषयभूत त्रिकाली स्वस्वरूप है और प्रवृत्ति में विधि-निषेध चलता है। एक ही पर्याय में यह प्रकार एकसाथ चलता है। ज्ञान अनेकांतिक है, ऐसा अनेकांतिक प्रवृत्तिवाला ज्ञान है। ज्ञान की तो कितनी बातें करें !! ऐसा है।

प्रश्न :- यह पूर्णता का लक्ष बाँधता है तब से विभाव का निषेध चालू हो जाता है ?

समाधान :- हाँ, तब से ही जीव को विभाव के विषय में नकार आना शुरू हो जाता है। नकार मतलब निषेध चालू हो जाता है - `यह नहीं, यह नहीं।' परंतु ज्यों-ज्यों अवलोकन चलता है त्यों-त्यों विभाव का विशेष परिचय बढ़ता है। अतः विभिन्न जाति के विभाव हैं, जैसे कि मन की शांति भी विभाव है तो उसका नकार आता है। विभाव में तो - ज्ञान परसत्ता क अवलंबन लेता है वह ज्ञान का विभाव है। परसत्तावलंबनशीलज्ञान को कोई भी ज्ञानी मोक्षमार्ग मानते भी नहीं और कहते भी नहीं - यह बात `बनारसीदासजी' ने ली है।

परसत्तावलंबनशील में तो `गुरुदेवश्री' ने एक बार प्रवचन में यहाँ तक बात ली थी कि, गणधरदेव का जो उपयोग बारह अंग की रचना हेतु अंतर्मुहूर्त में प्रवृत्ति करता है... प्रथम दिव्यध्वनि में सुनते ही गणधरदेव का क्षयोपशमज्ञान इतना विशेष खुल जाता है... निर्मलता बहुत है, छठे-सातवें गुणस्थान में विराजते हैं (इसलिए) बारह अंग की रचना कर सकते हैं। ऐसा जो द्रव्यश्रुत का उपयोग वह

परसत्तावलंबनशील है। फिर दूसरे की तो बात क्या करें ?

विभाव की जाति की परख है इसका मतलब क्या ? सिर्फ कषाय को परख लेता है इतनी बात नहीं है। किसी भी गुण का जितना भी विभाविक परिणमन है उन सबको समझ सकता है। इसको कहते हैं विभाव की जाति समझ में आयी ।

`परमार्थ की तीव्र भावना में वर्तते जीव को इस प्रकार का भेदज्ञान प्रयासरूप से सहज होना योग्य है।' अगर वह भेदज्ञान की प्रवृत्ति में न आये तो वास्तव में जीव को परमार्थ की भावना है ही नहीं, यह बात बिलकुल साफ है। यहाँ से अनर्पित लिया है। जब परमार्थ की भावना में वर्तते जीव को इस प्रकार का भेदज्ञान होना सहज संभव है तो जिसको नहीं होता है इसका अर्थ कि जीव भावना में आया ही नहीं। उसको अभी परमार्थतत्त्व की जरूरत नहीं है, उसे पाना नहीं है। यह बात स्पष्ट है। अभी उसको कुछ और चाहिए - यह बात निश्चित है। माने चाहे न माने, कहे या न कहे, परंतु इसमें कोई पोल चले ऐसा नहीं है।

प्रश्न :- अभी ये स्वरूपनिश्चय की ही भूमिका चलती है ?

समधान :- हाँ, क्योंकि बाद में तो सम्यग्दर्शन तक पहुँचेगा, इसलिए एक ही पैराग्राफ में इसका संक्षेप कर डाला है। आखिर में जो बड़ा पैराग्राफ है उसमें वह (लिया है)। आगे फिर विषय का विस्तार नहीं किया है। इसके पहले के विषय का ही पूरा विस्तार लिया है।

श्रोता :- `पूज्य गुरुदेवश्री' का ४५ सालों का दोहन यही है, और कुछ नहीं है।!

पूज्य भाईश्री :- `गुरुदेवश्री' ने तो अनेक अपेक्षाओं से बहुत-सी बातें की हैं, बहुत बातें की हैं। वैसे भी कहते हैं कि, भेदज्ञान

तो ज्ञानी का जाप है। क्या कहते हैं ? ज्ञानी का जाप है ! करना नहीं पड़ता। सहज-सहज उनका अखण्ड जाप है। वही जीवन है, वही साधक का जीवन है।

`**भेदज्ञान के प्रयोग से** (**अनादि से जो राग की मुख्यता अर्थात् राग में मैं पना / राग में अस्तित्वपना ग्रहण हो रहा है उसको**)...' पलटाते हैं। भेदज्ञान एक प्रक्रिया है, ऐसा कहना है। नीचे आखरी पंक्ति में लिया है - भेदज्ञान है वह एक प्रयोग है, एक प्रक्रिया है, एक Process है। अब उलटे Process के सामने यह सुलटा Process है, ऐसा कहते हैं। उलटा Process क्या है ? कि, अनादि से अभेदज्ञान हो रहा है। अभेदज्ञान हो रहा है मतलब क्या ? अभेदरूप से जानना, सो बात नहीं। अनादि से राग की मुख्यता हो रही है अथवा अनादि से राग में `मैं पना' अथवा राग में अस्तित्वग्रहण होता आया है। अब बिना अवलोकन यह कैसे समझ में आयेगा ?

राग में अस्तित्वग्रहण, लीजिए शब्द तो इतने हैं। अब इसका भाव समझना है। यह तो परिणमन कर रहा भाव है। ज्ञान को - उपयोग को वहाँ ले जाए और अवलोकन में ठीक से इसकी जाँच करे, इसकी चिकित्सा करे, इसकी परीक्षा करे, तब जीव को राग में अस्तित्व - `मैं' पनेरूप हयाति कैसे पकड़ कर रखी है (यह समझ में आता है)। इसको अस्तित्वग्रहण कहते हैं। ऐसा जो अनादि से हो रहा है उसे भेदज्ञान के प्रयोग द्वारा `**ज्ञान में मैं पना द्वारा...**' अथवा `**ज्ञान को मुख्य करने से...**' इस ज्ञान को मुख्य करते हुए (`समयसारजी' के) `निर्जरा अधिकार' यहाँ तक बात ली है कि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय - सब प्रकार के ज्ञान एक मात्र सामान्य ज्ञान को ही अभिनंदित करते हैं, एक ज्ञानपद की ही स्तुति करते

हैं। इसलिए ज्ञान की मुख्यता करने के लिए क्या कहा कि, इतना ही अनुभवनीय है जितना यह ज्ञान है, इतना ही कल्याण है जितना यह ज्ञान है। इतना ही सत्य है अथवा सत्ता है जितना यह ज्ञान है। २०५ और २०६ गाथाएँ इस प्रकार ली हैं। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... करके क्यों इस तरह बात लेते हैं ? (क्योंकि) ज्ञान में `मैं पना' नहीं करता है। ज्ञान में अपनत्व कराना है। राग में `मैं पना' चल रहा है वहाँ से उठा लेना है।

`गुरुदेवश्री' ने एकबार अंगत चर्चा में एकांत में बहुत संक्षेप में यह बात की थी कि, देखो ! दो गुण एक साथ परिणमन कर रहे हैं - ज्ञान और चारित्र। एक समय में दोनों गुणों का परिणमन चल रहा है। ऐसे (दो) अँगूली दिखाते हुए कहा, अब `राग सो मैं' ऐसा चल रहा है इसके बदले `ज्ञान सो मैं' इतना ही करना है, बस ! इसमें ज्यादा कुछ नहीं है। मूल में तो क्या था कि, वह गाथा (स्वाध्याय में) चल चुकी थी। तो उन्होंने कहा `गाथा चल गई, आपकी याद आयी थी, आप उस दिन व्याख्यान में नहीं थे।' मैंने पूछा `इसमें मूल तत्त्व क्या था ?' तब कहा `इतना ही है, इसका मूल तत्त्व इतना ही है।' इतना है कि ज्ञान की मुख्यता माने क्या ? राग की मुख्यता माने क्या ? यह अवलोकन द्वारा समझे। मुख्यता करना नहीं आता है सो बात नहीं है। मुख्यता तो कर ही रहा है। क्योंकि मुख्य-गौण करना यह छद्मस्थजीव का परिणमन है, और वह भी ज्ञान में ही होता है। वह भी किसी दूसरे गुण का परिणमन नहीं है। `ज्ञान' के प्रकरण में वह बात ली है - प्रत्यक्ष-परोक्ष, मुख्य-गौण - दोनों बातें ली हैं। खुद मुख्यता अस्थान में कर रहा है- अनात्मा में कर रहा है।

`**ज्ञान में मैं पना द्वारा ज्ञान को मुख्य करने से...**' ज्ञान ऐसे

ही मुख्य नहीं होगा। **`ज्ञान में मैं पना द्वारा ज्ञान को मुख्य करने से रागादिभावों में अभेदबुद्धि से वर्तने से कर्तापने का नाश होता है।**' इसका नाश होता है। क्या हो रहा है ? ज्ञान में `मैंपना' द्वारा ज्ञान को मुख्य करने से कर्तृत्व का नाश होता है। कैसे? कि, रागादि भावों में अभेद बुद्धि से प्रवर्तन करने से जो कर्तृत्व हो रहा था उस कर्तृत्व का यहाँ नाश होता है। कर्ता-कर्मपना कहो, राग का एकत्व कहो, राग में अस्तित्वग्रहण कहो, राग में तन्मयता कहो, व्याप्यव्यापकता कहो, अभेदता कहो या मुख्यता कहो सब एकार्थ है। वह इस प्रकार नष्ट होता है।

**`यह स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया (Process) है।**' भावभासन का दूसरा नाम `स्वरूपअस्तित्वग्रहण' भी है। ज्ञानमय जो सत्ता है वह मैं हूँ, ऐसा भासित हुआ। अभी तो भासित हुआ कि उसने अस्तित्व ग्रहण किया, ऐसा कहते हैं। यह बात `श्रीमद्‌जी' ने ली है कि, `एकबार भी अगर अस्तित्व का ग्रहण कर ले तो फिर यह अस्तित्व ग्रहण वह सम्यक्त्व का अंग है।' पीछे लिया है न? अस्तित्वग्रहण है वह सम्यक्त्व का अंग है। ऐसा अस्तित्व ग्रहण होना यानी कि निर्णय होना अर्थात् भावभासन होना अर्थात् इसका लक्ष होते ही प्रकृति की पीछेहट होने लगेगी, वह ज़ोर नहीं खायेगी। प्रकृति ज़ोर नहीं खा सकेगी।

**`ज्ञान में मात्र ज्ञान को स्वरूप से अवलोकन करने का दृष्टिकोण साध्य करके...**' जो कुछ सिखने का है वह यही है। ज्ञान में मात्र ज्ञान को - मात्र `ज्ञ' पना उसे स्व-रूप में (अवलोकन करे)। किसी परतत्त्व को नहीं देखना है। अवलोकन तो राग का भी होगा, अवलोकन तो ज्ञान का भी होगा। राग में खुद का अभाव है इसलिए उसके अवलोकन की फलश्रुति राग पर है, ऐसा आयेगा। ज्ञान

की ज्ञान में अवलोकन होने की फलश्रुति स्वपना - ज्ञान में स्वपना होगा। वह इसकी फलश्रुति है। फलश्रुति कहो या Result कहो (दोनों एक ही हैं)।

`ज्ञान में मात्र ज्ञान को स्वरूप से अवलोकन करने का दृष्टिकोण साध्य करके बारंबार प्रयत्न करने से...**' इस प्रकार बारंबार ज्ञान को स्व-रूप में अवलोकन में लेने का पुरुषार्थ करने से - प्रयत्न करने से **`ज्ञान की स्वभाव जाति की परख आती है;...' इसलिए फिर ज्ञान के विभाव में भूल नहीं खाता। ज्ञान की स्वभावजाति की परख आने से परसत्तावलंबनशीलज्ञान को कभी वह खुद की प्रक्रिया नहीं मानेगा, जैसे राग को नहीं मानता वैसे। मुमुक्षुजीव कहाँ भूल करता है ? कि, दो-चार घण्टे शास्त्र का स्वाध्याय करे तो उसे ऐसा लगे कि, आज तो मैंने बहुत काम किया ! आज तो काफ़ी स्वाध्याय कर डाला !! लेकिन भाई ! तेरा ज्ञान परसत्तावलंबनशील उपयोग चला या स्वसत्तावलंबन (उपयोग) चला? यह तो विचार कर। तू तो अभी बाहर ही बाहर फिरता है फिर भी बहुत किया ऐसा मानते हो !!

(उपरोक्त प्रकार से) **`बारंबार प्रयत्न करने से ज्ञान की स्वभाव जाति की परख आती है; तब विभावजातिवाले भावों की भी परख आती है; इसलिए विभाव का कोई भी रूप - अति शांत मन की शांति के रूप में हो तो भी वह विभाव ही है, ऐसी पहचान आती है, और उस विभाव की मलिनता तथा आकुलता पहचान में आ जाती है।**' अब, चारित्रगुण में जो राग का परिणमन है उसमें मलिनता है। ज्ञान का जो विभाव पर अवलंबन में जाता है वह राग की उत्पत्ति का कारण है, वह मलिनता की उत्पत्ति का कारण है। हालाँकि आकुलता तो दोनों ही उत्पन्न करते हैं - राग

भी आकुलता उत्पन्न करता है और परसत्ता का अवलंबन भी आकुलता उत्पन्न करता है और विपरीतता तो दोनों विभाव में है। स्वभाव अपेक्षा से केवल अंतर्मुख स्वभाव जो (है) इससे तो दोनों की विरुद्धता है। राग की भी विरुद्धता है और परसत्ता के अवलंबन में भी विरुद्धता है।

विभाव के तीन मुद्दे हैं (१) विभाव की विपरीतता (२) विभाव में मलिनता (३) विभाव में आकुलता। आकुलता और आकुलता का कारण ऐसे दो भेद लिये जाते हैं। (`समयसारजी' की) ७२ वीं गाथा। `वह दुःख, दुःखफल जानकर' ऐसे (बात ली है)। दुःख और दुःख का फल यानी कि दुःख का कारण। दुःखफल कारण वह दुःख।

श्रोता :- शांत मन का दूसरा रूप धारण करके आये तो भी विभाव है !

पूज्य भाईश्री :- चाहे कोई भी रूप लेकर आये, धोखा नहीं खायेगा। फिर वह धोखा नहीं खाता। उसका ज्ञान धोखा नहीं खाता। ज्ञान इतना विकसित हो जाता है। ज्ञान ज्ञान के भावभासन में बारंबार के अभ्यास द्वारा भावभासन होता है। यह बात `गुरुदेवश्री के वचनामृत' में ली है कि, ज्ञान में बारंबार के अभ्यास से भावभासन होता है। जैसे आटे में सिर्फ पानी डाल देने से कनिक नहीं बन जाती। पानी डालने के बाद उसे अच्छी तरह मसलते हैं तब रोटी बनने के योग्य पिंड बनता है। सिर्फ पानी डाल देने से रोटी नहीं बन जाती। वैसे ज्ञान मतलब सिर्फ ज्ञान, ऐसे नहीं। ज्ञान में `केळवणी' (बारंबार के अभ्यास द्वारा प्राप्त कुशलता) भी एक ज्ञान ही है। यह चीज़ ज्ञान में विशेष समझने की है।

श्रोता :- `केळवणी' मतलब अवलोकन ?

पूज्य भाईश्री :- `केळवणी मतलब केळवणी' जिसमें धोखा न खा जाए ऐसा होना वह, परिपक्वता आनी इसका नाम (`केळवणी')। जैसे आटे में पानी डाला (फिर) जो उसे मसलते हैं इसमें रोटी बनने योग्य परिपक्वता जब तक नहीं आती है तब तक मसलते हैं। ठीक से नहीं मसला हो तो रोटी बराबर नहीं बनती। या तो आटा फट जाएगा, या ज्यादा पानी डाल दिया होगा तो रोटी बेलना मुश्किल होगा, चिपकने लगेगी। या तो तवे से चिपकेगी या चकले से चिपकेगी, या तो बेलन से चिपकेगी। अतः `केळवणी' है वह परिपक्वता प्राप्त करने का विषय है। ज्ञान तो ज्ञान है लेकिन ज्ञान में परिपक्वता आनी चाहिए, तब भाव भासित होता है।

दुनिया में भी ऐसा ही है, लड़का पचीस साल का हो जाए, पढ़ाई पूरी करके कालेज छोड़ने पर दुकान पर बिठाते हैं - गद्दी पर (बिठाते हैं।) `बैठ, गद्दी पर बैठ। मैं जैसे बैठता था वैसे बैठ !' ऐसा कहेगा। सेठ बैठता हो वहाँ अपने बेटे को बिठायेगा। भले ही Staff में उससे भी ज्यादा होशियार लोग हो। मुख्य मेनेजर को भी अपनी गद्दी पर नहीं बिठायेगा, लड़के को बिठायेगा। अभी नासमझ हो, कुछ आता नहीं हो फिर भी किसको बिठायेंगे ? उसका वारिस है इसलिए उसको बिठायेंगे। लेकिन उसको व्यापार एकदम नहीं सौंप देते। `तुझे अभी बिठाया जरूर है लेकिन अभी तुझे तैयार करना है।' क्या कहेगा ? इसको अभी सब सिखाकर तैयार करना होगा। पढ़ा-लिखा तो जरूर है परंतु अभी अनुभव द्वारा तैयार होना यह दूसरी बात है। उसको फिर व्यापार का अनुभव द्वारा देते है। यूँ ही कोई व्यापार सौंप देते हैं क्या ? कि, कर दे खरीदना और बेचना शुरू ! ऐसे तो कुछ इधर का उधर कर देगा ! उसको दुकान पर बिठाकर गढ़ना पड़ता है। व्यापार में इसका

व्यापारिक अभ्यास करना अलग बात है, पढ़ाई का अभ्यास करना दूसरी बात है। ऐसा है कि नहीं ? उसको कहेंगे कि, `तू थोड़ा अनुभव प्राप्त कर, छः महिना, बारह महिना तू अनुभव प्राप्त कर। कोई काम तेरे हाथ से बिगड़ भी सकता है लेकिन बिना इसके तुझे अनुभव प्राप्त नहीं होगा। तेरे हाथ से तू सब काम कर। दूसरे लोग ने बहीखाता लिख दिया और तूने देख लिया ऐसे नहीं, तू भी लिख। तो तू Acount करना सिखेगा। लिखते वक्त तुझे पता चलेगा, सिर्फ देख लेने से पता नहीं चलेगा।' इस प्रकार सब काम उसके हाथों करायेंगे, तब जाकर वह सिखेगा। यह अनुभवज्ञान की गढ़ाई है। जगत में भी ऐसे ही तैयार होना पड़ता है कि नहीं ?

श्रोता :- Theory और Practical में फ़र्क है।

पूज्य भाईश्री :- फ़र्क है, फ़र्क है सो तो फ़र्क है ही। अपनी काठियावाडी भाषा में इसके लिए खास शब्द है, जिस तरह उसे तैयार करते है न ? तब उसके लिए खास शब्द आता है `पळोटे छे', `पळोटे छे' ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? `हजी तेने दुकाने बेसाडीने पळोटवो पड़शे' ऐसा कहते हैं। गढ़ाई के बाद जब परिपक्वता आ जाती है फिर उसको लगाम सौंप देते हैं। अब कोई ज़ोखिम नहीं है, विश्वास आ जाए कि, अब ज़ोखिम नहीं है तब तक सीखने के लिए काम देंगे। व्यापार का काम सीधा नहीं देंगे, सीखाने के लिए काम देंगे।

समय हो चुका है... यहाँ तक रखते हैं।

९ दि. ०१-०३-१९९०

`सुविधि' का प्रकरण चलता है। `**ज्ञान में मात्र ज्ञान को स्वरूप से अवलोकन करने का दृष्टिकोण साध्य करके बारंबार प्रयत्न करने से ज्ञान की स्वभाव जाति की परख आती है;...**' क्या प्रकार है यहाँ पर ? कि, भीतर में अवलोकन चले इसमें चलते हुए ज्ञान के पर्याय में अपना अस्तित्व - `मैं'पना है कि नहीं ? यह जाँच करनी है। `मैं' पना राग में हो रहा है यह भूल है, तो वह भूल तो पहले समझ में आती है फिर ज्ञान में `मैं-पना' होता है कि नहीं ? या ज्ञान में अपनत्व देखना है - अवलोकन में लेना है, इस प्रकार का प्रयत्न बारंबार करने से स्वभाव भासित होता है। स्पष्टता ऐसी है कि, ज्ञान जब ज्ञान को अवलोकन में लेता है तब ज्ञान में अपनापन है इसका खयाल आता है और ज्ञान में अपनत्व का खयाल आने पर जीव को अपने स्वभाव की जाति कैसी है (इसकी परख आ जाती है)। स्वभाव में केवल ज्ञानगुण नहीं है परंतु स्वभाव कहते ही उसमें अनंतानंत गुण आ जाते हैं। ऐसी स्वभावजाति की परख आती है।

स्वभाव और विभाव प्रतिपक्षरूप होने से `**तब विभाव जातिवाले भावों की भी परख आती है;...**' दो प्रकार के भाव एकसाथ परिणाम में हैं जिसको एकत्व के अध्यास के कारण जीव अलग नहीं कर

सकता है और अलग नहीं कर सकता है वही उसको परिभ्रमण का - जन्म-मरण का कारण होता है। वही अनंतानुबंधी है, वही दर्शनमोह है, वास्तव में तो यही परिभ्रमण के चक्र को फिरने की धुरा है। अतः इन दोनों भावों को अलग करने का जब तक नहीं बन सकता है - विभाव और स्वभाव को अलग छाँटने का जब तक नहीं बन सकता है तब तक धर्म के क्षेत्र में आत्मा का कल्याण होने की कोई परिस्थिति नहीं है, कोई अवकाश नहीं है।

श्रोता :- ज्ञान को पहचाने बिना विभाव को पहचान सकेगा नहीं।

पूज्य भाईश्री :- नहीं पहचान सकता। सिर्फ विभाव के अवलोकन से विभाव की पहचान नहीं हो सकती। स्थूल भावों का खयाल आयेगा लेकिन सूक्ष्म भावों में धोखा खा जाएगा। मंद कषाय में धोखा खा जाएगा, ज्ञान के बहिर्लक्षी उघाड़ में भी धोखा खा जाएगा।

`**इसलिये विभाव का कोई भी रूप - अति शांत मन की शांति के रूप में हो तो भी वह विभाव ही है,...**' और शास्त्र के अनुकूल ज्ञान हो तो भी शास्त्र के अवलंबनभूत ज्ञान की पर्याय हो तो भी वह हकीकत में स्वभाव नहीं है। शास्त्र में देव, गुरु - दोनों आ जाते हैं। पर देव की सत्ता परसत्ता है, गुरु की सत्ता भी परसत्ता है, शास्त्र की सत्ता भी परसत्ता है। `**वह विभाव ही है, ऐसी पहचान आती है, और उस विभाव की मलिनता तथा आकुलता...**' और विपरीतता तीनों `**पहचान में आ जाती है।**' तीनों समझ में आते हैं। यहाँ तो अभी परख की बात है। अब, ज्ञान में स्वभावजाति को पहचाना उसमें क्या-क्या आया ? तो निम्न पैराग्राफ से इसका अनुसंधान है।

`**प्रगट ज्ञान में स्वभावअंश का विकास** (-**खुलापन**) **होने से...**' (अर्थात्) चलते हुए ज्ञान के उपयोग में स्वभाव खुला होने से - स्वभाव आंशिकरूप से खुला होने से। क्योंकि त्रिकाली स्वभाव तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में व्याप्त है, पर्याय में पूरा-पूरा नहीं है, परंतु वह कोई टुकड़े के रूप में भी नहीं है। द्रव्य, गुण, पर्याय में स्वभाव के तीन टुकड़े नहीं होते। वह तो एक अखण्ड तत्त्व है अतः इसके एक अंश पर से पूरे अंशी का ही ग्रहण होता है।

`**प्रगट ज्ञान में स्वभावअंश का विकास** (**- खुलापन**) **होने से स्वभाव की अनंत शक्ति / सामर्थ्य,...**' सामर्थ्य अपेक्षा से स्वभाव का अनंत सामर्थ्य और `**शाश्वतपना...**' यानी अनादिअनंतपना। अपना अनादिअनंतपना और अपना अनंत सामर्थ्य `**आदि का निर्णय हो सकता है।**' स्वभावअंश पर से अखण्ड स्वभाव के अनंत सामर्थ्य का और इसकी नित्यता का - शाश्वतता का निर्णय हो सकता है।

श्रोता :- इसमें ज्ञानगुण तो एक ऐसा है कि जो स्वभाव के अंश बराबर है।

पूज्य भाईश्री :- वह स्वभावअंश को प्रतिसमय अभिव्यक्त करता है। ऐसा नहीं है कि किसी एक समय भी वह न हो। जब भी यह जीव चाहे तब उसको वह साधन उपस्थित ही है। इसलिए तो `संवर अधिकार' में ज्ञानक्रिया आधार है और ज्ञान आधेय है, ऐसा लिया है। उसको आधार लिया है क्योंकि वहाँ से मालूम पड़ता है, उसके द्वारा मालूम पड़ता है। इसलिए उसे आधार कहा और `क्रिया' शब्द इस्तेमाल किया है - ज्ञानक्रिया आधार है। इसलिए परिणाम का विषय लिया है। मूल गाथा में तो `उपयोग' शब्द ही इस्तेमाल किया है। उपयोग शब्द तो त्रिकाली में भी इस्तेमाल होता है और पर्याय में भी इस्तेमाल होता है परंतु `क्रिया' शब्द है यह त्रिकाली को लागू नहीं पड़ता।

`**जिसे राग के छोटे से छोटे कण में दुःख, मलिनता और**

अचेतनपने का (-ज्ञानप्रकाश के अभाव का) निर्णय होता है;...' ऐसा निर्णय युक्ति से नहीं, आगम से नहीं, न्याय-तर्क से नहीं, अनुमान से नहीं `(**परंतु अनुभव के अवलोकन से**) **उसको ज्ञानलक्षण द्वारा स्वभावस्वरूप में स्थित अनंत सुख-सामर्थ्य का भी निश्चय होता है।**' दोनों निश्चय साथ में होते हैं। यानी कि निर्णय बदल गया। राग में और परपदार्थ में जो सुखाभास था उसे सुखाभास के बजाय वास्तविक सुख माना था - वास्तविक सुख का निर्णय जो था वह निर्णय यहाँ बदलता है। वहाँ दुःख है, वहाँ मलिनता है, वहाँ चैतन्य से विपरीत ऐसा अचेतनत्व है - जड़त्व है। उसे ज्ञानलक्षण द्वारा स्वभावस्वरूपभूत भरा हुआ अनंत सुख और अनंत ज्ञान सामर्थ्यरूप है ऐसा निश्चय होता है। प्रगटरूप है ऐसा नहीं, सामर्थ्यरूप है ऐसा निश्चय होता है लेकिन वह अवलोकन द्वारा, सिर्फ विचार द्वारा नहीं।

`**अवलोकन में चेतना... चेतना... चेतना...**' अथवा ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान.... ज्ञान... ऐसे ज्ञान के `**सातत्य द्वारा अपना चेतना-गुणमयपना,...**' यह स्वभाव है। चेतना... चेतना... चेतना... मात्र ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... पने जो सतत रहता है इसके द्वारा `**अपना चेतना-गुणमयपना, परद्रव्य से तथा राग से अपने को भिन्न करने का एकमात्र साधन है, इसके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है।**' शास्त्र के कुछएक अभ्यासी विद्वतजन आत्मा को `सत्ता' से भिन्न बताते हैं, कोई तो अन्य-अन्य प्रकार से भिन्न बताते हैं, अरूपीपने से भिन्न बताते हैं, कोई त्रिकाली से भिन्न बताते हैं लेकिन ज्ञान के अलावा कोई साधन नहीं है। इसके अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है।

`समयसारजी' में यह ४९ वीं गाथा में लिया है। यह गाथा

पाँचों परमागम में और `धवल' (ऐसे) छः ज़गह पर एक ही गाथा आयी है। उसमें `जीव चेतनागुण-' वहाँ से गाथा शुरू की है न ? `**अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है...**' चेतनागुण में ऐसा लिया है। `**अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है इसलिए (जीव) चेतनागुणवाला है।**' (अर्थात्) चेतनास्वभाववाला है। `**कैसा है चेतनागुण ?**' यह चेतनागुण कैसा है ? कि जो समस्त अन्य प्रकार की मान्यतारूप विपर्यास को नष्ट करनेवाला है। एक चेतनागुण ऐसा है कि, यह चेतनागुण जैसा है वैसा यदि जीव की समझ में आ जाए, लक्ष में आ जाए, पहचान में आ जाए तो विपर्यास नहीं रहेगा। समस्त विपर्यास को नाश करनेवाला है। और `**जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है,...**' यहाँ पर भेदज्ञान का अनुसंधान किया। चेतनागुण से आत्मा अलग पड़ता है - भिन्न पड़ता है और भिन्न पड़ने का यह एक ही साधन है। अनादि संसारी जीव को अन्य कोई साधन नहीं है। अतः अन्य साधन का व्यर्थ परिश्रम या शक्ति और समय का दुर्व्यय करने जैसा नहीं है। यह चेतनागुण जब तक जीव की समझ में न आये तब तक इस ज्ञान द्वारा अपने चलते हुए ज्ञान का अवलोकन करता रहे। अगर इतनी मेहनत भीतर में करेगा तो निबेड़ा आयेगा। इसके अलावा अन्य किसी प्रकार का प्रयत्न करेगा तो वह सारी मेहनत बेकार जाएगी, आत्मा भिन्न नहीं हो सकेगा।

श्रोता :- द्रव्यलिंगी मुनि ने ग्यारह अंग और नौ पूर्व की जानकारी की फिर भी यह नहीं किया।

पूज्य भाईश्री :- भीतर में यह (कार्य) नहीं करता है। जानकारी तो अभी हम भी करते हैं परंतु जानकारी का क्या मतलब है ?

ऐसा करना - ऐसा नहीं करना, ऐसा करना है - ऐसा नहीं करना है, यह जान लिया, चलो ! (लेकिन) जानना एक बात है, कार्य करना दूसरी बात है। यह कार्य करने के लिए तो आगे जितनी बात चली इतनी पूर्वतैयारी में आना आवश्यक है। अगर इतनी पूर्वतैयारी न हुई तो यह काम करना चाहेगा तो भी वास्तव में होना संभव नहीं है। या जो पूर्वतैयारी नहीं करता है उसे वास्तव में करना ही नहीं है, ऐसा इसका अर्थ है। तथारूप पात्रता में जीव न आये तो वास्तव में उसको काम ही नहीं करना है। फिर भले ही करना है... करना है... ऐसा विचार करता हो, दूसरे को भी कहेगा कि, मुझे करना है, गुरु के पास जाकर पूछेगा कि, मुझे तो मेरा करना है, परंतु हकीकत में उसे करना है यह बात ही नहीं है।

`**ज्ञान में रहे हुए ज्ञानवेदन द्वारा लक्षरूप आत्मा की प्रसिद्धि है।**' यह बात `अमृतचंद्राचार्यदेव' ने (`समयसारजी' में) लक्ष-लक्षण की चर्चा में ली है कि, आत्मा कैसे प्रसिद्ध होता है ? तो कहते हैं कि, स्वसंवेदन से प्रसिद्धि है। ज्ञान की प्रसिद्धि ज्ञेय के प्रकाशन से है ऐसा वहाँ न लिया। वरना दोनों गुण ही हैं - जानना, स्व-पर को जानना ऐसा भी गुण है और स्व का वेदन करना यह भी गुण है। वहाँ स्व-पर को जानने की क्रिया से ज्ञान की प्रसिद्धि नहीं ली। जब लक्षण से लक्ष्यरूप आत्मा को पहचानना है वहाँ वेदन लक्षण लिया है, वहाँ जानन लक्षण नहीं लिया।

प्रश्न :- वेदन बिना तो सही जानना होता ही नहीं न ?

समाधान :- वेदन बिना का जानना वह अध्यासित जानना है। पर में एकत्व हुए बिना रहता नहीं। भिन्न ज्ञान के वेदन बिना पर को जानते वक्त जीव को पर के साथ एकत्व हुए बिना रहता ही नहीं। जानते ही एकत्व कर लेता है। भिन्न वेदन से ही भिन्न हो सकता है, अन्यथा भिन्न होने का कोई उपाय नहीं है। अर्थात् ज्ञानधारा में ज्ञानवेदन है।

मोक्षमार्ग में गमन कर रहे धर्मात्माओं का उपयोग भले ही परपदार्थ के साथ प्रवृत्तियुक्त हो और उस उपयोग से उन्हें मोक्षमार्ग सधता न हो, क्योंकि वहाँ तो अल्प बंध का कारण है, फिर भी उनके लब्ध की ज्ञानधारा में ज्ञानवेदन मौजूद है। और लब्ध-उपयोग होकर एक अखण्ड पर्याय होने से उस उपयोग को इतना दोषित नहीं गिना गया, अल्प दोष होने के बावजूद भी। क्योंकि दोष अल्प है और गुण अधिक है। गुणदोष की तुलना की जाये तो गुण विशेष है और दोष अल्प है। इसलिए पूरी पर्याय को गुणवान पर्याय के रूप में देखी जाती है, दोषित पर्याय के रूप में नहीं देखी जाती। यह इसका न्याय है। पुनः उस अंश का खुद स्वामी नहीं होता, उसका निषेध वर्तता है। यह भी इसका गुण है।

श्रोता :- उपयोग पर की ओर जाता है फिर भी कहीं ऐसी बात नहीं बनती।

पूज्य भाईश्री :- फिर भी इसका निषेध है, इसका आदर नहीं। वह यहाँ तक कि, गणधर भगवान का उपयोग तीर्थंकर देव का प्रवचन सुनने की प्रवृत्ति में जाये तो भी। वहाँ भी यही स्थिति है।

`सोगानीजी' की चर्चा में यह विषय चला था। एक मुमुक्षुभाई ने आते ही बात शुरू कर दी कि, `आज तो सुबह और दोपहर में आपकी चर्चा सुनकर इतना रस और मस्ती चढ़ गई कि, अभी तो पहले ऐसा लगा कि अभी तो चर्चा सुनने भी क्या जाना ? चर्चा करने भी क्या जाना ? फिर दूसरा विचार आया कि, दो नय हैं। गणधरदेव भी भगवान का प्रवचन सुनने के लिए समवसरण में उपस्थित रहते हैं, इसलिए फिर से आने का विचार हुआ।'

`दो नय हैं' ऐसा कहा इसलिए `सोगानीजी' ने वहीं से (चर्चा) शुरू की और कहा कि, `दो नय नहीं हैं, एक ही नय है।' दो नय नहीं, एक ही नय है। और गणधरदेव को तो निषेध आता है। अपने उस प्रकार के राग का - विकल्प का, ज्ञान का सबका निषेध वर्तता है। परिणमन का जितना अंश, पूरा परिणमन तो बिलकुल नहीं, परिणमन का जितना अंश, जितने अंश में परिणमन आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य को अनुसरता है उतने अंश का निषेध आता है। बिलकुल स्पष्ट बात तो यह है कि, इतने अंश का निषेध वर्तता है, फिर उस अंश का विषय देव, गुरु, शास्त्र या साक्षात् तीर्थंकरदेव हो तो भी। बहुत स्पष्ट बात है और इसका सबूत यह है कि, `कुंदकुंदाचार्यदेव' ने `अष्टपाहुड' में कहा कि, `परदव्वादो दुग्गई' वह तो दुर्गति का ही कारण है। वह मोक्षगति का कारण नहीं है। इससे मोक्षमार्ग नहीं सधता। मोक्षमार्ग आत्मा के अवलंबन से ही सधता है, ऐसा सम्यक् एकांत है और समस्त अनेकांत इसी सम्यक् एकांत की पूर्ति हेतु है, पोषण हेतु है, पुष्टि हेतु है। ऐसा है।

`ज्ञान में रहे हुए ज्ञानवेदन द्वारा लक्षरूप आत्मा की प्रसिद्धि है। यह लक्ष-लक्षण की संधि है।'** जो लक्ष होता है - लक्षण से जो लक्षभूत होता है वहाँ से ज्ञान भी प्रसिद्ध है और आत्मा भी ज्ञान में प्रसिद्ध हो जाता है। आत्मा तो जहाँ है वहाँ, जैसा है वैसा ही है परंतु ज्ञान में उसवक्त प्रसिद्ध होता है। **`जैसा आत्मा केवलज्ञान में जानने में आता है वैसा ही आत्मा लक्षगत होने पर अनंत महिमावंत पदार्थ साक्षात् सिद्धस्वरूप मैं हूँ, ऐसा लगते ही...' भासित होना मतलब लगना **`ऐसा लगते ही उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है।'** क्या कहते हैं ? अभी जैसे लगता है कि `मैं फलाँना मनुष्य है।' ऐसा लगता है न ? वह मिथ्या भावभासन

है। आत्मा ऐसा नहीं है। अभी जैसे स्वयं मनुष्यरूप लगता है ऐसा वास्तव में आत्मा नहीं है। स्वयं का आत्मा जो सिद्ध समान है ऐसा खुद को लगे - ऐसा खुद को लगने लगे तब उसे भावभासन है। ऐसा उसका भावभासन का एक लक्षण है कि ऐसा लगने लगता है।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन के पहले भी ?

समाधान :- हाँ, सम्यग्दर्शन होने के पहले लगता है, (तब) तो सम्यग्दर्शन होता है। जानना और लगना - (दो) में फ़र्क है। ठंड को जानता है या ठंड लगती है ? अभी जैसे तेज़ हवा चल रही है, आज ठंड ज्यादा है। तो ठंड जानने में आती है ऐसा कोई कहता है ? ठंड तो मुझे लग रही है, ऐसा कहते हैं। अब जो जानने में आती है, लगती नहीं है ऐसी ठंड जो हकीकत में जानने में आती है, तो यह जीव कहता है कि, नहीं, मुझे तो लगती है ! यहाँ कहता है कि, आत्मा को सिद्धसमान कैसे जाने ? (लेकिन) जानना नहीं है, ऐसा लगना चाहिए, सो बात कहते हैं। ऐसा लगना चाहिए।

श्रोता :- चौदह गुणस्थान से पार !

पूज्य भाईश्री :- सिद्धपद तो चौदह गुणस्थान से पार ही है। इसलिए पूरे चौदह गुणस्थान से अधिक हो गया।

प्रश्न :- लगना भी तो ज्ञान में ही होता है न ?

समाधान :- लगना ज्ञान में ही है, ज्ञान में ही लगता है। लगना यह ज्ञान की ही पर्याय है।

`ऐसा लगते ही उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है।' यह एक भावभासन हुआ है - आत्मा लक्ष में आया है - आत्मा का अस्तित्व जैसा है वैसा ग्रहण हुआ है - इसका चिह्न ऐसा है

कि `**उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है।**' महिमा कैसे उत्पन्न हो ? यह प्रश्न नहीं रहता। वरना हमारे यहाँ आत्मा को सुनने के पश्चात् इसके विचार के पश्चात्, समझने के पश्चात्, यह प्रश्न पूछते हैं कि, आत्मा को ऐसा जाना तो सही अब इसकी महिमा कैसे आये ? मतलब कि आत्मा को महिमावंत नहीं जाना, जाना तो सही किन्तु महिमावंत नहीं जाना। अनंत महिमावंत है ऐसा जाना तो सही लेकिन फिर वापिस प्रश्न करता है कि, इसकी महिमा कैसे आये ? जब तूने जाना है तो प्रश्न क्यों उठता है? उसे प्रश्न कर सकते हैं कि, फिर यह महिमा नहीं आने का क्या कारण है ? फिर क्यों महिमा नहीं आती ? अगर महिमावंत नहीं हो और महिमा नहीं आती हो जब तो ठीक है, वहाँ तो प्रश्न उठने का अवकाश नहीं रहता। लेकिन महिमावंत है, ऐसा तो तू ही कहता है फिर पूछता है कि महिमा कैसे आये ? ऐसा पूछते हो ! दो बात का मेल कहाँ है ? अतः महिमावंत है यह तो शब्दमात्र है, कल्पनामात्र है। वास्तव में जितना महिमावंत है उतना तेरी समझ में आया ही नहीं है, लक्ष में ही नहीं आया, वरना इसकी महिमा को तो रोक न सके ऐसे उत्पन्न होती है। उत्पन्न हो इतना ही नहीं, उसकी महिमा रोक न सके उतनी उत्पन्न होती है। क्या अपनी इच्छा विरुद्ध कोई चीज़ बनती है तब नाराज़गी को विकल्प करके लाना पड़ता है कि, अब मैं नाराज़गी को लाऊँ ? और क्या अपनी इच्छा अनुसार सब अनुकूल हो, तब उसे प्रसन्नता लानी पड़ती है कि, चलो ! अब मैं परिणाम में प्रसन्नता उत्पन्न करूँ? सहज ही प्रसन्नता वर्तती है। इस तरह जो लाना पड़े वह तो कृत्रिमता है। आत्मा की महिमा करनी पड़े तो तो वह कृत्रिमता है। इस कृत्रिमता को आत्मा के सहज महिमावंत स्वभाव के साथ सुसंगतता

नहीं है, विसंगतता है।

`**ऐसा लगते ही उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है। यह महिमा आत्मरस द्वारा परिणति को उत्पन्न करती है।**' यह महिमा जो चालू रहती है वह महिमा दूसरे कार्य करते हुए भी यह महिमा नहीं छूटती, लक्ष नहीं छूटता और महिमा भी नहीं छूटती। अतः इस महिमा में आत्मरस वृद्धिगत होता है। आत्मरस वृद्धिगत होते-होते इसकी एक परिणति उत्पन्न हो जाती है, इस तरह वह परिणति को उत्पन्न करता है।

`**बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में स्वरूपशक्ति को देखने से, उसमें निहित अनंत सुख का भंडार प्रतिभासित होने पर निर्विकल्प स्वरूप का रस घुटकर गाढ़ होता जाता है,...**' यह निर्णय के बाद (और) अनुभव के पूर्व जो परिस्थिति बनती है इसका चित्र है। क्या होता है ? `**बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में...**' यह पद्धति ली है - `अनुभवप्रकाश' में। चित्परिणति से स्वरूपरस की उत्पत्ति होती है। चित्परिणति से जो स्वरूपरस उत्पन्न होता है, यह स्वरूपरस जितना गाढ़ होता है, जितना तीव्र होता है; वह रस स्वयं निर्विकल्प है - स्वरूपरस स्वयं निर्विकल्प है इसलिए वह उपयोग में सविकल्पता टूटने का कारण बनता है। क्योंकि विकल्प और सविकल्प दोनों विरोधी हैं। जो बलवान हो वह प्रतिपक्षी का नाश करे, विरोधी को तोड़े। विकल्प का बल (जैसे) निर्विकल्पता को आने नहीं देता, (वैसे) निर्विकल्पता का बल विकल्प को तोड़ देता है, विकल्प को उत्पन्न नहीं होने देता।

प्रश्न :- विकल्प के काल में ये सब होता है ?

समाधान :- विकल्प के काल में होता है। विकल्प चलता है तब ये सब परिस्थिति में भीतर में फेरफार होने लगा। यह भीतरमें

से फेरफार होने लगा, अंदर से फेरफार होता है।

प्रश्न :- `पूज्य बहिनश्री' कहते हैं कि परिणति हो जानी चाहिए, वहाँ परिणति क्या इसीको कहते हैं ?

समाधान :- वह परिणति यही है, परिणति हो जानी चाहिए।

श्रोता :- आत्मपरिणति की ओर जाने का रास्ता खुला हो गया।

पूज्य भाईश्री :- शुद्धोपयोग होने का कारण यहीं से उत्पन्न हो जाता है। अथवा अनंतकाल में जो नहीं हुआ ऐसा सम्यग्दर्शन - आत्मदर्शन, सम्यग्दर्शन कहो, निज परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कहो - साक्षात् दर्शन कहो - साक्षात्कार कहो इसका यह मूल कारण है जिसकी यह तैयारी है।

`**बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में स्वरूपशक्ति को देखने से,...**' (अर्थात्) अपनेआप को शक्तिरूप में देखता है, उपयोगरूप - पर्यायरूप (अपने आप को) नहीं देखता। `**स्वरूपशक्ति को देखने से, उसमें निहित...**' मतलब इसमें गुप्तरूप से रहा हुआ `**अनंत सुख का भंडार...**' अपने अनंत सुख का भंडार प्रतिभासित होता है और निर्विकल्पस्वरूप का निर्विकल्परस घुट-घुटकर गाढ़ होता जाता है। `**ऐसी परिस्थिति में स्वभाव की अनन्यरुचि अपूर्व भाव से प्रगट होती है...**' जैसे ही निर्णय हुआ कि स्वरूप की - स्वभाव की अनन्यरुचि कोई अपूर्व - पहले कभी प्रगट न हुई हो ऐसी प्रगट होती है। खुद अपने स्वरूप से - अपने स्वरूप के अनुभव रहित दूर रह जाये यह बात रुचि को नहीं पुसाती है।

`**ऐसी परिस्थिति में स्वभाव की अनन्यरुचि अपूर्व भाव से प्रगट होती है और रुचि अनुयायी वीर्य...**' यह तो वैज्ञानिक परिस्थिति है अथवा `**पुरुषार्थ के द्वारा अनंत प्रत्यक्ष नूर का पुंज...**' आत्मा ज्ञान के तेज का पुंज है। तेज़ को नूर कहते हैं इसलिए नूर

और पूर (पुंज) Alliteration होता है। `गुरुदेवश्री' यह शब्द इस्तेमाल करते थे कि, `आत्मा तो चैतन्यना नूर नुं पूर छे' `पूर' (बाढ़) इसलिए कहते हैं क्योंकि पूर (बाढ़) का सामना नहीं कर सकते। तीव्र गरमी के दिनों में ज्येष्ठ महिमा बीत चुका हो फिर यह भीम ग्यारस को बारिश जो आती है न ? बोआई शुरू होती है। वैसे तो बाहर में तेज़ धूप निकली हो लेकिन ऊपरी विस्तार में कहीं बहुत बारिश हुई हो तो नदी में जहाँ कंकड़ उड़ रहे थे, पानी का एक बिन्दु नहीं था वहाँ अचानक दो-तीन मीटर ऊँचा पानी का दल बाढ़ के रूप में इतनी Speed में आता है कि, जिसको कोई रोक नहीं सकता। जो भी बीच में आयेगा वह साथ में बह जाएगा, मनुष्य हो तो मनुष्य बह जाए, तिर्यंच हो तो तिर्यंच बह जायेंगे, जो भी होगा इसमें बह जाएगा। उसे कोई नहीं रोक सकता, बाढ़ को कोई नहीं रोक सकता। इसलिए आत्मा को (चैतन्य का) `पूर' (बाढ़) कहते हैं।

`**रुचि अनुयायी वीर्य / पुरुषार्थ के द्वारा अनंत प्रत्यक्ष नूर का पुंज ज्ञान में रही हुई परोक्षता को विलीन करके सहज प्रत्यक्षरूप वर्तने लगता है।**' यह अनुभव हुआ। सहज प्रत्यक्ष हुआ (और) परोक्षता जैसे ही विलीन हो गई तब जीव को निर्विकल्प अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव आनंद सहित - आनंद की मुहर सहित होता है। इसे यहाँ स्वानुभव - सम्यग्दर्शन - शुद्धोपयोग इत्यादि शब्दों से अध्यात्मभाषा में कहा जाता है। आगमभाषा से इसको उपशम सम्यग्दर्शन (कहा जाता है)। कर्म का उपशम हुआ मतलब उसे आगमभाषा में ले जाते हैं। कर्म की Theory के मुताबिक ऐसे कहा जाता है।

`**जब कि आम तौर से तत्त्वाभ्यास करनेवाले का ऐसा अभिप्राय**

होता है कि `आत्मा परोक्ष है, अप्रगट है, इसलिए जानने में नहीं आता है...'** तत्त्व के अभ्यास में क्या करता है कि, पर्याय तो प्रगट है परंतु त्रिकाली आत्मा अप्रगट है। पर्याय प्रगट है परंतु यह त्रिकाली आत्मा तो अप्रगट है। अतः ऐसा अभिप्राय बन जाता है। **`इसका समाधान ऐसे है कि स्वरूप से तो आत्मा प्रत्यक्ष ही है,...' प्रत्यक्ष-परोक्ष का प्रकार त्रिकाली आत्मा में लाने की जरूरत नहीं है। प्रत्यक्षता-परोक्षता तो पर्याय में उत्पन्न होते हैं, परंतु जैसी प्रत्यक्ष पर्याय है, त्रिकाली स्वभाव ठीक इसके सदृश्यभावरूप होने से त्रिकाली को भी प्रत्यक्ष स्वरूप कहा जाता है।

`स्वरूप से तो आत्मा प्रत्यक्ष ही है, परंतु पर्याय अंतर्मुख हो तो `आत्मा प्रत्यक्ष है' ऐसा जानने में आता है।' यह किसको जानने में आता है ? जो ज्ञान की पर्याय परसन्मुख होकर खड़ी है उसमें आत्मा प्रत्यक्ष है ऐसा जानने में नहीं आता है परंतु जब वह स्वसन्मुख - अंतर्मुख होता है तब उसे अपने स्वरूप का दर्शन होता है कि, आत्मा तो प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष करना नहीं पड़ता किन्तु अनादि से प्रत्यक्ष है। उपयोग ने इसके सन्मुख होकर इसके सामने देखा नहीं था।

`बहिर्मुख ज्ञान की पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष लगता नहीं है, भासित नहीं होता है; परंतु आत्मा प्रत्यक्ष ही है। उसके सन्मुख ढलकर देखे तो स्वयं प्रत्यक्ष है, ऐसा भासित होता है। परंतु सन्मुख कैसे होना अथवा कैसे ढलना...'** सन्मुख कैसे होना ? **`इसकी समस्या अवश्य है;...' अब जीव की इस समस्या का समाधान करना है। अब आगे बढ़ते-बढ़ते इस विषय पर आते हैं। इसके सन्मुख कैसे होना यह समस्या अवश्य है। **`इसका समाधान इस प्रकार है कि :'** अब सन्मुख कैसे होना इसका यह समाधान है।

`उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को अर्थात् स्व को जाने।' क्या कहना है ? उपयोग में सिर्फ पर्याय को न जाने परंतु वस्तु को जाने। अब कोई ऐसा पूछता है कि, उपयोग स्वयं तो पर्यायस्वरूप होने से पर्यायरूप तो जानने में आता है परंतु वस्तु को कैसे जाने ? यह एक दूसरी समस्या है। क्योंकि उपयोग में जाननरूप वस्तु को जाने, ऐसी बात है। उपयोग में पर्याय को जाने, ऐसा नहीं कहते हैं। तो अब वस्तु को कैसे जाने ? यहाँ जानने-जानने में दृष्टिकोण का फ़र्क है। पर्याय भी वस्तु का अंग होने से वस्तुभूत है। पर्याय को द्रव्यदृष्टि से देख सकते हैं कि नहीं देख सकते हैं ? देख सकते हैं। द्रव्य को पर्यायदृष्टि से देख सकते हैं, पर्याय को द्रव्यदृष्टि से देख सकते हैं। यह हमलोग ने विवक्षा-छत्तीसी में लिया था। द्रव्य, गुण, पर्याय में परस्पर विवक्षा के नौ भेद लिये हैं न ?

`टोडरमल्लजी' ने निश्चयाभासी के प्रतिपक्ष में लिया, (निश्चयाभासी) पर्याय का स्वीकार नहीं करता है तो कहा कि, `अनादिअनंत पर्यायों का पिण्ड है सो द्रव्य है।' विवक्षा द्रव्य की है लेकिन पर्यायप्रधान द्रव्य की विवक्षा वहाँ पर है। यहाँ द्रव्यप्रधान पर्याय की विवक्षा करनी है कि, वह भी वस्तुभूत है, वस्तु का अंग है, यहाँ वस्तु के रूप में देखना है। पर्याय को वस्तु के रूप में देखनी है, पर्याय को पर्यायरूप में नहीं देखना है, मतलब वस्तु वहाँ पर है।

`उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को...'** जाने। जाननरूप वस्तु को जाने मतलब Third person को जाने वैसे नहीं परंतु **`स्व को जाने।' (अर्थात्) स्व वस्तु को जाने। `सोगानीजी' ने बहुत सुंदर भाव इस विषय में खोला है वह ऐसे कि, किसीने ऐसा प्रश्न पूछा कि, `आप त्रिकाली-त्रिकाली की

बात करते हो परंतु हमें तो पर्याय के अलावा कुछ दिखता ही नहीं है। वस्तु को जाने कैसे ? त्रिकाली को जाने कैसे ?' यह प्रश्न चला है। तब उन्होंने ऐसी शैली की है कि, `पर्याय बिना आधार खड़ी है क्या ? पर्याय भी किसी वस्तु के आधार पर खड़ी है।' ऐसे करके बात ली है। पर्याय कोई बिना आधार लटकती हुई चीज़ नहीं है। वस्तु की पर्याय है। तू पर्याय की मुख्यता करता है इसलिए ज्ञानमें से वस्तु खो जाती है। वस्तु की ही पर्याय है ऐसे वस्तु की मुख्यता कर, तो पर्याय गौणरूप से ज्ञान में रह जाएगी। पर्याय गौणरूप से ज्ञान में रह जाएगी, बस ! ऐसा जानना सो यथार्थ जानना है - वह सम्यक् जानना है। परंतु वस्तु को खोकर सिर्फ पर्यायत्व को अंगीकार करने से तो पर्यायरूप कल्पनामात्र वस्तु का अवधारण होगा। उसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन कहा जाता है। वहाँ ऐसी शैली ली है।

`**ज्ञान के आधार से - निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से...**' अब `**ज्ञान के आधार से...**' मतलब क्या ? कि, ज्ञान का जो लक्षण है इसमें निर्विकल्पता भी है। क्योंकि वेदन सविकल्प नहीं होता, वेदन सविकल्प नहीं होता है। किसी को भी पूछा जाए कि, `भाई! आपका सिर दर्द करता है इसमें जो वेदना होती है, वह वेदना कैसी है इसको दिखाइये तो ज़रा ? क्या दिखायेगा ? निर्विकल्प है या सविकल्प ? वेदन निर्विकल्प होता है। ज्ञान में - ज्ञान सामान्य में मौजूद जो ज्ञानवेदन है वह स्वयं ही निर्विकल्प है। सविकल्पदशा में निर्विकल्पता का - निर्विकल्प वस्तु का निर्णय होने का कारण यही है। वरना यहाँ एक दिक्कत होती है कि, खुद सविकल्पदशा में खड़ा हो और निर्विकल्प तत्त्व किस प्रकार लक्ष में आये ? किस तरह निर्णय में आये ? कैसे वह ज्ञान में आए ? यह बहुत

बड़ी समस्या हो जाती है। तो कहते हैं कि, (उसका भी समाधान है)।

तेरी अवस्था में भी ज्ञान में - ज्ञानलक्षण में - ज्ञानवेदन में निर्विकल्पत्व है और सामने वस्तु भी ऐसी निर्विकल्प है। इसलिए जैसा निर्विकल्प (स्वरूप) है वैसा साकार भासन होता है। साकार मतलब ऐसे स्वरूपभूत। जैसा निर्विकल्प स्वरूप है ऐसे ही स्वरूप में निर्विकल्प भासित होता है। ऐसा है।

प्रश्न :- ऐसे स्वरूप में यदि न भासे, तब तो सच्चा ज्ञान होगा ही नहीं ?

समाधान :- तो-तो कल्पित हो गया। फिर तो कल्पित हो जाएगा और प्रश्न यह खड़ा हो जाएगा कि, सविकल्पदशा में निर्विकल्प तत्त्व का निर्णय करे कैसे ? हमारा ज्ञान तो सविकल्प है। तुझे जब तक तेरे ज्ञानलक्षण का आधार नहीं मिलता है तब तक ये सारी समस्याएँ हैं, तब तक मुश्किली महसूस होगी, वरना कोई दिक्कत नहीं है इसलिए यह बात ली है। स्पष्टीकरण के हिसाब से यहाँ पूरा विस्तार किया है।'

`**ज्ञान के आधार से...**' मतलब `**निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से...**' ऐसा लेना है। Hyphen किया है इसका इतना अर्थ होता है - अर्थात् वैसे `**हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है।**' ऐसा जो निर्णय है वह स्वरूप में लक्ष को उत्पन्न करता है। लक्ष है वह फिरता नहीं, लक्ष है सो बदलता नहीं। `**यह निर्णय राग या निमित्त** (**देव-शास्त्र-गुरु**) **के आधार से हुआ नहीं है,...**' शास्त्र कहता है इसलिए आत्मा ऐसा, वैसे नहीं। गुरु ने कहा इसलिए आत्मा ऐसा, सो बात भी नहीं। तीर्थंकरदेव कहते हैं, इसलिए आत्मा ऐसा, सो बात भी नहीं। मैं ऐसा कहता हूँ कि `मेरा आत्मा ऐसा है !' इतना यहाँ फ़र्क पड़ता है। इसको कहते हैं स्वयं - अपने

आप से हुआ निर्णय। यह ज्ञान किसी से उधार लिया हुआ नहीं है - देव-गुरु-शास्त्र से (लिया हुआ नहीं है), यह खुद के द्वारा खुद को हुआ ज्ञान है।

प्रश्न :- स्वरूप के लक्ष से हुआ ज्ञान है ?

समाधान :- हाँ, यह स्वरूप लक्ष से हुआ निर्णय है। यह निर्णय राग या निमित्त के आधार से नहीं हुआ, ज्ञानक्रिया इसका आधार है। जो कि (`समयसारजी') के `संवर अधिकार' में लिया।

**`परंतु राग से अंशतः मुक्त होकर...'** अथवा राग से हटकर। यह शब्द `गुरुदेवश्री' ने १४४ वीं (गाथा के प्रवचन) में इस्तेमाल किया (है)। अंशतः राग से हटकर - मुक्त होकर - राग का अभाव (करके)। वहाँ `अभाव' शब्द लिया है। राग का अभाव करके (ऐसा लिया है)।

प्रश्न :- इस प्रकार होने से ही तो केवलज्ञान को यथार्थरूप से पहचान सकेगा न ?

समाधान :- हाँ, वहाँ तो केवलज्ञानस्वरूपी आत्मा ही पहचान में आ गया। आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानस्वरूप है - सिर्फ ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसे वहाँ पहचान में आया।

`परंतु राग से अंशतः मुक्त होकर...'** यानी कि अनादि से राग की प्रधानता जो थी उसे छोड़कर, राग का आधार छोड़कर **`ज्ञान से ज्ञान स्वभाव का...' `ज्ञानस्वभाव' का मतलब किसी और का नहीं परंतु `(**स्व का**) **ज्ञान की अधिकता में...**' मतलब `(**अनादि राग की मुख्यता थी उसको पलटकर के**)...' ज्ञान की अधिकाई में रहकर भावभासन हुआ है। इतना भावभासन के विषय में स्पष्टीकरण है। यह भावभासन इस प्रकार हुआ है। यहाँ से एक विचारणीय विषय यह उत्पन्न हुआ कि, जीव के परिणाम में जब तक ज्ञान की व

अपने स्वभाव की अधिकाई नहीं आती है तब तक जीव राग की और निमित्त की - किसी न किसी परपदार्थ की अधिकाई में अनादि से पड़ा है। जब तक यह जीव राग की, संयोग की - उदय की अधिकाई में पड़ा है, संयोग मतलब जीव का खुद का उदय - दूसरों से कोई लेना-देना नहीं है। कहते हैं न कि, पड़ोस में कोई मर जाए तो उसका सूतक खुद को नहीं लगता। पड़ोस में मरनेवाले का सूतक लगता है क्या ? नहीं लगता है न ? क्योंकि परायें हैं। हरकोई को अपने उदय से संबंध है। उदय जितना ही संबंध है। फिर चाहे गुदड़ी हो उसे गुदड़ी से और महल हो उसे महल से। इसकी अधिकाई में जब तक जीव पड़ा है तब तक जीव को आत्मा की अधिकाई नहीं आती। जब तक खुद की अधिकाई नहीं आती है तब तक परिणाम की दिशा नहीं बदलती। परसन्मुखता मिटकर जो अंतर्मुखता होनी चाहिए वह अंतर्मुखता नहीं होती।

श्रोता :- काफ़ी काम निपटाने के अभी बाकी हैं।

पूज्य भाईश्री :- काम तो अपने स्वकाल में स्वयं होते हैं। किसी को आज ही आज निपटाना हो तो कोई निपट जाते हैं क्या ? खुद के हाथ की बाज़ी कितनी ? और खुद के हाथ की बाज़ी अगर होती तो कोई किसी को रास्ते पर चलने देता क्या ? नहीं चलने देता। इसलिए काम तो सब अपने स्वकाल में स्वतः होते ही हैं। यह जीव खुद का काम नहीं करता है यह चिंता होनी चाहिए। (बाहर के) काम की चिंता करने के बज़ाय खुद का काम नहीं हो रहा है इसकी चिंता होनी चाहिए, इसकी चिंता होनी चाहिए। (एक काम को) अधिकाई देते वक्त दूसरे सब को गौण रखता है कि नहीं ? एक साथ बहुत से काम हो तो कोई एक के बाद एक काम हाथ में लेगा कि एकसाथ सब काम हाथ में लेगा ?

एक की अधिकाई आती है कि नहीं ? वैसे दूसरे काम यदि हो तो भी उसे गौण रखकर इसकी (आत्महित की) अधिकाई करने जैसी है, और जीव यह जानता भी है। इसमें क्या हरज़ा है ?

(यहाँ) क्या कहते हैं ? ज्ञान की अधिकाई में जो भावभासन हुआ `**कि जिसमें भवी-अभवी की शंका नहीं रहती।**' यह एक दूसरा लक्षण है कि, खुद भवी है या अभवी (इसकी शंका नहीं रहती)। वैसे वास्तव में प्रत्यक्षरूप से देखें तो भव्यत्व और अभव्यत्व तो केवलज्ञान का विषय है। परंतु यहाँ केवलज्ञान होने से पहले, अरे... सम्यग्दर्शन होने से पहले जीव को भवी-अभवी की शंका नहीं रहती, खत्म हो जाती है ! मैं भवी हूँ इतना ही नहीं मैं निकटभवी हूँ ऐसा लगे बिना नहीं रहता ! `गुरुदेवश्री' के शुरू-शुरू के प्रवचनों को देखें तो यह बात बहुत लेते थे कि, यह बात तो ऐसी है कि जिसमें से केवलज्ञान की भनक उठे बिना नहीं रहती। जो यथार्थ रुचि से सुनता है उसे केवलज्ञान की भनक आ जाती है। मतलब कि अब मेरा भव्यत्व पक जाएगा ऐसा जीव को लगने लगता है, लग ही जाता है। भीतर आत्मामें से यह बात आती है। भवी-अभवी की शंका संबंधित निःशंकता आ गई, विकल्प नहीं करना पड़ता, सहज ही भीतरमें से निःशंकरूप से (प्रतीति) आती है। यह आत्मा की अंतर की पुकार है, यह आत्मा की आवाज़ है। सच में तो यह आत्मा की आवाज़ है कि, खुद को भवी-अभवी की शंका नहीं रहती। ये सब भावभासन के काल में (उत्पन्न) परिणाम के आनुषंगिक लक्षण लिए हैं।

समय हो चुका है।

१० दि. १७-०३-१९९०

`सुविधि' - विधि मतलब कार्यपद्धति। आत्महित की - स्वानुभव की - संसार का अभाव करने की सच्ची - सम्यक् कार्य पद्धति। दो विभाग में विषय लिया है। सम्यग्दर्शन से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन करने की जो कार्यपद्धति है वह एकमात्र मोक्षमार्ग की विधि है। यह एक बड़ा विभाग है। वहाँ तक पहुँचने के लिए मुमुक्षुजीव को मुमुक्षुता में मुमुक्षुता प्राप्त करके कैसे आगे बढ़ना, (किस) प्रकार की कार्यपद्धति हो तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करे, स्वानुभव को प्राप्त करे यह इसका - कार्यपद्धति का प्रथम चरण है। इस प्रकरण में मुख्यरूप से प्रथम विभाग की चर्चा है।

स्वसन्मुख - अंतर्मुख होने से स्वानुभव होता है। जो कार्यपद्धति है इसमें दिशा का भी एक पहलू है। `दिशा बदले बिना दशा नहीं बदलती।' `परमागमसार' में `गुरुदेवश्री' का यह वचनामृत है कि, दिशा न बदले तब तक दशा नहीं बदलती। यानी कि जीव अनादि से बहिर्मुखता से परिणमन कर रहा है। परिणमन की दिशा की यह बहिर्मुखता यथावत रहे तो किसी भी तरह जीव को स्वानुभव हो या सम्यग्दर्शन हो ऐसा नहीं बनता। इस बहिर्मुख परिणाम में

चाहे कैसे भी परिणाम हो परंतु फिर भी वे मिथ्यात्व सहित, अज्ञान सहित के शुभपरिणाम से ज्यादा कुछ नहीं है। अशुभ परिणामों की तो चर्चा करने का प्रश्न नहीं है, परंतु शुभाशुभ परिणामों से जीव आगे नहीं बढ़ सकता।

केवल शुभपरिणाम में रहे और शुभ परिणामों का फल भोगता रहे यह परिस्थिति भी कुदरत के साथ बाध्य नहीं है। कोई जीव ऐसा विचार करे कि, हम तो (बस) शुभ परिणाम करते रहें और शुभ के फल में तो कोई मुश्किली है नहीं, आनंद से - मौज से जीवन बीतता है, तो अब हम तो शुभभाव करते रहें और शुभ के फल में सुखी होकर संसार में रहने में क्या आपत्ति है ? दुर्गम ऐसा मोक्षमार्ग समझ में न आता हो तो हम तो शुभभाव करके शुभ के फल में ही रहे तो कम से कम दुःख न हो। परंतु यह परिस्थिति संभव नहीं है। जिस तरह दिन के बाद रात आती ही है वैसे शुभ के बाद अशुभ आता ही है अथवा शुभ का फल भोगते वक्त अशुभ उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। अतः जीव केवल शुभ में रह सके यह परिस्थिति तो स्वाभाविकरूप से संभव नहीं है और जीव अगर शुभाशुभ की कक्षा से पार होकर मोक्षमार्ग में प्रवेश करने का मार्ग या कार्यपद्धति को अंगीकार नहीं करता है तो क्रमशः उसे - जीव को अधोगति में जाते हुए रोक नहीं सकते। यह भी कुदरती परिस्थिति है। अतः इस शुभाशुभ की कक्षा को पार करने के लिए सर्वप्रथम स्वसन्मुख होना जरूरी है। यह प्रथम स्वसन्मुखता का प्रकार स्वरूपनिश्चय के काल में आता है।

जब जीव ज्ञानस्वभावी आत्मा का ज्ञानलक्षण से, ज्ञानलक्षण के आधार से व राग से हटकर - राग की मुख्यतामें से हटकर - राग की आड़ दूर करके जब ज्ञान सीधा अपने ही लक्षण से अपने

स्वरूप का निश्चय करता है तब प्रथम स्वसन्मुखता होती है। वह कैसे (होती है) यह विषय इस पैराग्राफ में लेना है।

'**उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को अर्थात् स्व को जाने।**' अब क्या है कि, पर्याय पर्याय में है और पर्याय है वह वस्तु का अवयव होने से द्रव्यार्थिकनय से इसमें वस्तु का भी ज्ञान किया जा सकता है। यह एक दृष्टिकोण का विषय है।

नौ तत्त्वों में किसी एक तत्त्व को जानते हुए आप यदि भूतार्थ की मुख्यता से अर्थात् मैं त्रिकाली शुद्ध आत्मा मूलस्वरूप से जैसा हूँ ऐसे स्वरूप में खुद को जानकर अपने स्वस्थान में रहकर, अपने स्थान से उतरकर नहीं, (परंतु) अपने स्वस्थान में रहकर किसी भी तत्त्व को जानने से - चाहे किसी भी तत्त्व का ज्ञान होगा तो वह यथार्थ होगा, सम्यक् होगा, निर्दोष होगा, किसी भी तत्त्व को जानते हुए दोष की उत्पत्ति नहीं होगी। फिर वह जानकारी का विषय पुण्यतत्त्व हो, पापतत्त्व हो चाहे कोई भी हो; उस पुण्यतत्त्व में जीव के विकारी परिणाम हो या पुद्गल की प्रकृति हो, पापतत्त्व में भी जीव के विकारी परिणाम हो चाहे पुद्गल की प्रकृति हो। दोनों में होती है इसलिए संज्ञ और असंज्ञ लिया। परंतु किस तरह जाने ? (तो कहते हैं कि) भूतार्थ से जाने। खुद का तो भूतार्थ स्वरूप है वह चश्मा तो लगा के ही रखना है - 'सोगानीजी' की भाषा में कहे तो, 'मैं त्रिकाली हूँ, मैं ध्रुव हूँ यह चश्मा तो उतारना ही नहीं है। भले ('प्रवचनसारजी' की) ११४ वीं गाथा में ऐसा कहा हो कि, 'द्रव्यार्थिकनय को सर्वथा बंद करके...।' परंतु द्रव्यार्थिक भी सर्वथा बंद नहीं होता और पर्यायार्थिक भी सर्वथा बंद नहीं होता। वहाँ तो उपयोग की बात चली है। उपयोग एक विषय को एक

काल में जाने। सर्वथा किसी एक नय को बंद कर दिया जाए तो नयाभास हो जाए और प्रमाणज्ञान में भी एक नय की प्रवृत्ति हो तब दूसरे नय का ज्ञान होता ही है। फिर चाहे द्रव्यार्थिकनय की प्रवृत्ति हो चाहे पर्यायार्थिक नय की प्रवृत्ति हो। सम्यक्नय की प्रवृत्ति प्रमाणज्ञान सहित ही होती है इसलिए किसी दूसरे नय को छोड़ने का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता है। परंतु एक नय के विषय को स्पष्ट करने के हेतु से और दूसरे नय के विषय को अधिक गौण करने के हेतु से `सर्वथा' शब्द से ज़ोर दिया है। एकांत करने की बात कहीं है ही नहीं।

श्रोता :- स्वस्थान में रहकर अर्थात् त्रिकालीध्रुव में अहंपना रखकर, यही मेरा स्वस्थान है ?

पूज्य भाईश्री :- यही मेरा स्वस्थान है। जैसे मान लो पाप का परिणाम हुआ, क्योंकि चतुर्थ व पंचम गुणस्थान में तो होता है, छठे गुणस्थान से आगे फिर पाप प्रवृत्ति - सावद्ययोग का अभाव है, तो उसवक्त ऐसा जानता है कि, मैं तो त्रिकाली शुद्धात्मा हूँ, तो अवस्था में यह जो भाव उत्पन्न हुआ वह मेरे स्वरूप से भिन्न है। जैसे गाँव में एक रास्ते पर सौ मकान एकसाथ दिखते हैं, एक कोने से दूसरे कोने तक, यहाँ क्रेसंट पर खड़े रहे तो पूरी Line दिखेगी, लेकिन `मेरे हैं' ऐसा दिखता है क्या ? नहीं, बस ! विकल्प करने की भी जरूरत नहीं है। पर पररूप में दिखता है। वैसे जीवतत्त्व में स्वपना करने से अन्य सभी तत्त्वों में परपना मालूम होता है। इसप्रकार नौ तत्त्वों का ज्ञान होता है तो सम्यग्दर्शन है।

पुनश्च इन नौ तत्त्वों में जीव का जो परिणमन है उसमें भी जीवसामान्य का दृष्टिकोण कि जिसको स्व-पने ग्रहण करना है, यह दृष्टिकोण जिसको साध्य हुआ है उसको नौ तत्त्वों में चैतन्यज्योति

के ही दर्शन होते हैं। क्योंकि जिसको जो चाहिए उसको दूसरा देखने पर भी नहीं देखने के जैसा गौण हो जाता है। (यह `समयसारजी' की) १३ वीं गाथा का विषय है।

श्रोता :- द्रव्यार्थिकनय को सर्वथा बंद करके और पर्यायार्थिक नय को सर्वथा बंद करके - यह अभी स्पष्ट पकड़ में नहीं आता है।

समाधान :- वहाँ एक गाथा में आचार्यदेव ने `सर्वथा' शब्द इस्तेमाल किया है। `प्रवचनसार' - ११४ वीं गाथा। अगर तुझे द्रव्यार्थिकनय के विषय को अच्छी तरह समझना हो तो एकबार तो पर्यायार्थिकनय के चक्षु को तू बंद कर ले। यानी कि उपयोग में अभी बीच में उस बात को मत लाओ, तभी तुझे द्रव्यार्थिकनय का विषय ठीक तरह समझ में आएगा कि, द्रव्य मतलब हम क्या कहना चाहते हैं। इसी प्रकार तुझे यदि पर्यायार्थिकनय के विषय को ठीक तरह समझना हो तो तू द्रव्यार्थिकनय के चक्षु को बंद कर दे। यानी कि उसे बीच में मत लाओ, तो पर्यायार्थिकनय का विषय क्या है यह ठीक तरह तेरी समझ में आएगा। ऐसा कहने का वहाँ अभिप्राय है।

प्रश्न :- विषय समझने के हेतु से कहा है ?

समाधान :- हाँ, विषय स्पष्टरूप से ग्रहण हो इस हेतु से, समझने के लिए ऐसा (कहा है)। बीच में दूसरी अपेक्षा मत लाओ, ऐसा (कहना है)। क्योंकि ये दोनों विषय इतने विरोधाभासी हैं कि, जो द्रव्यत्व है वह पर्यायत्व नहीं और पर्यायत्व है सो द्रव्यत्व नहीं। अतः एक में दूसरी बात बीच में लाने से पहली बात है वह ठीक से समझ में नहीं आती है। अतः वहाँ ऐसे समझाने की एक पद्धति ली है। समझाने की पद्धति, शैली अनेक प्रकार की हैं। कहाँ क्या

कहना चाहते हैं इतना ही लेना है।

अपना तो यहाँ (चलते विषय के साथ) इतना संबंध है कि, ज्ञान का उपयोग जो है वह ज्ञान की पर्याय है परंतु पर्यायत्व को नहीं देखना है। उपयोग के बगैर - ज्ञान की पर्याय के बगैर सीधा ज्ञानस्वभाव को देखना अशक्य है, कोई नहीं देख सकता। क्योंकि जो स्वभाव है - कोई भी गुण है वह प्रकाशित होता है अपने परिणमन में। वरना तो गुण कैसा यह पता कैसे चले ? गुण तो निर्विकल्प है, सामान्य है, शक्तिरूप है, कैसे पता चले ? उसका परिणाम कैसा है इस पर से गुण व्यक्त होता है या परिणाम में गुण प्रगट होता है, गुण व्यक्त होता है। गुण का ज्ञान करना हो तो परिणाम को छोड़कर यदि कोई गुण का ज्ञान करना चाहे या विशेष को छोड़कर यदि कोई सामान्य का ज्ञान करना चाहे तो सीधा तो यह होना असंभव है - अशक्य है। (`पंचाध्यायी' में) ऐसा लिया है कि विशेष में सामान्य की प्रतीति होती है। विशेष अर्थात् परिणाम। विशेष में सामान्य की प्रतीति होती है - यह बात `पंचाध्यायी' में है। विशेष बिना सामान्य की प्रतीति हो नहीं सकती।

यहाँ ज्ञानस्वभाव का निश्चय करना है - इसका भावभासन करना है कि, जिस भावभासन से दिशा स्वसन्मुख पलटा खाती है। वह जो बात लेनी है इसमें चलती हुई ज्ञान की पर्याय में `**उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में...**' यह बात इसलिए ली है क्योंकि बीत चुका हो वह उपयोग नहीं, भविष्य में होगा उस उपयोग को विचार में नहीं लेना है, जो उपयोग व्यतीत हो चुका उसको भी लक्ष में नहीं लेना है। उपयोग में अभी प्रवर्तमान ज्ञान (लेना है)। जब भी प्रयोग करना होगा वर्तमान में होगा, प्रयोग भूत-भविष्य में नहीं होता (इसलिए ऐसा कहा कि) `**चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु अर्थात् स्व को जाने।**' जाननरूप वस्तु में भी Third person नहीं लेना है। इसमें दो बातें हैं। उपयोग में स्वपने वस्तु को जाने, ऐसा कहना है। वस्तु को जाने इतना ही नहीं, स्वपने वस्तु को जाने, ऐसी दो बातें हैं।

उपयोग स्वयं अपनी वस्तु को स्व के रूप में जाने। ऐसा दृष्टिकोण साध्य होना चाहिए। उपयोग में सिर्फ पर्याय को न देखकर पर्याय जो कि वस्तुभूत है, द्रव्यार्थिकनय से पर्याय भी वस्तुभूत है क्योंकि वस्तु का अवयव है।

प्रश्न :- यह उपयोगस्वभावी सो मैं, ऐसा लेना है ?

समाधान :- हाँ, उपयोगस्वभावी मैं हूँ। मैं उपयोगस्वभावी हूँ - इस तरह उपयोग को पकड़कर उपयोग का आधार लेकर जान ले - ऐसे जानने में उपयोग का आधार लेने पर राग का आधार नहीं रहेगा। ऐसी कार्यपद्धति का ग्रहण होने से पहले, अनादि से जानने की, विचार करने की जो कार्यपद्धति है; चाहे तत्त्व को जानने की, विचार करने की हो तो भी वह राग आधारित ज्ञान पर्याय की प्रवृत्ति है, ज्ञान का उपयोग है। वह आधार गलत होने से उसका जानना भी सही नहीं है। कोई आदमी ऐसा कहे कि, यह मेरा Judgement है, परंतु इसका आधार क्या है ? यह सवाल है। इस तरह `मैं जानता हूँ' लेकिन किसके आधार से ? यह हमारा सवाल है। आप जीव हो इसलिए जानते हो इसका निषेध नहीं है। सर्व जीव जानते हैं, परंतु आप किस आधार से जानते हैं ? यह हमारा मुख्य प्रश्न है। (अर्थात्) राग का आधार लेकर जानते हो या ज्ञान का आधार लेकर जानते हो ? यह Base है, जहाँ से मोक्षमार्ग की धारा शुरू होती है वरना बंधमार्ग की धारा तो अनादि से चालू है।

अनादि से जीव का राग आधार बदले बिना ही वैचारिकज्ञान में, उघाड़ में ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक गया है, लेकिन राग का आधार छोड़े बिना। यदि ज्ञान के आधार से ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो वहीं से दिशा बदलती है। जिसकी दिशा बदली उसकी दशा बदल जाएगी - यह सिद्धांत है।

प्रश्न :- प्रयोग मं दिशा बदलने की शुरूआत होती है ?

समाधान :- भावभासन के समय दिशा बदलती है। प्रयोग करता है कि, मुझे यह जानना है, परंतु जब जाने, भाव भासित हो - ज्ञानस्वभाव स्व-रूप में भासित हो कि, अनंत ज्ञान की खान मैं हूँ, साथ ही अनंत सुख की खान भी मैं हूँ, ऐसा भास्यमान हो जाएगा अथवा अखण्ड सिद्धपद स्वरूपरूप मैं हूँ - ऐसा पूरा-पूरा जो खुद का सिद्धपद है वह स्व के रूप में भास्यमान होगा।

प्रश्न :- विकल्प में भास्यमान होगा ?

समाधान :- विकल्प सहित स्वसन्मुख ज्ञान में (भास्यमान होगा)। विकल्प का तब अभाव नहीं हुआ है किन्तु `गुरुदेवश्री' वहाँ - १४४ गाथा के प्रवचन में `आंशिक अभाव' लेते हैं। आंशिक अभाव लेते हैं, आंशिक अभाव लिया उसका अर्थ ऐसा है कि, आधार छोड़ दिया है। निर्विकल्पदशा हुई नहीं है फिर भी निर्विकल्प तत्त्व का निर्णय हुआ, निर्विकल्प अंश के आधार द्वारा। ज्ञान में भी निर्विकल्प अंश है, सामान्य (ज्ञान) निर्विकल्प है। ज्ञेयाकार है वह सविकल्प है। ज्ञानसामान्य निर्विकल्प है। परंतु निर्विकल्प आत्मस्वभाव का निर्विकल्प अंश के आधार द्वारा स्व के रूप में निर्णय हुआ।

प्रश्न :- अभी निर्विकल्प वस्तु तो हाथ में नहीं आयी है ?

समाधान :- भासित हुई है, हाथ में तो नहीं आयी, सिर्फ भासित हुई है। इसमें ऐसा है कि, कोई आजन्म दरिद्री हो उसे ऐसा

कहे कि, तेरी झोंपड़ी में - जैसे बाप-दादा के समय की पुरानी झोंपड़ी हो उसमें तेरे आंगन में ज़रा दरवाजा बंद करके ६ ईंच का तह उखेड़कर देख लेना, तुझे निधान का पता लग जाएगा कि, निधान गाड़ रखा है। अब ६ ईंच की तह उखेड़कर देखा तो ६ फुट डायामीटर का सोने के चरु का चार-पाँच ईंच जितना काँठा (हंडे का मुँह) दिखे तो तब उसने सिर्फ अंश देखा क्या? (नहीं) पूरा चरु ज्ञान में आया - भासित हो गया। वरना अभी शेष(भाग) तो प्रत्यक्ष है भी नहीं, प्रत्यक्ष तो अंश ही है, परंतु पूरा चरू ज्ञान में भासित हो गया कि, यह चरु इतना बड़ा होना चाहिए ! इसकी गोलाई के अंश पर से इसकी गोलाई का नाप निकलता है। जैसे कटोरी के काँठे की गोलाई और बड़ी कड़ाई के काँठे की गोलाई के अंश में ही फ़र्क होता है, इसके घुमाव में ही फ़र्क होता है। इस तरह भासित होता है।

एकबार जहाँ अंश प्रत्यक्ष से - ज्ञान के अंश प्रत्यक्ष से `पूरा अंशी इतना प्रत्यक्ष है' - ऐसा निर्णय होते ही इसका बल उत्पन्न होता है। विश्वास जो आता है (उस) विश्वास के कारण बल पैदा होता है, बल उत्पन्न होने का (कारण) ज्ञान में जो विश्वास करने का धर्म है वह है। (`तत्त्वानुशीलन' में ज्ञान के) जो ४४ धर्म लिए हैं, उसमें विश्वास करने का जो धर्म है वह विश्वास पैदा होता है। उसको प्रतीति सहित का विचार कहते हैं।

प्रतीति सहित का विचार साधक है और अनुभव साध्य है। इसके बिना राग के आधार पर आत्मा ऐसा है, आत्मा अनंत ज्ञानस्वरूप है, अनंत सुखस्वरूप है, अनंत गुणस्वरूप है ऐसा जो विचार है वह प्रतीति रहित का विचार होने से अनुभव में साधक नहीं है और वह अनुभव साध्य नहीं होता।

हमारे यहाँ जो प्रश्न उठता है कि, `गुरुदेवश्री' ने हमें आत्मा का ज्ञान तो कराया, अनेक पहलू से आत्मा सुनाया और हम वह समझे भी सही फिर भी हमें अनुभव क्यों नहीं होता है ? (क्योंकि) विश्वास नहीं है। जब अपने सुख का विश्वास अपने स्वरूपआश्रित होता है तब यह निर्णय, यह विश्वास बदल जाता है कि, किसी भी जड़ पर्याय में, संयोग में, राग में कहीं भी सुख नहीं है। जो `है' ऐसा विश्वास था वह बदलकर `नहीं है' ऐसा हो जाता है। इसलिए सिर्फ यह विश्वास हुआ सो बात नहीं है (परंतु साथ-साथ) उलटा विश्वास जो था वह खत्म हो गया। जिसको मित्र माना था वह दुश्मन है यह पता चल गया। यह हररोज़ घर आता है, हमें अच्छा भी लगता है कि, वाह ! हमारा मित्र आया, परंतु अरे ! यह तो दुश्मन है, रोज़ हमें ज़हर खिलाता है ! चीज़ें लाता है (और कहता है) खाईये थोड़ा, आज़ आपके लिए थोड़ा ये लाया हूँ, आज़ ये लाया हूँ खाईये, ऐसे हररोज़ थोड़ा-थोड़ा ज़हर खिलाता हो वैसे यह राग हररोज़ घर आता है और मीठा लगता है, सुहाता है - जैसे यह राग बहुत अच्छा, यह राग बहुत अच्छा, यह राग बहुत अच्छा जो भी राग तुझे मीठा लगता है उस मिठास में ज़हर है। वह मित्र नहीं परंतु दुश्मन है यह पता चल जाता है। यह ज़हरीला है, इसकी मिठास लेने जैसी नहीं है। इस मिठास से मुझे ज़हर चढ़ जाता है यह पता चल जाता है। बस ! फिर तो राग को देखने का दृष्टिकोण बदल जाएगा। फिर नौ तत्त्वों में पुण्य का हो चाहे पाप का हो, परंतु दृष्टिकोण बदल गया। इसका नाम भूतार्थ आश्रित हुआ।

श्रोता :- राग को परखने के लिए, इसकी जाति पिछानने के लिए यह पहचान करनी होगी।

पूज्य भाईश्री :- बस, पहचान कहो, भावभासन कहो, इसके बिना परिणाम में बल ही उत्पन्न नहीं होगा। परिणाम में बल नहीं आएगा। स्वानुभव का जो पुरुषार्थ और बल है वह भावभासन बिना किसी को उत्पन्न ही नहीं होगा और भावभासन के काल में दर्शनमोह का अनुभाग है वह बहुत अच्छी तरह कट जाता है। इतना अधिक कटता जाता है कि, अल्पकाल में वह स्वयं ही - अपनेआप उपशम के योग्य हो जाता है और उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

फिर से, `**उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को अर्थात् स्व को जाने।**' यानी कि वस्तु को जाननी है। हीरे की चमक पर से हीरे को लक्ष में लेना है, सिर्फ चमक को नहीं। `**अर्थात् स्व को जाने। ज्ञान के आधार से - निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से...**' देखो ! `निर्विकल्पज्ञानवेदन' लिया। वेदन हमेशा निर्विकल्प होता है। चाहे सुख का हो, चाहे दुःख का हो, चाहे पीड़ा का हो, चाहे दर्द का हो। तो आगे जो प्रयोग शुरू किया, प्रयोग का विषय आगे जो चला कि, अवलोकन करते जाता है... अवलोकन करते जाता है... इसमें व्यापकता से खुद की भिन्नता लगने लगती है। यह भिन्नता लगते... लगते... जीव को सामान्य का वेदन भी खयाल में आता है कि, ज्ञान में ज्ञानवेदन है। यह ज्ञानवेदन निर्विकल्प है। तो यहाँ ज्ञान के आधार से मतलब निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से; ज्ञान के आधार से भावभासन होता है, ऐसा कहना है न ? तो इसमें `**निर्विकल्पज्ञानवेदन के आधार से...**' ऐसा कहना है।

यह विषय `अमृतचंद्राचार्यदेव' ने (`समयसारजी' के) परिशिष्ट में लिया है कि, आप ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी का निर्णय करने का कहते हो परंतु वह कैसे ? वह कहाँ प्रसिद्ध है ? तो कहते हैं

कि प्रसिद्ध है, वेदन में प्रसिद्ध है। ज्ञान ज्ञेय को जानते हुए प्रसिद्ध होता है यह विषय - यह पहलू वहाँ पर नहीं लिया। वरना वह प्रधान धर्म है। वेदन जब तक समझ में नहीं आता तब तक जानता है जाननेवाला है सो ज्ञान... जाननेवाला सो ज्ञान... ऐसे ज्ञान को समझना पड़ता है। जो जाने सो ज्ञान - इस तरह ज्ञान को समझना पड़ता है। परंतु स्वरूपनिश्चय के काल में `जो जाने सो ज्ञान' यह पहलू नहीं है, (परंतु) `वेदन करे सो ज्ञान' यह विषय यहाँ पर चलता है। क्योंकि वेदन में पर के साथ संबंध नहीं है। ज्ञान को ज्ञेय के साथ संबंध है। जानने में जिसकी जानकारी होती है उसके साथ संबंध है जब कि ज्ञानवेदन को किसी के साथ संबंध नहीं है। क्योंकि पर का वेदन तो कर सकता नहीं। अतः वस्तुतः संबंध है भी नहीं और ज्ञान में जब ज्ञानवेदन का आधार लिया वहाँ तो प्रश्न ही नहीं है कि, किसीके साथ कोई संबंध है।

प्रश्न :- ज्ञान सो मैं ?

समाधान :- हाँ, उसमें वेदन के आधार से `मैं पना' हो तब उसे यथार्थरूप से अस्तित्वग्रहण कहते हैं, तब उसे भावभासन कहते हैं, तब उसे स्वरूपनिश्चय कहते हैं, जो कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव का अनन्य कारण है, निश्चयकारण है अथवा जिस कारण के साथ सम्यग्दर्शन और स्वानुभवरूपी कार्य की प्रतिबद्धता है, बंधा हुआ है। कारण के साथ जब कार्य प्रतिबद्ध हो - बंधा हुआ हो तब उस कारण में कार्य का उपचार करने की छूट दी है। वह भी सम्यग्दर्शन है, उसे समकित कहते हैं। `श्रीमद्जी' ने ७५१ (पत्र में) उसे समकित कहा - `स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति।' सम्यग्दर्शन बतलाना है इसलिए `प्रतीति' शब्द इस्तेमाल किया और ज्ञान की पर्याय है इसलिए `स्पष्ट अनुभवांश से' ऐसा कहा। ज्ञान का अनुभव करने का - वेदन करने

का धर्म है और भावभासन प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी स्पष्ट है, अस्पष्ट नहीं है। अनुमान में जो ऐसा... आत्मा ऐसा... आत्मा ऐसे जो विचार द्वारा करता है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। स्पष्ट है क्योंकि प्रत्यक्ष अंश से पकड़ा है इसलिए स्पष्ट है, बिलकुल अस्पष्ट नहीं है। इतना स्पष्ट है कि, जब निर्विकल्प स्वानुभव में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा इसका अनुभव होने के पश्चात् पुनः जब सविकल्पदशा आती है तब यदि दोनों दशाओं का विचार करे - व्यतीत हो चुकी दोनों दशाओं का विचार करे कि, पहले एक दफ़ा जब भावभासन हुआ था फिर आगे बढ़ने पर जो अनुभव हुआ, तो उसमें भावभासन के समय निर्णय की पर्याय में और इसमें (अनुभव में) फ़र्क क्या? प्रत्यक्ष-परोक्ष के अलावा कोई फ़र्क नहीं है। अथवा प्रत्यक्ष-परोक्ष की जो स्पष्टता है, इसकी स्पष्टता में फ़र्क था तो भी वह स्पष्ट ही था। स्पष्ट इसलिए कहना पड़ता है कि, भावभासन में जैसा मेरा स्वरूप था वैसा ही अनुभव में आया है। इससे बिलकुल हीनाधिक नहीं आया या इसमें कोई अंतर नहीं देखा गया। उन दोनों के बीच मुझे कोई फ़र्क मालूम नहीं पड़ा। जैसा भाव मुझे भासित हुआ था वैसा ही अनुभव में आया। जैसा मुझे अपने स्वरूप का भाव भासित हुआ वैसा ही मुझे मेरे स्वरूप का अनुभव हुआ है, इसमें कोई फ़र्क नहीं है। इसलिए यह स्पष्टता दर्शाने हेतु `गुरुदेवश्री' ऐसा कहते थे कि, केवलज्ञान में आत्मा जैसा आता है वैसा ही यहाँ पर ज्ञान में आता है, जैसा केवलज्ञान में ज्ञान में आता है ऐसा ही यहाँ आता है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि तीनों में प्रत्यक्षता की जाति एक है, (भावभासन से) जाति पलट गई, भावभासन से गौणरूप से जाति पलटी है, मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन से जाति पलटती है।

प्रश्न :- आपने कहा वैसा भावभासन कायम तो नहीं रहता है न ?

समाधान :- रहता ही है, वह छूटे ही नहीं, ऐसी चीज़ है। हमलोग जब आत्मा का विचार करते हैं तब मैं फलाना-फलाना शरीरवाला हूँ वह कोई छूट जाता है क्या ? विचार तो क्या करते हैं कि, मैं देह से रहित - देह से भिन्न आत्मा हूँ। ऐसा विचार करते वक्त देह सहित आत्मा हूँ यह कोई छूट नहीं जाता। मिथ्यात्व अवस्था में - अज्ञान अवस्था में छूट जाता है क्या ? रहता है कि नहीं ? विरुद्ध विचार करते हुए भी रह जाता है। वहाँ तो विरुद्ध विचार आता ही नहीं है। कुछएक प्रवृत्ति - बाह्यप्रवृत्ति मन, वचन, काया के योग से होती हैं परंतु ऐसा विचार नहीं आता है कि, मैं शरीरधारी हूँ। जब कि यहाँ तो ऐसा विचार करते हैं कि, मैं शरीर रहित आत्मा हूँ, रागरहित आत्मा हूँ, फिर भी शरीरवाला और रागवाला हूँ यह चालू रहता है। यानी कहने का मतलब इतना है कि रह सकता है। विरुद्ध प्रवृत्ति के समय भी अविरुद्ध परिणाम चालू रह सकते हैं। यह अभ्यास का विषय है। यह भावभासन है उसमें ज्ञान की परिपक्वता का सवाल है। यह ज्ञान परिपक्वता को प्राप्त करके परिणमन कर रहा है। यूँ ही ऊपर-ऊपर से अनुमान कर लिया, विचार कर लिया, ऐसा नहीं है।

फिर से, '**ज्ञान के आधार से - निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है।**' अब ऐसा क्यों कहा ? कि, लक्ष कभी खसता नहीं। आपको यहाँ से घर पहुँचना हो तो रास्ते में चाहे जितने मोड़ लेने पड़े, चाहे जितने भी Traffic में मोड़ लेने पड़े और Traffic से निकलने के लिए विचार आए तो भी उसवक्त घर पहुँचने का लक्ष बना ही रहता है। भले ही ज्ञान की प्रवृत्ति में 'घर पहुँचना है' ऐसा विचार तब नहीं भी हो। विचार तो उसवक्त कैसे Trafficमें से जल्दी निकले इसका है कि, जैसे रास्ता क्रास करना है ज़रा देख ले दोनों तरफ कोई टकरा न जाए। फिर भी घर पहुँचना है यह लक्ष में है। क्योंकि रास्ता भी क्यों क्रास करना है ? घर पहुँचने के लिए। मतलब कि वह छूटता नहीं है - लक्ष में आयी हुई चीज़ छूटती नहीं है। वैसे यह जो निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है, जो लक्ष फिर चला नहीं जाता, जो लक्ष फिर मिटता नहीं है, जो लक्ष छूटता नहीं है। बस ! तमाम शास्त्रस्वाध्याय का (तात्पर्य इतना ही है)। शास्त्रस्वाध्याय द्वारा यहाँ तक पहुँचना बन सकता है। यहाँ तक जीव पहुँचता है। इसलिए 'श्रीमद्‌जी' ने लिया कि 'लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई' शास्त्रस्वाध्याय किस लिए हैं ? ये सुखदायक ऐसे सत्‌शास्त्र (किस लिए है) ? कि, तू लक्ष तक पहुँच जा।

श्रोता :- यह लक्ष है वह भावभासन पश्चात् का लक्ष है।

पूज्य भाईश्री :- भावभासन और लक्ष दोनों एक ही पर्याय के पहलू हैं। उसे भावभासन कहो, चाहे उसे लक्ष कहो, चाहे स्वरूपनिश्चय कहो, चाहे अस्तित्वग्रहण कहो।

प्रश्न :- पूर्णता के लक्ष से शुरूआत करने की बात जो कही वह लक्ष दूसरा है क्या ? !

समाधान :- पूर्णता के लक्ष में तो पूर्ण शुद्ध पर्याय में पहुँचने का ध्येय है कि मुझे यहाँ पहुँचना है। शास्त्र में लक्ष के दो अर्थ हैं। एक पर्यायार्थिकनय के विषय में हो तब जीव को जहाँ पहुँचना है उस पूर्ण शुद्ध पर्याय का विषय शास्त्र में चलता है। जिसे आत्मलक्ष कहते हैं - स्वरूपलक्ष कहते हैं उसमें त्रिकाली शुद्धस्वरूप का लक्ष

है और दोनों एक-दूसरे से जुड़े हैं, दोनों बातें संलग्न हैं। पूर्णता के लक्ष बगैर इस लक्ष तक नहीं पहुँच सकते। जिसे पूर्णता का लक्ष नहीं होता उसको स्वरूप लक्ष हो वहाँ तक भीतर में जो प्रयोग का प्रकार है वह उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि जिसके जीवन का ध्येय पूर्णशुद्धि नहीं है, उसके जीवन का ध्येय पौद्गलिक जो अनादि से चार संज्ञारूप है, वही है। जिसके कारण चार संज्ञा है वह अनादि से है। जिसका ध्येय पुद्गल आश्रित है उसको स्वरूपनिर्णय होने का अवसर ही नहीं है। निर्णय संबंधित कोई Process और प्रयोग चलेगा ही नहीं, असंभव है। अतः यह तो नींव की बात है कि, शुरूआत जिसको करनी हो उसको प्रथम ध्येय बदलकर आना।

यदि आत्मा का लक्ष करना हो, आत्मा का निर्णय करना हो, अनुभव तो बाद में होगा, उसको प्रथम ध्येय बदलकर यहाँ आना। निर्णय की बात सुनने, ग्रहण करने, समझने या प्रयोग करने की पूर्व शर्त यही है कि, ध्येय बदलकर बैठो ! Subject to condition है। ध्येय बदलकर यदि नहीं बैठा तो तेरे लिए ये सारी बातें काम की नहीं हैं, बेकार हैं। फिर चाहे तू निर्णय की - भावभासन की बात कर चाहे आत्मानुभव की बात कर चाहे अध्यात्म की पर्याय की कोई भी बात करने में चाहे कोई भी आध्यात्मिक विषय लिया जाता हो परंतु जिसने ध्येय नहीं बदला है उसके लिए यह विषय नहीं है। शायद थोड़ा मनोरंजन जरूर होगा कि, अच्छा लगता है इसलिए मैं पढ़ता हूँ, अच्छा लगता है इसलिए मैं विचार करता हूँ, परंतु नींव में फेरफार नहीं हुआ, पुरानी नींव में सब गड़बड़ अभी भरी पड़ी है।

जिसको राग का एक कण भी चाहिए, जिसको पुद्गल का एक रजकण भी चाहिए, उसको पूरा विश्व चाहिए। उसको अभिप्राय में चक्रवर्तीपद से भी संतोष नहीं है। जिसके अभिप्राय में राग का कण और एक रजकण भी चाहिए उसको चक्रवर्तीपद से भी संतोष होनेवाला नहीं है, उसको छः खण्ड भी अधूरे लगेंगे, उसको लगेगा कि, मैं तीन लोक का अधिपति बनूँ तो कितना अच्छा, हालाँकि तीन लोक का नाथ तो स्वयं ही है इसीलिए जीव को ऐसी चाहना रहती है। (जैसे) सुखस्वभाव है इसीलिए सुख को चाहता है, वैसे ही तीन लोक का नाथ है इसलिए तीनलोक का आधिपत्य चाहता है। लेकिन रास्ता जो है वह गलत पकड़ा है इसलिए दुःखी होता है। वह मिलता तो नहीं, तीन लोक का राज्य तो नहीं मिलता है परंतु दुःखी होता है, आकुलित होता है। ऐसा है। (इसलिए) पहली बात वही है।

अतः कभी-कभी ये सब चर्चा करते वक्त हम कहते ही हैं कि, यह जानने का विषय है। दूसरे रास्ते पर भटक न जाए इसलिए जानने का विषय है और पर्याय मात्र जानकारी का विषय है, आश्रय करने का विषय नहीं है। ध्येय नक्की कर तेरी चाल स्वतः निश्चित होगी। कहाँ जाना है यह नक्की कर, तेरी चाल उसी दिशा में स्वतः निश्चित होगी। तेरे कदम उसी दिशा में रखे जायेंगे, दूसरी दिशा में नहीं जायेंगे। शायद कभी रास्ते में ऐसा Traffic (भीड़) होगा तो कभी थोड़ी पीछेहट करने पड़ेगी परंतु वह भी आगे बढ़ने के लिए ही पीछेहट की है। तू पीछे हटेगा तो भी यह देखकर कि किस तरफ पीछे जाऊँ कि फिर मैं आगे जा सकूँ। ऐसा होगा। अतः इस मूल बात को ध्रुव के स्थान में रखकर है, नींव की बात को छोड़े बिना कोई बात नहीं है।

(अब कहते हैं) `**यह निर्णय राग या निमित्त (देव-शास्त्र-गुरु) के**

आधार से हुआ नहीं है,...' राग के वर्तमान शुभभाव के आधार से नहीं हुआ, स्वभाव संबंधित जो विकल्प है उसके आधार से नहीं हुआ है, वैसे ही देव-गुरु-शास्त्र ने कहा इसलिए मैंने यह माना, ऐसा भी नहीं। (अतः) देव-गुरु-शास्त्र के आधार से भी नहीं हुआ। `**परंतु राग से अंशतः मुक्त होकर...**' यह बात `गुरुदेवश्री' के प्रवचन के आधार से की है। `**परंतु राग से अंशतः मुक्त होकर...**' (अर्थात्) राग का अभाव करके `**ज्ञान से ज्ञानस्वभाव का** (**स्व का**)...' यानी कि स्वयं का `**ज्ञान की अधिकता में...**' अर्थात् `(**अनादि राग की मुख्यता थी उसको पलटकर के**)' छोड़कर के `**हुआ भावभासन है,...**' इसको भावभासन कहो - स्वरूपलक्ष कहो - स्वरूपनिर्णय कहो, सब एक ही हैं। `**कि जिसमें भवी-अभवी की शंका नहीं रहती।**' प्रथम ही भीतर इसकी भनक आ जाती है। मैं अभवी हूँ या भवी हूँ वह भले ही केवलज्ञान का विषय हो, छद्मस्थ के ज्ञान का विषय न हो फिर भी खुद को अपने लिए अपने ज्ञान का विषय पहले हो जाता है कि, अब मैं (मार्ग को) प्राप्त हो जाऊँगा। उसे फिर शंका नहीं रहती। मेरा भव्यत्व नज़दीक है, मैं अब मोक्षमार्ग में बहुत तेज़ी से आ जाऊँगा।

जिसको अपना प्रत्यक्ष आत्मा प्रत्यक्षस्वरूपरूप भासित हो जाए उसके परिणामों को कैसे रोका जा सकता है ? बाहर में थोड़ा-सा नुकसान हो उसमें भी हर्ष-शोक को रोक सकता है क्या ? नहीं रोक सकता। जो अनित्य है, जिसके आधार पर हर्ष-शोक को रोक नहीं सकते वे सभी प्रसंग अनित्य हैं। यह तो नित्य-नित्य वस्तु और अनंत गुणस्वभावी, अनंत सामर्थ्य स्वभावी, अनंत सुख, ज्ञानस्वभावी - इतना सब कुछ एकसाथ अभेद (भावरूप) भासित हो (फिर तो) परिणाम को कैसे रोक सके ? अतः उसे अपनी

भव्यता की शंका तक नहीं रहती।

प्रश्न :- मुमुक्षु की दशा में भव्य-अभव्य का निर्णय हो सकता है ?

समाधान :- हाँ, भावभासन के समय कितना अचूक (निर्णय) हो सकता है ! सिर्फ हो सकता है इतना ही नहीं - अटल ! इसमें फिर कोई शंका नहीं रहती। स्वयं का भव्यत्व भासित होता है और निःशंकरूप से भासित होता है। हकीकत में तो जो पारिणामिकभाव भासित हुआ वह तो भव्यत्व-अभव्यत्व से रहित है। क्योंकि ये भव्यत्व-अभव्यत्व तो अशुद्ध पारिणामिक है और जो भासित हुआ वह तो शुद्ध पारिणामिक है। (`समयसार') `जयसेनाचार्यदेव' की ३२० (गाथा की) टीका। परंतु वह उसका लक्षण है। जब भावभासन हो गया फिर अपने भव्यत्व की शंका-आशंका का प्रश्न नहीं है। यह भावभासन की निःशंकता को प्रदर्शित करता है। केवलज्ञान के विषय को मुख्य करके यह बात की है।

`**ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है।**' ज्ञान में अपने में ही वेदन करने का स्वभाव है। और आत्मा में ज्ञान के अलावा अन्य किसी भी गुण में वेदन का स्वभाव नहीं है, इस एक ही गुण में है। अतः ज्ञान स्वयं ही अपनेरूप में ही वेदकस्वभावी है। `**इसलिए प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में,...**' क्या कहते हैं ? `**प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे, तब स्वसन्मुख होकर वेदन का** (**प्रसंग**) **बनता है।**' अब (आगे जो कह गए कि) सन्मुख कैसे होना ? जाना तो सही कि अंतर्मुख हुए बिना अनुभव नहीं होता, तो अब अंतर्मुख कैसे होना यह एक समस्या है। अभी इसका उकेल यहाँ से शुरू करते हैं।

`**ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है। इसलिए प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय**

में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे...' चलते हुए वेदन पर उपयोग रखे, ऐसा कहना है। चलती हुई ज्ञान की पर्याय स्वयं उपयोग है। उपयोग (जब) जाता है दूसरों पर - राग पर और राग के विषय पर तब वह उपयोग बहिर्मुख होता है। यह तो कैसे बहिर्मुख होता है (यह कहा)। उपयोग है वह ज्ञान की पर्याय है, वह राग और राग के विषय के प्रति खींचता है इसलिए बहिर्मुख होता है। यही उपयोग जब अपने में मौजूद ज्ञानवेदन पर आता है तब उसकी दिशा बदल जाती है। यह अंतर्मुख होने की कला है।

प्रश्न :- पर्याय स्वयं `यह मैं' ऐसा ज़ोर करके अंतर में जाती है ?

समाधान :- इसमें क्या है कि, ज़ोर करने के बज़ाय क्या है कि वेदन तो चल ही रहा है, ज्ञान की जो पर्याय है इसमें वेदन तो चल ही रहा है, अब यह वेदन जहाँ चलता है वहाँ देखो न ! ऐसा कहते हैं। यूँ बाहर देख रहे हो इसके बज़ाय (भीतर में) वेदन चलता है, इसमें देखो न ! मेरे ज्ञान में ही मेरा ज्ञानवेदन चल रहा है, ऐसे देखो न ! (यह देखने के लिए) उसको (अंतर की ओर) झुकना पड़ेगा, यूँ (बाहर से) (अंदर की ओर) मुड़ना पड़ेगा। या जैसे यूँ झुक रहा है वह पर्याय पूरी होने के बाद यूँ नहीं झुकेगा, दूसरी पर्याय यूँ (अंतर्मुख) उत्पन्न होगी। ऐसा है।

अलबत इसमें ज्ञान की धीरज है, ज्ञान की सूक्ष्मता है, ज्ञान की तीक्ष्णता है। ये तीन पहलू ज्ञान में साथ-साथ हैं। जब कोई ज्ञान का उपयोग, अपनी वर्तमान ज्ञान की पर्याय के वेदन को उपयोग में लेता है तब वह धीरा होकर, सूक्ष्म हो कर, तीक्ष्ण होकर वेदन को पकड़ता है। क्योंकि वेदन इतनी अधिक मात्रा

में तिरोभूत अवस्था में है। जिस प्रकार स्वसंवेदन में उभरकर बाहर आता है ऐसा वेदन नहीं है। निहित वेदन को पकड़ना है (अर्थात्) वेदन जो छिपी (हुई अवस्था में) है उसे पकड़ना है। अतः उसे सूक्ष्म होकर, तीक्ष्ण होकर, धीरे होकर अपने ज्ञान में मौजूद ज्ञानवेदन पर उपयोग ले जाना है। जो उपयोग ज्ञान के वेदन पर आएगा वह खुद ही है, यानी कि खुद अपने पर आएगा तब बाहर की दिशा बंद हो गई। इस प्रकार स्वसन्मुख हुआ जाता है।

प्रश्न :- ये जो ज्ञेयाकार दिखते हैं, ज्ञेयाकार को जानते समय भी ये ज्ञेयाकार सो मैं नहीं, ज्ञान सो मैं हूँ ,ऐसा होता है ?

समाधान :- ज्ञेयाकारों को तो इतने गौण कर देने हैं कि, मालूम होने पर भी जैसे दिखते ही नहीं हैं। इतना (प्रबल) ज्ञानसामान्य का दृष्टिकोण साध्य करना है। इस वेदन पर उपयोग को ले जाना इसकी दूसरी भाषा यह है कि, प्रवर्तमान ज्ञान के उपयोग में मुझे ज्ञान का अनुभव हो रहा है - ऐसा दृष्टिकोण साध्य करना है। मुझे मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञानवेदन अनुभव में आता है ऐसा सूक्ष्म अनुभव का दृष्टिकोण साध्य करना है। यहाँ से भेदज्ञान शुरू होगा, इसके पहले भेदज्ञान नहीं होता।

अंतरंग में मतलब ज्ञानसामान्य में, ज्ञान विशेष - ज्ञेयाकार ज्ञान है वह ज्ञान का बहिरंग है, यहाँ अंतरंग में अनुभवदृष्टि से मतलब अंतरंग में अनुभव किसका हो रहा है ? ज्ञान के अंतरंग में अनुभव किसका हो रहा है ? अनुभवदृष्टि से देखना है कि ज्ञान में ज्ञानवेदन है। इतना देखने पर राग से हटना पड़ेगा और दिशा बदलेगी। इसके पहले दिशा नहीं बदलेगी। बारह अंग में अगर कोई रहस्यभूत Pinpoint बात है तो वह इतनी ही है। यह रहस्य साध्य हुआ कि, Line खुल गई - मोक्षमार्ग के अंत पर्यंत - केवलज्ञान पर्यंत का

दरवाज़ा खुल गया ! भावभासन की यह पहली पर्याय है जिसमें दिशा बदलती है। यह सीधी बात है। `परमागमसार' में इस विषय पर एक बोल है, हमलोग लेंगे, कल मैं देखकर आऊँगा (अभी) याद नहीं आता कौन-सा नंबर है। परंतु `परमागमसार' में दिशा बदलने के विषय पर एक बोल है। ऐसे लेना है।

फिर से, `**इसलिए प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे,...**' अब क्या है कि, आदमी को जब किसी भी विषय में Expert होना हो, किसी एक Line में Expert होना हो, तब उस Line की गहराई में जाना ही पड़ता है। इसकी गहराई को हस्तगत किये बिना उस विषय में निष्णात नहीं हुआ जाता। अब एक सामान्य बात ले तो (`समयसारजी' की) १५ वीं गाथा में जो दृष्टांत दिया है कि, रसोई में नमक का हीनाधिक प्रमाण नक्की करना है। किसी प्रसंग के उपलक्ष में जेवनार में सौ-दोसौ-पाँचसौ-हज़ार आदमी का खाना बनाना हो तब इतनी Expert (व्यक्ति जो होती है उसमें) इतनी विचक्षणता होती है। (चखते वक्त) देखनेवाले को कितने स्वाद गौण करने पड़ते हैं ? खटाई भी डाली है, मीठापन भी डाला है, तीखाश भी डाली है, स्वाद अच्छा करने के लिए दूसरे अनेकों मसाले भी डालें हैं, फिर भी सिर्फ नमक की जाँच करने का दृष्टिकोण जिसके पास नहीं होता है वह यह तय नहीं कर सकता है कि, रसोई में नमक की कमी है या नहीं ? नमक ज्यादा है, कम है या सप्रमाण है - तीनमें से एक Decision देना होगा। तो वहाँ देखनेवाले के पास ऐसा देखने का दृष्टिकोण है। वैसे ज्ञान में ज्ञानवेदन को - ज्ञान में अनुभव कहो चाहे ज्ञानवेदन कहो, उसे देखने का दृष्टिकोण साध्य करना है और इसके लिए Practice करनी है। इसके लिए (सिर्फ) विचार

नहीं करना है बल्कि Practice करनी है। ऐसी Practice चले और इस अनुभव में वेदन का ग्रहण हो तो यहाँ से अनुभव की Line से अनुसंधान होता है। विचार से वह आगे चला, विचार की कक्षा से आगे बढ़कर अनुभव की कक्षा में प्रवेश किया।

अनुभव के लिए अनुभव की कार्यपद्धति ही सफल होनेवाली है। अनुभव के लिए अनुभव की कार्यपद्धति को छोड़कर विचारपद्धति में ही लगा रहे कि, मैं तत्त्व का बहुत विचार करता हूँ, शास्त्रस्वाध्याय भी बहुत करता हूँ, (लेकिन इसमें) सफलता नहीं मिलेगी। थक जाएगा तो भी नहीं मिलेगी, चाहे कितनी भी वर्ष, चाहे कितनी भी जिंदगी - हज़ारों-लाखों वर्ष के आयुष्य मिलेंगे तो भी सफलता नहीं मिलेगी। अभी तो समय है ही नहीं। वास्तव में तो जिसने विचार कर लिया है उसके पास अब विचार करने का समय ही नहीं है। उसको तो अनुभव की कार्यपद्धति में शीघ्रातिशीघ्र आ जाना चाहिए। समय नहीं है, क्योंकि समय (ही) नहीं है। इस काल में आयुष्य इतने अल्प हैं और इसमें भी इतना अंश तो बीत चुका है कि विचार करने के लिए अब समय नहीं बचा। एक बार Theory का विचार कर लिया, (अब) Practical side में आ जा। Theory समझ में आ गई, कुदरती उलटे अभिप्राय इतने कम ग्रहण किए हो कि जिसकी बदौलत Theory तुझे सांगोपांग समझ में आ गई हो (तो अब) प्रयोग में आ जा ! अब विचार में समय गँवाने का वक्त नहीं है अथवा विचार भी प्रयोग के साथ ही करना है, बिना प्रयोग कोरा विचार नहीं करना है। यह परिस्थिति है।

फिर से, `**प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे,...**' कब...? कि, अनुभव के दृष्टिकोण से वेदन को देखने की Practice हो तो। इसके पीछे इतनी बात अध्याहार

है। `**तब स्वसन्मुख होकर वेदन का (प्रसंग) बनता है।**' तब यह वेदन पकड़ में आता है और इसमें स्वसन्मुखता उत्पन्न होती है। जब वेदन पकड़ में आता है तब स्वसन्मुखता आती है। इसके बिना स्वसन्मुखता नहीं होती। `**-इस तरह स्वसन्मुख होने की रीति (पद्धति) है।**' लीजिए ! बात तो ढाई पंक्ति की है। `इस तरह...' इसमें ढ़ाई पंक्ति पूरी की है। लेकिन बात तो ढाई पंक्ति में जो है सो कर दी है। जब तक दिशा नहीं बदलेगी तब तक दशा किसी भी अन्यथा प्रकार से नहीं बदलेगी, नहीं (बदलेगी) और नहीं (बदलेगी)। अतः इस विचार की Side को गौण कर दे !

मेरे ज्ञान में ज्ञानवेदन कहाँ है ? किस प्रकार है ? यही देखना है। अतः आपके सभी विकल्पों का संक्षेप होता जाएगा। देखो ! कुदरती क्या होता है ? निर्विकल्प कैसे हुआ जाता है ? निर्विकल्प क्यों नहीं हुआ जाता ? कि, विचार बहुत लंबे चलते रहते हैं इसलिए निर्विकल्प नहीं हुआ जाता है। शास्त्र पढ़कर भी जब तक विकल्पवृद्धि होती है तब तक निर्विकल्प नहीं हुआ जाता। तो अब विचारों का संक्षेप करने का प्रयोग क्या है ? कि, तू वेदन में आजा ! दूसरी कोई बात का विचार ही इसमें नहीं करना है। वेदन को लक्ष में ले, वेदन में आने का तू प्रयत्न कर। वेदन की Side तू पकड़ ले। बस ! दूसरी कोई इसमें लम्बी-चौड़ी बात है नहीं। सब तरफ से उपयोग का संक्षेप हो जाएगा। जीव अगर वेदन में आना चाहेगा तो सब तरह से उसकी विचारधारा का संक्षेप हो जाएगा। अतः निर्विकल्प होने के पहले भावभासन के समय से ही विकल्पों के टूटने में कितनी पूर्वतैयारी होती है ! विषय इतना गहरा और थोड़ा गूढ़ है इसलिए लोगों के हाथ में जल्दी से नहीं आता है। फिर लग जाते हैं बाह्यक्रिया में - कोई शास्त्रवांचन की बाह्यक्रिया में

लग जाता है तो कोई पूजा, भक्ति, उपवास आदि में (लग जाता है) फिर तो सब एक ही बात है, इसमें कोई ज्यादा फ़र्क नहीं।

`**अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को...**' इसीका स्पष्टीकरण चलता है हं ! `**अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को वेदते समय...**' विचार के समय नहीं, वेदते समय `**ज्ञान की दिशा किसी बाह्यज्ञेय पर नहीं होती है,...**' या नहीं रहती है। `**परंतु यहाँ ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है और अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है।**' आत्मा का स्वभाव भी अंतर्मुख होकर परिणमन करना - ऐसा आत्मस्वभाव है। सर्वप्रथम स्वभाव के भासन में यह पहलू भी भासित होता है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वैसे आत्मा सुखस्वभावी है, वैसे ही आत्मा अंतर्मुख परिणमनस्वभावी है। बहिर्मुख परिणमन होना यह तो आत्मा का विभाव है, आत्मा का स्वभाव हरगिज़ नहीं है - बिलकुल नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि अंतर्मुख परिणमन करना। आत्मा का ऐसा स्वभाव है इसलिए सिद्धपरमात्मा निरवशेष अंतर्मुख स्थिति में अरिहंतदशा से ही आ जाते हैं - परिपूर्ण अंतर्मुखता ! अतः जब `**ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है और अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है।**' जो Hyphen किया है इसका मतलब `परिणमन का' (ऐसा अर्थ होता है) छठी विभक्ति का षष्टी समास है। परिणमन का स्वभाव अंतर्मुख होकर परिणमन करने का है, ऐसे आत्मस्वभाव का भी वहाँ प्रतिभास आता है कि, ओहो...! मेरा तो स्वभाव ही अंतर्मुख(रूप) परिणमन करने का है, अब मैं उपयोग को अंतर्मुख करूँ ऐसा कर्तृत्व टूट गया। बहिर्मुख कार्य करूँ और बहिर्मुख परिणमन करूँ - ऐसे कर्तृत्व का तो प्रश्न नहीं है। (परंतु) मैं अपने उपयोग को अंदर में ले जाऊँ और अंतर्मुख करूँ - ऐसा कर्तृत्व भी किसके आधार से टूटता है ? तो (कहते हैं) कि, अंतर्मुख परिणमन

करने का तो स्वभाव है इसमें करना क्या है ? अंतर्मुख होने का तो मेरे आत्मा का परिणमनस्वभाव है। मुझे करना, यह प्रश्न ही कहाँ है ? मिर्ची में तीखाश कहाँ लानी है ? वैसे ही ज्ञान में जानना, यह कहाँ लाना है ? ज्ञान में जानना कैसे, यह लाना है क्या कि, मैं ज्ञान में जानने का कार्य करूँ ? मेरा ज्ञान जानता नहीं है इसलिए ज्ञान में जानने का जैसे (शुरू) करूँ ! नया लाना है क्या ? वहाँ तो जानना यह स्वभावगत है। जिस तरह ज्ञान में जानना यह स्वभावरूप ही है वैसे परिणमन में स्वभाव अंतर्मुख परिणमन करना यह इसका स्वभाव है। यहाँ खुद को अपना स्वरूप प्रतिभासित होता है। अतः पर्याय को निर्विकल्प करूँ, अंतर्मुख करूँ यह प्रश्न समाप्त होता है। कर्तृत्व का आखरी Point यह है। पुरुषार्थ करूँ, श्रद्धा करूँ, ज्ञान करूँ, अनुभव करूँ, परिणाम को अंतर्मुख करूँ - ये सब खत्म हो गया। परिणाम का कर्तृत्व मात्र छूट गया। यह कर्तृत्व है वह मिथ्यात्व है। परिणाम का कर्तृत्व ही पर्यायबुद्धि है, वही मूढ़ता, वही मिथ्यात्व है। इसमें सीधा फर्क पड़ता है।

श्रोता :- ज्ञान की वेदनशक्ति में आये तो परिणमन का स्वभाव तो अंतर्मुख होने का है इसलिए सहज होता है ?

समाधान :- खुद अंतर्मुख हुआ न ? वेदन को पकड़ने से अंतर्मुख हुआ, इसलिए उसे स्वभाव पकड़ में आया कि, अरे...! सहज भीतर की ओर झुका तो पता चला कि, पूरा स्वभाव ऐसे अंतर्मुख होने का है !! गुड़ का टुकड़ा चखते ही पूरी भेली का पता चल जाता है, ऐसा है। पूरी भेली इतनी मीठी है, यह भेली ले लो ! ऐसा है।

यह विषय थोड़ा विस्तार से लेंगे, समय हुआ है।

❀

११ दि. १८-०३-१९९०

`सुविधि' `**ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है।**' वेदन का स्वभाव - वेदन है वह ज्ञानपरिणमन के साथ अभेद है। `**इसलिए प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे, तब स्वसन्मुख होकर वेदन का (प्रसंग) बनता है।**' जब प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय - चलती हुई ज्ञान की पर्याय अपने में विद्यमान वेदन का अनुभव करती है तब उसका - ज्ञान का परसन्मुख होना बंद होकर स्वसन्मुख हो तब ही उसको वेदन का ग्रहण होता है। वेदन तो वेदन है परंतु वेदन का ग्रहण होना वह जब उपयोग की दिशा बदलती है तब होता है।

प्रश्न :- वेदन का ग्रहण होना मतलब परिणति हुई ?

समाधान :- नहीं, उपयोग मतलब यहाँ ज्ञान का उपयोग है। उपयोग खुद ही अपने पर आता है। उपयोग स्वयं में प्रवर्तित वेदन पर आता है। पर से और राग से भिन्नता का अभ्यास व्याप्य-व्यापकता के अवलोकनपूर्वक जिसका ठीक-ठीक प्रमाण में - पर्याप्त मात्रा में होता है उसको अपने ज्ञान में मौजूद वेदन को ग्रहण करने की क्षमता आती है - योग्यता आती है। तब उपयोग स्वयं ही अपने मौजूद वेदन के सन्मुख होकर अपने ज्ञानवेदन को ग्रहण

करता है।

`**इस तरह स्वसन्मुख होने की रीति (पद्धति) है।**' इसके पहले यह जीव ने अनेक प्रकार से धर्म के कार्यों में बहिर्मुखभाव से प्रवृत्ति की है। आत्मा का - परमात्मा का चिंतन, मनन, घोलन, निदिध्यासन ये जो कुछ भी होता है सब बाहर ही बाहर होता है। दिशा जब तक नहीं बदलती तब तक अंतर्मुख की दिशा में एक कदम भी जीव आगे नहीं बढ़ता। बहिर्मुख दिशा में चाहे कितना भी आगे बढ़ जाए फिर भी वहाँ दिशा का विपर्यास है। दिशा विपरीत होने से अविपरीत कार्य नहीं सधता। अब यह ज्ञानवेदन कहाँ मौजूद है ?

`**अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को...**' वह परिणति में है। परिणति में मौजूद जो ज्ञानवेदन, या ज्ञानसामान्य मौजूद जो ज्ञानवेदन उसको `**वेदते समय...**' मतलब उस पर उपयोग को ले जाने से, ऐसा (कहना है)। परिणति में जो ज्ञानवेदन है उस तरफ उपयोग को ले जाने से `**ज्ञान की दिशा...**' उपयोग की दिशा बाहर की ओर, पर की ओर नहीं रहती, नहीं होती। तब `**ज्ञान की दिशा किसी बाह्यज्ञेय पर नहीं होती है, परंतु यहाँ ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है।**' और जब ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है तब वस्तु का स्वभाव-आत्मा वस्तु - आत्मा पदार्थ का स्वभाव अंतर्मुख परिणमन करने का है ऐसा `**अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है।**' यानी कि वस्तु अंतर्मुख परिणमनस्वभावी है ऐसा भासित होता है। अतः अंतर्मुख होऊँ, परिणाम को अंतर्मुख करूँ यह प्रश्न भी इधर खत्म होता है।

जब स्वभाव ही अंतर्मुख परिणमन करने का है वहाँ कृत्रिमता और कर्तृत्व की बात अभिप्रायमें से खत्म होती है। मुझे ऐसा करना

है, मुझे ऐसा होना है - यह अभिप्राय खत्म हो जाता है। कर्तृत्व का अभिप्राय, कृत्रिमता करने का अभिप्राय (खत्म होता है)। सहज आत्मस्वरूप में सहजरूप से अंतर्मुख होना यह तो इसका स्वभाव ही है। उसको मैं अंतर्मुख करूँ और ऐसे परिणमन करूँ ऐसा (जो) कर्तृत्व है वह बात का अभाव हो जाता है।

प्रश्न :- व्रत, तप, पूजा, भक्ति तो करें न ?

समाधान :- वे सब बहिर्मुख परिणाम से होनेवाले कार्य हैं, और ऐसे (कार्य) जीव ने अनंतबार किए हैं। छः-छः महीने नीचे अग्नि जलाकर उलटा लटका है। ऐसे कठिन तप किए हैं। आत्मा की शांति पाने के लिए इस जीव ने बहुत परिश्रम किया है परंतु अभी तक तो उसने आत्मशांति का स्वाद भी चखा नहीं। अतः अब बाह्य कार्यों से दिशा को पलटकर परिणाम में अंतर्मुख की दिशा कैसे हो इस विधि पर आना है। यहाँ कार्यपद्धति क्या है यह तो अभी समझने का विषय है, कार्य करना तो अभी दूसरी बात है।

जब अंतर्मुख परिणमनस्वभाव मेरा अपना - स्वयं का है ऐसा जब खुद के लक्ष में आता है तब पुरुषार्थ की कृत्रिमता बंद होती है और सहज पुरुषार्थ चालू होता है। इसके पहले करूँ-करूँ का ज़ोर आता था। पुरुषार्थ मतलब परिणाम में ज़ोर आता था। अब सहजरूप से वही क्रिया होने लगती है। इसको सहज पुरुषार्थ कहते हैं।

प्रश्न :- अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को मतलब ध्रुव को ?

समाधान :- नहीं, अंतरंग में मतलब यहाँ ज्ञानसामान्य में जो ज्ञानवेदन है वह। उपयोग को परिणति पर ले जाता है। (जीव) ज्ञान की परिणति को पकड़ नहीं पाता है। उपयोग विभाव से और विकार के रस से इतना अधिक रंजित हो चुका है कि इससे

वह अपने ज्ञान की परिणति को खुद पकड़ नहीं पाता। वरना वैसे तो लब्ध-उपयोग दो एक होकर अखण्ड ज्ञान की पर्याय है परंतु लब्ध में मौजूद ज्ञानवेदन को नहीं पकड़ता। हालाँकि उपयोग में भी सर्वांशरूप से अभाव नहीं है, परंतु वह तो कषायरस के कारण इतना तिरोभूत है कि, खुद ग्रहण नहीं कर पाता है।

प्रश्न :- स्वयं के वेदन का अनुभव करे ऐसा कहा, तो क्या वेदन और अनुभव अलग-अलग चीज़ है ?

समाधान :- नहीं, वेदन खुद ही अनुभवस्वरूप है और अनुभव में ही वेदन है। वेदन करे ऐसा कहो चाहे अनुभव करे ऐसा कहो चाहे वेदन का अनुभव करे (ऐसा कहो।) क्योंकि खुद दूसरे के अनुभव करने संबंधित अध्यास में है - भ्रम में है - भ्रमणा में है जैसे कि, मुझे ठंड लग रही है, मुझे गरमी लगती है, मुझे मीठा लगा, मुझे कड़ुआ लगा - ऐसा इस जीव को भ्रम होता है। (वास्तव में) जीव को ज्ञान ही होता है। ऐसा जानना (जरूर) होता है किन्तु वेदन तो ज्ञान का ही होता है। सर्वकाल में वेदन तो ज्ञान का ही होता है। किसी भी जीव ने कभी भी अनंतकाल में ज्ञान के अलावा दूसरा वेदन किया ही नहीं, ज्ञान के अलावा दूसरा अनुभव किया ही नहीं। परंतु ज्ञानवेदन का अनुभव ऐसे लेना मतलब दूसरे का अनुभव नहीं।

`**दशा की दिशा पलटना वह अपूर्व है।**' `गुरुदेवश्री' ने ऐसे शब्द लिए हैं। `**दशा की दिशा पलटना वह अपूर्व है।**' पूर्व में धर्म के नाम पर, धर्म के बहाने बहिर्मुख परिणमन से अनेक कार्य किए हैं और धर्म हुआ ऐसा माना भी है, धर्म किया ऐसा माना है। परंतु वह धर्म नहीं, अधर्म को धर्म माना है। कठोर भाषा में उसे `पाखंड' कहते हैं। अधर्म को धर्म कहना वह `पाखंड' है।

यह परिस्थिति है। क्या कहते हैं ? कि, `**दशा की दिशा पलटना वह अपूर्व है। ऐसे स्वरूपनिर्णय के काल में ही एक अखंड-अभेद वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय आदि भेद यथार्थरूप से समझ में आते हैं।**' ऐसे स्वरूपनिर्णय के काल में ही इस प्रकार स्पष्ट अनुभवांश से निर्णय मतलब प्रतीति होती है। तब ही एक अखण्ड - अभेद जो अपना परमतत्त्व है, वस्तु अर्थात् अपना परम तत्त्व है उसके द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेद यथार्थरूप से समझ में आते हैं।

यह तत्त्वज्ञान की शिबिर में द्रव्य, गुण, पर्याय को समझने के लिए क्लास चलते हैं उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद सिखाये और समझाये जाते हैं तब समझ में आया ऐसा लगता है परंतु वास्तव में यथार्थरूप से समझ उसवक्त नहीं होती है। यहाँ पर यथार्थ समझ में आते हैं। वह कैसे ? कि, खुद वर्तमान अवस्थारूप अपना अनुभव करता था। चलती हुई रागादि - राग-द्वेष, मोह आदि जो अवस्थाएँ हैं उन अवस्थारूप खुद का अनुभव करता था। अपना मूल स्वरूप कैसा है, इससे खुद बेभानरूप से - अभानरूप से वर्तता था। उस मूलस्वरूप का यहाँ पर ज्ञान हुआ मतलब द्रव्य-गुण का ज्ञान हुआ। मैं एक अभेद-अखण्ड परमतत्त्व हूँ। ज्ञान और सुख आदि अनंत गुण - अनंत शक्तियाँ मेरे में हैं और वर्तमान अवस्था तो इससे परिचित थी। जिस अवस्थामें से अवगुण मिटाकर, दोष-मलिनता-अपवित्रता को मिटाकर निर्दोषता, पवित्रता व गुण को प्रगट करने के लिए जीव ने खुद ने एक विचार किया था। इस अभिप्राय से उसने यह प्रयत्न किया। प्रयत्न किस वज़ह से किया ? कि, यह वर्तमान दशा ठीक नहीं है। मेरी वर्तमान दशा में अनेक प्रकार के दोष, मलिनता, अपवित्रता और दुःख हो ऐसे भाव चल रहे हैं, आकुलता हो ऐसे भाव चलते हैं; इसके बज़ाय शांत, पवित्र

और निर्दोष मेरा परिणमन होना चाहिए। ऐसा गुणवान परिणमन प्रगट करने के लिए खुद इस दिशा में, वह कार्य सिद्ध हो उस दिशा के संशोधन में आगे बढ़ा। यानी कि दशा में परिवर्तन लाना है, दशा बदलती चीज़ है सो तो जीव से परिचित था। अपरिचित तो ध्रुव वस्तु से था, जो कूटस्थ है ऐसी ध्रुव नित्यानंदस्वरूप वस्तु से खुद अपरिचित था। इसका जब परिचय हुआ, पहचान हुई तब उसे द्रव्य-गुण-पर्याय - वस्तु का जो विज्ञान है, वस्तु का जो बंधारण है वह यथार्थ समझ में आता है।

पुनश्च, `**भेद समझ में आने पर भी,...**' द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा अनेक गुण, अनेक पर्यायों के भेद समझ में आने पर भी `**भेद का दृष्टिकोण गौण होकर मुख्यरूप से अभेदता साधने की प्रक्रिया चलती है।**' विशेषता यह है कि, भेद-अभेदात्मक वस्तु - भेदाभेदस्वरूप वस्तु समझ में आने पर भी भेद गौण होकर अभेद को साधने का मुख्यरूप से प्रयास चलता है - प्रयत्न चलता है और अभेद अनुभव हो, अभेद वस्तु का अभेद अनुभव हो उस Process में खुद आगे बढ़ता है - उस प्रक्रिया में आगे बढ़ता है। ऐसी प्रक्रिया चलती है। भेद का ज्ञान गौण रह जाता है, अभेद की मुख्यतापूर्वक अभेदता साधने का प्रकार उत्पन्न होता है।

`**वास्तविक परिस्थिति यह है कि वेदन वर्तमान अंश का होने के बावजूद भी अवलंबन अंशी का / स्वभाव का लेना है।**' वास्तविकता, इस परिणमन में रही वास्तविकता यह है कि, वेदन अंशी का - स्वभाव का नहीं होता। जो त्रिकाली कूटस्थ है इसमें वेदन नहीं होता। हकीकत में तो वह वेदनरहित अवेदक स्वभाव है। शक्ति अपेक्षा से वह वेदकस्वभाव है, परिणमन की अपेक्षा से उसमें वेदन नहीं होने से उसको अवेदकस्वभाव कहा जाता है। यह शब्दप्रयोग

`सोगानीजी' ने एक पत्र में किया है - अवेदकस्वभाव।

एक बार तो चर्चा में इस शब्द का प्रयोग किया था। लोग सहन न कर सके ऐसी बात है, लेकिन बात ऐसे चली कि `ज्ञायक जानता है कि नहीं ?' तब उन्होंने कहा कि, `त्रिकाली है सो अंधा है !' क्या कहा ? उसको ज्ञायक कहना, अंधा (भी) कहना, क्या कहना है इसमें ? कि, जानने की जो क्रिया है वह अंश भिन्न है और ज्ञायक भिन्न है। एक का दूसरे में अभाव है। ज्ञायक तत्त्व जो है - स्वभाव तत्त्व है वह जानता नहीं है। क्योंकि वह शक्तिरूप है। दीयासलाई के पर लगे मसाले में रही अग्नि जलाती नहीं है, जब कि अगर आग लग जाए तो उसका तो एक छोटा-सा अग्निकण भी जला देता है। यह गैस के लाइटरमें से एक चिनगारी ही तो उत्पन्न होती है और एक सेकंड से कम समय में तो उत्पत्ति और नाश हो जाता है, फिर भी सीधी आग पकड़ता है कि नहीं ? परंतु लाइटर के अंदर जो कंकड़ी है उसमें जो अग्नि है वह जलाती नहीं। ऐसी लाखों दीयासलाई एक जगह पड़ी हो, पास में ही केरोसिन या पेट्रोल का डिब्बा पड़ा हो (तो भी) नहीं जलायेगी (जब कि) एक ही चिनगारी सब को स्वाहा कर देगी ! इसतरह दोनों के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्त - प्रगट अवस्था का धर्म अलग है और अव्यक्त शक्ति का धर्म भी अलग है। दोनों के धर्म अलग-अलग हैं।

श्रोता :- सब निकाल देंगे तो आत्मा में कुछ नहीं रहेगा।

पूज्य भाईश्री :- आत्मा में तो अनंत गुण का निधान है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन (रहे हैं) परंतु शक्तिरूप है, सामर्थ्यरूप है। अनंत आनंद, अनंत सुख, अनंत शांति, अनंत प्रभुता - प्रभु है, स्वयं प्रभु है ! अनंत प्रभुता है। ऐसा प्रभुत्व है परंतु वह शक्तिरूप है। जीव

इतने अनंत गुणों से भरा है कि गिनते... गिनते... यह गुण आखिर का ऐसा नहीं बनता। गिनने बैठे तो क्रम से गिनते... गिनते... गिनते...यह अंतिम गुण है ऐसा कोई नहीं आता। खाली तो नहीं - शून्य तो नहीं परंतु अनंत गुण से भरितावस्थ है - भरा है, भरपूर भरा है। `सोगानीजी' कहते थे कि `लबालब भरा है।' स्वभाव से लबालब भरा है। जैसे कोई कहता है न कि, इसके (शरीर में) इतना खून है कि, एक ज़रा-सी चुटकी भरोगे कि खून निकल आयेगा। वैसे यहाँ सहज यूँ अंतर्मुख होकर स्पर्श करता है कि भीतर से पाताल फटता है। भीतरमें से आनंद के, शांति के फव्वारे फूटते हैं। सहज स्पर्श करते ही। ऐसा परम तत्त्व है !!

`वास्तविक परिस्थिति यह है कि वेदन वर्तमान अंश का होने के बावजूद भी...'** उसका अवलंबन नहीं है और अवलंबन अंशी का - स्वभाव का होने पर भी उसका वेदन नहीं है। `पूज्य बहिनश्री' ने वचनामृत में यह विषय स्पष्ट किया है। **`जब कि वर्तमान अंशरूप वर्तता हुआ भाव, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में `मैं-पने के भाव से' अभेदता साधकर स्वरूपानुभव करता है;...' वर्तमान अंश में जो वेदन है और जो त्रिकाली अंशी का अवलंबन लेता है - अनुभव करता है, ऐसा जो कहा जाता है उस त्रिकाली स्वभाव में `मैं'-पने के भाव से - अहंपने से अहंबुद्धि से अभेदता साधकर यानी कि `मैं वही हूँ' ऐसा कहते हैं।

`गुरुदेवश्री' थोड़ा विश्लेषण करके कहते थे कि, पर्याय यों कहती है कि `मैं त्रिकाली हूँ और मैं पर्याय नहीं' पर्याय को - वर्तमान अंश को भाषा दी गई तो वह क्या कहने लगी ? कि, `मैं तो त्रिकाली हूँ !' अपना अस्तित्व स्वभाव है सो त्रिकाल द्रव्य में है। यानी कि मैं हूँ - त्रिकाली में मैं हूँ। पर्याय अपना अस्तित्व त्रिकाली

में स्थापित करती है। एक आदमी ने प्रश्न उठाया कि, `क्या पर्याय ने यह झूठ नहीं बोला ?' इस प्रकार पर्याय को अगर भाषा दी जाए कि `मैं पर्याय नहीं, मैं तो त्रिकाली, तो क्या पर्याय ने यह झूठ नहीं बोला ?' पर्याय ने सच बोला है। उसका अस्तित्व है सो कहाँ है ? त्रिकाली में है। पर्याय तो एक समय में नष्ट होगी, तब तो खुद मर गया। भावमरण उसीको कहते हैं कि, समय-समय की अवस्था में अपनेआप का पूरा-पूरा अवधारण कर लेना। ऐसे ही तो जीव के भावमरण उत्पन्न होते हैं। जिसके निमित्त से कर्म बंधने पर द्रव्यमरण उत्पन्न होता है। शरीर का ग्रहण-त्याग होना वह द्रव्यमरण है।

`जब कि वर्तमान अंशरूप वर्तता हुआ भाव, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में `मैं-पने के भाव से'...' अर्थात् `मैं पना' करके भाव से अभेदता साधकर स्वरूपअनुभव करता है। त्रिकाली का अनुभव करता है ऐसा कहा जाता है। करता तो है अपनी पर्याय का **`फिर भी वेदन त्रिकाली में नहीं होता है;...'** फिर भी वेदन पर्यायअंश में मर्यादित है, इससे आगे नहीं। **`और पर्याय में राग वेदन गौण होकर...'** अभी तक जो पर्याय में राग का अभेदभाव से वेदन करता था उस पर्याय का रागवेदन गौण होकर अथवा भिन्न होकर **`ज्ञानवेदन का आविर्भाव होने पर भी उसका इतना मुख्यपना नहीं होता जिससे कि उसका अवलंबन ले लिया जाये।'** क्या कहना चाहते हैं इसमें ?

पर्याय में जो कार्य हुआ वह ऐसा हुआ कि, राग की जो मुख्यता थी सो छूट गई। ज्ञानवेदन का आविर्भाव होने से मुख्यरूप से उसका वेदन होने लगा, फिर भी इसकी मुख्यता की एक मर्यादा है। उसमें ज्ञान की, आनंद की, शांति की अपूर्व पर्याय (का) अनुभव है। फिर भी इसकी इतनी मुख्यता नहीं होती कि इसका अवलंबन

लिया जाये और त्रिकाली का अवलंबन न रहे। त्रिकाली का अवलंबन रहे तब ही ऐसी शांति का वेदन होता है। त्रिकाली का अवलंबन यदि छूट जाए और वर्तमान शांति का अवलंबन ले ले तो शांतिमें से अशांति पैदा हो जाएगी, शांति नहीं रहेगी। शांति मिटकर अशांति हो जाएगी। ऐसी परिस्थिति होगी। अतः उपयोग अपने ज्ञानवेदन पर जाए तब जो शांति का अनुभव होता है उसवक्त भी अवलंबन त्रिकाली का है यह लक्ष में रखने की बात है। एक साथ - Simultaneously बात है। एक साथ ही दो प्रक्रिया हैं।

एक ही पर्याय में अवलंबन त्रिकाली का (और) वेदन वर्तमान का। वर्तमान वेदन अपूर्व और असाधारण होने पर भी उसका अवलंबन नहीं और त्रिकाली का वेदन नहीं। इसतरह एक साथ अवलंबन और वेदन का विषय अलग-अलग है। जो अवलंबन का विषय है वह वेदन का विषय नहीं है। वेदन का विषय है वह अवलंबन का विषय नहीं है। इस प्रकार की सूक्ष्मता से जो अनजान हैं वे स्वानुभूति में प्रवेश नहीं करते। ऐसी एक सूक्ष्मता इसमें गर्भित है कि अवलंबन किसका ? और अनुभव किसका ? इस विषय से जो अनजान रहता है (उसका) इस विषय (में) प्रवेश नहीं होता है। इसलिए उसको स्वानुभूति का प्रसंग नहीं आता।

इस प्रकार की '**विधि के संक्षेप का विचार करें तो...**' अथवा संक्षेप में इसका विचार करने पर '**प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा, स्वभाव की प्रत्यक्षता का प्रतीति के बल से बारंबार उग्रपना होने से (अभेदभाव से मैं ऐसा ही हूँ)...**' ऐसा होने से '**स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है।**' यह विषय 'अनुभवप्रकाश' में है। आगे वह बात ली है, उनके नाम का उल्लेख किया है परंतु उन्होंने 'अनुभवप्रकाश' में बहुत संक्षेप में विधि का विषय निरूपित किया है।

'**प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा...**' उपयोग द्वारा '**स्वभाव की प्रत्यक्षता का,...**' मैं त्रिकाली प्रत्यक्ष - अनंत प्रत्यक्षस्वभावी आत्मा हूँ - ऐसी प्रतीति, प्रतीति के साथ पुरुषार्थ - 'रुचि अनुयायी वीर्य' प्रतीति का अनुसरण करता हुआ पुरुषार्थ, ऐसे '**प्रतीति के बल से बारंबार उग्रपना होने से...**' (यानी) पुरुषार्थ में तीव्रता आने पर - पुरुषार्थ में ज़ोर आने पर '**स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है।**' स्वसंवेदन - ज्ञानवेदन जो तिरोभूत है वह आविर्भूत होकर उभरकर बाहर आता है। यह विधि का संक्षेप है। क्या है ? विधि को एकदम संक्षेप में लेना हो तो यह इसका प्रकार है।

अपने ज्ञानवेदन द्वारा खुद अनंत प्रत्यक्ष त्रिकाली स्वभावरूप है, ऐसी प्रतीति का बल जितना बढ़े (उतना) स्वसंवेदन का आविर्भाव बढ़ेगा। ऐसे '**स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है। जिसमें श्रद्धा और ज्ञान की मैत्री है।**' (अर्थात्) प्रतीति है सो श्रद्धा है और ज्ञानवेदन है वह ज्ञान की पर्याय है। ज्ञान स्वभाव की प्रत्यक्षता पर ज़ोर देता है। ज्ञान को प्रतीति का विषय तो स्वभाव के अलावा दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः दोनों एक जगह पुरुषार्थ सहित कार्य करते हैं। तब स्वानुभव - निर्विकल्प शुद्धोपयोग जिसको निर्विकल्प दशा कहते हैं - विकल्प रहित दशा कहते हैं ऐसे स्वसंवेदन की उत्पत्ति इसमें होती है। यह कार्य की विधि है।

श्रोता :- यह पंक्ति फिर से लीजिए !

पूज्य भाईश्री :- '**विधि के संक्षेप का विचार करें तो प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा, स्वभाव की प्रत्यक्षता का...**' प्रत्यक्ष स्वभाव है ऐसा भासित होते ही, प्रत्यक्ष स्वभाव है ऐसा ज्ञानवेदन द्वारा उपयोग में आता है कि, यह तो प्रत्यक्ष है ! अनुमान से नहीं, वेदन प्रत्यक्ष है उस पर से त्रिकाल प्रत्यक्ष पर जाता है प्रतीति सहित का ज़ोर उत्पन्न

होता है कि जो स्वसंवेदन को प्रगट करता है, निर्विकल्प अनुभव को - स्वानुभूति को प्रगट करता है, '**जिसमें श्रद्धा और ज्ञान की मैत्री है।**' अथवा श्रद्धा, ज्ञान और पुरुषार्थ तीनों की इसमें मैत्री है।

'**इसी विधि का स्व. श्री दीपचंदजी ने 'अनुभवप्रकाश' में इन शब्दों में वर्णन किया है।**' यही बात, ऊपर जो बात कही उसमें भी उन्हीं के कुछ शब्द हैं और आगे जो अवतरण चिह्न में जो शब्द हैं, दो पंक्तियाँ ली हैं, वे दोनों पंक्तियाँ उन्हीं के शब्द में हैं।

'**ज्ञान के प्रत्यक्ष रस का भाव में वेदन करना - वह अनुभव है।**' स्वानुभव किसको कहना ? स्वानुभूति किसको कहना ? (तो कहते हैं कि) ज्ञान का प्रत्यक्ष रस (अर्थात्) ज्ञान में जो प्रत्यक्षता है इसके रस का वेदन करना - इसकी शक्ति का भाव में वेदन करना - इसको स्वानुभव कहते हैं। स्वानुभव कोई दूसरी चीज़ नहीं है परंतु ज्ञान में रहा हुआ ज्ञानरस जो (है) उसे प्रत्यक्ष तौर से वेदन में लेना - प्रत्यक्ष करके अनुभव में लेना। ज्ञानी उसे प्रत्यक्ष कर-कर के अनुभव में लेते हैं, वह अनुभव है। इतना एक वचन आया है।

दूसरा उनका वचनामृत है '**स्वयं को ही प्रभु स्थापित कर,...**' आत्मा ही परमात्मा है, वही परम तत्त्व है - मूल स्वरूप है। '**अपने परमेश्वरपद का दूर अवलोकन न कर।**' उसे दूर मत देख। उसे प्रत्यक्ष करके नजदीक देख। उसके समीप जाकर देख कि, मैं स्वयं ही हूँ। '**अपने परमेश्वरपद का दूर अवलोकन न कर। अर्थात् अपने परमपद का भिन्न रहकर अनुभव नहीं कर सकते हैं।**' अभिन्नभाव से - अभेदभाव से अपना स्वानुभव कर। '**भिन्न रहकर (- अवलोकन**

की पर्याय में खड़े रहकर)...' उसे भिन्नरूप नहीं देख सकते, अपने परमपद का भिन्न रहकर '**अनुभव नहीं कर सकते हैं।**' भिन्न परतत्त्व को नहीं देखना है, स्वयं को देखना है। इस तरह उसमें स्वपना आता है तब ही वज़न आता है। स्वपना न आये तब तक परतत्त्व पर ज़ोर (रहता है), (स्वतत्त्व) पर ज़ोर नहीं आता - पुरुषार्थ नहीं आता।

प्रश्न :- अवलोकन की पर्याय में खड़े रहकर भी नहीं ?

समाधान :- नहीं, परतत्त्व के रूप में नहीं। देख रहा हूँ, देख रहा हूँ... मैं देखता रहूँ... देखता रहूँ... देखता रहूँ... (ऐसे) पर को नहीं देखना है। स्व-पने अपनेआप को देखना है। अपने परमपद का भिन्न रहकर अवलोकन पर्याय में खड़े रहकर नहीं कर सकते। अवलोकन की पर्याय में खड़े रहकर, ऐसा (कहना है)। अवलोकन की पर्याय में अवलोकन करके की बात आई परंतु अभी भी पर्याय में खड़े रहने की जो पद्धति है उस पद्धति में खुद भिन्न रह जाएगा, अर्थात् अपने परमपद में अहंपना स्थापित करना है। वर्तमान अवस्था में अवलोकन कर रही पर्याय में भी अहंपना स्थापित नहीं करना है, ऐसा कहते हैं।

श्रोता :- 'सोगानीजी' ने काफ़ी ज़गह ऐसा लिया है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पर्याय में खड़ा रहकर द्रव्य को मत देख, ऐसा कहते हैं। उन्होंने कईबार कहा है कि, पर्याय में खड़े-खड़े तू द्रव्य को मत देख।

प्रश्न :- ज्ञान का प्रत्यक्ष रस का भाव में वेदन करना मतलब स्वरूप अपेक्षा से प्रत्यक्ष हूँ ऐसा कहना है ?

समाधान :- इसमें क्या है कि, ज्ञान में भी प्रत्यक्षता है और स्वरूप में भी प्रत्यक्षता है। जहाँ रस गाढ़ होता है वहाँ फिर भिन्न-

भिन्नपना - भेद छूट जाता है, भेद छूट जाते हैं। एकरस हो जाता है। रस के अनुभव में (ऐसा है कि) आदमी एक मिठाई का टुकड़ा रसपूर्वक जब खाता है तब उसमें क्या-क्या डाला है यह भूल जाता है जैसे कि इसमें केसर डाला है या पिस्ता डाला है या फिर बादाम डाली है, या फलाने गाँव का शुद्ध घी डाला है - (यह) सब भूल जाता है। क्योंकि वहाँ उसको रस है। रस में भंग-भेद उत्पन्न नहीं होते।

`**जिस निजात्मतत्त्व की पहचान होती है वह शक्तिरूप होने पर भी अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से परिणमित होने का उसका स्वभाव है।**' क्या कहते हैं कि, `**जिस निजात्मतत्त्व की पहचान होती है वह शक्तिरूप होने पर भी अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से परिणमित होने का उसका स्वभाव है। इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से...**' `**देखने से**' मतलब `(**-मात्र विचार करने से नहीं**),...' इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से, विचार करने से नहीं, देखने से और देखने के साथ ही `**भाने से - शक्ति का व्यक्त परिणमन होने लगता है।**' यह भी विधि का प्रकार है। एक कार्यपद्धति में विधि के कितने पहलू हैं, इसके एक-एक पहलू को स्पष्ट करते हैं।

`अनुभवप्रकाश' में `दीपचंदजी' की अनुभव करने की जो कार्यपद्धति एवम् विधि को निरूपित करने की जो (शैली है उसमें) जितनी-जितनी बार उन्होंने इस बात को लिया है वहाँ अलग-अलग पहलुओं से बात ली है। समग्ररूप से विधि का प्रकार एक है, फिर भी इसकी सूक्ष्मता इतनी है कि अनुभवी महात्माएँ इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकारों को व्यक्त करते हैं कि, हम इस प्रकार अनुभव करते हैं,

इस प्रकार अनुभव करते हैं, इस प्रकार अनुभव करते हैं।

प्रथम अवलंबन और वेदन का विषय स्पष्ट हुआ, बाद में स्वभाव की प्रत्यक्षता द्वारा प्रतीति का बल बारंबार उत्पन्न होने से अनुभव होता है, यह अनुभव की कार्यपद्धति का एक पहलू लिया। दूसरा, अपने में ज्ञान का प्रत्यक्ष रस है उसका भाव में वेदन करना जो प्रगट ज्ञान का प्रत्यक्ष रस है उसका भाव में वेदन करना, अर्थात् वह स्वयं ही अनुभव है। अपने परमात्मतत्त्व को प्रभुरूप स्थापित करने से और समीप अर्थात् `मैं-'पने अनुभव करने पर अनुभव होता है। उसे दूर अवलोकन में लेने से अनुभव नहीं होता। यानी कि अनुभव करने की ऐसी रीत है। अब एक और सूक्ष्म बात यहाँ से लेनी है।

निर्णय के काल में - भावभासन के काल में निजात्मतत्त्व की पहचान होती है तब स्वभाव कैसा भासित होता है ? कि, है तो शक्तिरूप। शक्तिरूप होने पर भी व्यक्तिरूप होने का - किस प्रकार व्यक्तिरूप होने का इसका स्वभाव है - ऐसे स्वभाव भासित होता है। फिर से, शक्ति तो शक्तिरूप है परंतु शक्ति शक्तिरूप रहकर व्यक्तिरूप परिणमन करे तो वहाँ व्यक्तिरूप परिणमन करने का उसका स्वभाव कैसा है ? किस प्रकार वह व्यक्तिरूप परिणमन करे ऐसा उसका स्वभाव है - ऐसी शक्ति है ? इसका वर्णन इस प्रकार है कि, `**अविकृतरूप से...**' यानी कि अविकाररूप से। `**अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से...**' दोनों में `रूप से', `पने से' लिया है न ? `**अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से...**' विषय थोड़ा सूक्ष्म लगेगा परंतु विषय रुचिपूर्वक समझने जैसा है।

`**अविकृतरूप से अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से**

परिणमित होने का उसका स्वभाव है।' ऐसी पहचान होती है और ऐसी पहचान होने पर `**इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से...**' (अर्थात्) उस दृष्टिकोण से देखना, (यानी कि) अवलोकन करना, विचार भी नहीं। मतलब इसके वर्तमान को पकड़ता है - स्वभाव का वर्तमान पकड़ता है। विचार में तो त्रिकाली स्वभाव है, अवलंबन में इसका वर्तमान है। अवलंबन में त्रिकाली नहीं है। इसलिए `पद्मप्रभमलधारीदेव' उसको `कारणशुद्धपर्याय' कहते हैं। इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से और स्वपने भाने से, उसके प्रति भाव (वृद्धिगत्) होता है। भाना मतलब ऐसा कहा जाता है न कि, `मुझे इसके प्रति बहुत भाव (प्रीति) है।' अति राग होता है तब क्या कहते हैं ? `हमें इसके प्रति बहुत भाव है, उसको देखते ही भाव आता है।' लोग ऐसा नहीं कहते हैं ? तो वह उसकी रुचि को, प्रीति को व रस को सूचित करता है। `**इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से, भाने से...**' भाते ही `**शक्ति का व्यक्त परिणमन होने लगता है।**' (अर्थात्) उस शक्ति का स्वभावरूप - अविकृतरूप, अंतर्मुखपने, व्याप्यव्यापकभाव से परिणमन करने का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका परिणमन होने लगता है।

`**द्रव्यानुसारी शुद्ध परिणमन उत्पन्न होने का यह विज्ञान है।**' क्या कहते हैं ? कि, ऐसी जो शक्ति है (यानी कि) अविकृत, अंतर्मुख, व्याप्यव्यापकभाव से परिणमन करने का जिसका स्वभाव है - ऐसा जो द्रव्य का शक्तिरूप स्वरूप है उसको द्रव्यानुसारी (अर्थात्) इसके अनुसरणपूर्वक जो शुद्ध परिणमन होता है वह इस प्रकार उत्पन्न होता है। ऐसा यह वस्तु का विज्ञान है, शुद्धता उत्पन्न करने का यह विज्ञान है। किस प्रकार शुद्ध परिणमन उत्पन्न होता है इसकी यह वैज्ञानिक परिस्थिति है।

प्रश्न :- इस विज्ञान से समाज को क्या लाभ ?

समाधान :- समाज मतलब सभी आत्माओं का समूह या परमाणुओं का समूह ? समाज कौन ? जो लाभ व्यक्ति को है वही लाभ समष्टि को है। एक आत्मा को लाभ हो, दूसरे आत्मा को लाभ हो, तीसरे आत्मा को लाभ हो, (वैसे ही) अनेक आत्माओं को लाभ होता है। समाज तो एक समूहवाचक नाम है। अनेक व्यक्तियों का समूह मतलब समाज। समूहवाचक नाम है न ? तो एक व्यक्ति को लाभ हो, दूसरी को हो, तीसरी को हो, चौथी को हो तो ऐसे ही समाज को लाभ हुआ कि नहीं हुआ ? एक व्यक्ति को लाभ हो तब भले ही सब को लाभ नहीं हुआ किन्तु बारी-बारी लाभ को देखे तो जिस व्यक्ति को लाभ हुआ वह दूसरी व्यक्ति को कैसे लाभ हो - यह कह सकता है। वरना विषय तो काफ़ी गूढ़ है, और गुप्त भी है - यह गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष में नहीं है। `श्रीमद्जी' ने कहा न कि, यह गुप्त चमत्कार है। संसारी प्राणीमें से परमात्मा बन जाए ऐसा यह गुप्त चमत्कार है ! ये जादुगर लोग बकरेमें से मनुष्य करते हैं कि नहीं ? वे तो सब Trickscene हैं। मनुष्य मनुष्य रहता है, बकरा बकरा ही रहता है, वहाँ तो बदल देते हैं। यहाँ तो संसारीप्राणीमें से, तिर्यंचमें से सिद्ध बन जाए ऐसा हकीकत में यह चमत्कार है। ऐसा जो चमत्कार है उसे समाज को कह सकता है, समझा सकता है, समाज में इसका निरूपण कर सकता है। यह लाभ समाज को हुआ कि नहीं ?

हमलोग क्यों ऐसा कहते हैं कि, ऐसे वीतरागधर्म के - निर्ग्रंथमार्ग के प्रकाशक श्रीगुरु जयवंत वर्तो' ? हमलोग क्या बोलते हैं ? श्रीगुरु जयवंत वर्तो ! (सिर्फ) जयवंत वर्तो नहीं त्रिकाल जयवंत वर्तो !!

ऐसा कहते हैं कि नहीं ? अब वैसे तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता है। क्या विज्ञान है ? फिर भी ऐसा क्यों कहते हैं ? निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी जगत में है। इस निमित्त-नैमित्तिक संबंध को देखते हुए यह कहा जाता है कि, श्रीगुरु यदि जयवंत हो, जीवंत हो - जयवंत हो मतलब जीवंत हो तो उनके उपदेश से अनेक जीव संसार पार कर जाते हैं। कर जाते हैं कि नहीं ? इसलिए जयवंत वर्तो - त्रिकाल जयवंत वर्तो ऐसा कहा जाता है। यह समाज को लाभ है या नहीं ? वरना तो गुरु की तबियत बिगड़ेगी तो कहेगा कोई बात नहीं है, यह तो उनके पूर्वकर्म का उदय है। हम तो उसमें कुछ फेरफार कर नहीं सकते। जब वे खुद कुछ नहीं कर सके तो हम कहाँ से कर सकते हैं ? चलो, हम तो घर चले ! क्या करना चाहिए ? क्योंकि फिर तो गुरु की वैयावृत्य (चाकरी) करना - गुरु की सेवा करना, यह सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि समाज को क्या लाभ है ?! उनको तो लाभ हुआ किन्तु समाज को क्या लाभ है ? इससे समाज को लाभ है। अनेकानेक जीवों को लाभ होता है। वह लाभ समाज को ही है न और क्या ? उनके निमित्त से होता है कि नहीं होता ? कर्ता होकर नहीं होता परंतु निमित्तरूप से तो कार्य होता है कि नहीं होता ?

(यहाँ कहते हैं) `**इस तरह वर्णन के अनेक प्रकार होने पर भी...**' अब क्या है, ये तीन-चार प्रकार से विधि का विषय लिया, इस तरह अनेक प्रकार से वर्णन होने पर भी, भिन्न-भिन्न धर्मात्माओं की वाणी में इस विधि का वर्णन अनेक प्रकार से आता `**होने पर भी `विधि' तो एक ही प्रकार से है।**' जो प्रकार समग्ररूप से है वह सब का एक ही सरीखा है। कहने की पद्धति किसी की कोई पहलू से तो किसी की कोई पहलू से, किसी की कोई पहलू से (है) फिर भी सब का परिणमन का और कार्यपद्धति का प्रकार तो एक ही है।

`**प्रसिद्ध लक्षण से प्रसाध्यमान स्वभाव की / परमतत्त्व की महानता ही ऐसी है कि समस्त जगत सहज ही गौण हो जाता है।**' सारा जगत गौण हो जाए ऐसी ही इसकी महानता है ! परंतु ऐसी महानता कब ? कि, प्रसिद्ध लक्षण से प्रसाध्यमान जो स्वभाव है इसकी प्रसिद्धि हो तब - ज्ञान में इसकी पहचान हो तब। वह भी लक्षण का लक्षण है। यह लक्षण मतलब पहचान हुई - लक्षण से पहचान हुई, पहचान हुई इसका लक्षण क्या ? (तो कहते हैं कि) सारा जगत उसको गौण हुए बिना नहीं रहता। क्योंकि जिस लक्षण से - जिस ज्ञानलक्षण से - प्रसिद्ध ज्ञानलक्षण से आत्मा लक्ष में आया, परम तत्त्व की पहचान हुई वह इतना महान है कि, सारा जगत सहजरूप से गौण हो जाता है। जगत को गौण करने के लिए कोई कृत्रिमता नहीं करनी पड़ती, कोई विचारणा नहीं करनी पड़ती, सहज ही हो जाता है। इतनी महानता है कि, इसकी महानता के आगे सारा जगत तुच्छ भासित होता है।

`**जगत को गौण करने के लिए कृत्रिम विकल्प अथवा कोई अन्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती है।**' दूसरा कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कोई विचारणा नहीं करनी पड़ती, यह इसका लक्षण है कि पहचान हुई है। आत्मा की महानता इतनी भासित होती है कि, इसकी गौणता होवे ही नहीं, इसकी मुख्यता ही रहा करे और इसीकी मुख्यता में परिणमन का प्रवाह चले। इसकी गौणता होवे ही नहीं यह पहचान होने का लक्षण है। परिणमन का ड़ोर मुख्यता गौणता पर है। जीव के परिणमन की डोर मुख्यता-गौणता

पर है। जीव किसकी मुख्यता करता है, इस पर उसके परिणमन का प्रवाह चलता रहेगा। दूसरा जानता होगा तो भी गौण रह जाएगा। पता है कि आत्मा परमात्मा है परंतु अभी हमें इतनी उपाधियाँ हैं इसका क्या ? इसकी मुख्यता में आत्मा पड़ा रहेगा। और प्रतिकूलताओं के गंज खड़े हो, सारी दुनिया प्रतिकूल चलती हो तो भी जिसको अपने परम तत्त्व की मुख्यता आयी होगी उसके परिणमन का प्रवाह अंतर्मुख होकर चलेगा। उसको कोई आधि, व्याधि उपाधि दुःख उत्पन्न करने में असमर्थ है। उसको दुःख उत्पन्न नहीं कर सकती।

`**प्रथम शुद्धोपयोग का जन्म उक्त भेदज्ञान के प्रयास का फल है...**' अब, सर्वप्रथम जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है - जिस शुद्धोपयोग के काल में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह प्रथम शुद्धोपयोग है। पहले शुद्धोपयोग में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति है। उसी वक्त स्वरूपलीनता है। `सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणी मोक्षमार्गः' इसका सर्वप्रथम प्रारंभ वहाँ से होता है। इस शुद्धोपयोग का जन्म उक्त भेदज्ञान के प्रयास का फल है।

जब जीव भेदज्ञानरूप विधि में प्रवेश करता है अथवा प्रथम उक्त भेदज्ञान द्वारा पहचान करता है, पहचानपूर्वक सहज भेदज्ञान में प्रवर्तता है तब उसकी परिणामरूप फलश्रुति शुद्धोपयोग में आती है। परिणाम मतलब फल। `**और तभी सर्वगुणांश ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है,...**' तब आत्मा के अनंत गुण शुद्ध होकर सम्यक्त्वरूप प्रगट होते हैं। यह सम्यक्त्व का लक्षण है कि जिसमें सर्व गुण - अनंतानंत गुण सम्यक् होकर - समीचीन होकर - अंतर्मुख होकर परिणमन करने लगते हैं। `**यहाँ से ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है।**' यहाँ से मोक्षमार्ग शुरू होता है।

`**मोक्षमार्गी धर्मात्मा को भेदज्ञान याद नहीं करना पड़ता या रटना नहीं पड़ता...**' जो मोक्षमार्ग में खड़े हैं या विचरते हैं ऐसे धर्मात्मा को भेदज्ञान सहज ही चलता रहता है। उसे याद करना पड़े, रटना पड़े, स्मरण में लेना पड़े ऐसा नहीं है, चलता ही रहता है। क्या है कि, उस ज्ञान की धारा - ज्ञान ज्ञ... ज्ञ... `ज्ञ' रूप से ज्ञान की परिणाम की धारा तो अविरतरूप से चालू ही है। उस ज्ञानधारा पर अपने स्वपने की इतनी पकड़ है कि, वे राग से भिन्न हो चुके हैं। अर्थात् जो भी रागादि होते हैं वे जानने में आते हैं। अन्य ज्ञेयों की भी आकृति ज्ञान में आती है, उसे भी जानते हैं लेकिन सब पररूप जानने में आता है। स्व-पने अपने ज्ञानस्वभाव के अलावा कुछ नहीं जानते। यह सहज ही है।

ज्ञान की धारा `ज्ञ'पने तो सभी जीव को चलती है। ज्ञ... ज्ञ... `ज्ञ' पने ज्ञान की धारा तो सब जीवों को चलती है परंतु स्व-पना अन्यत्र होने से - स्व-पने अन्यत्र लक्ष होने से (यानी कि) राग में और राग के विषय में (लक्ष होने से) स्वयं इस से बिछड़ गया है, (अर्थात्) अपने ही स्वभाव से खुद बिछड़ गया है। या अपने ही स्वभाव को खुद ने विस्मृत कर दिया है, चूक गया है। इसलिए `श्रीमद्जी' कहते हैं कि, जिसने अव्यक्त को व्यक्त किया (अर्थात्) ऐसा जो तत्त्व - परम तत्त्व जो अनादि से अव्यक्त था उसे व्यक्त किया और सारा जगत जो व्यक्तरूप से प्रतिभासित होता था उसको जिसने अव्यक्त किया माने गौण कर दिया, ऐसे महात्माओं को नमस्कार हों ! शीर्षक देते हैं न ? उन्होंने पत्रों को ऐसे शीर्षक दिये हैं।

उन्हें (ज्ञानी को) भेदज्ञान याद नहीं करना पड़ता, रटना नहीं पड़ता। `**परंतु सहज यानी कि...**' भेदज्ञान का `**विकल्प किये बिना सविकल्पदशामें भी भेदज्ञान, परिणतिरूप में निरंतर वर्तता है।**' ऐसी

उन्हें भेदज्ञान की परिणति हो चुकी है। उपयोग बाहर जाता है, पुरुषार्थ की मंदता के कारण उपयोग बाहर जाता है। वहाँ जितनी पुरुषार्थ की मंदता है उतना दोष है परंतु वह अल्प दोष है और ऐसे अल्प दोष की वज़ह से उपयोग बाहर जाता है फिर भी भेदज्ञान नहीं छूटता, भेदज्ञान निरंतर चालू ही रहता है। अतः उपयोग से भी अभेदता नहीं होती। राग के साथ या परद्रव्य के साथ उपयोग द्वारा अभेदता नहीं सधती। उपयोग में भी भिन्नत्व रह जाता है। क्योंकि लब्ध-उपयोग मिलकर एक पर्याय थी। लब्ध-उपयोग मिलकर एक पर्याय होने से उपयोग भिन्न रहता है, उपयोग तन्मय नहीं होता। तीव्र राग होने पर भी उपयोग राग में तन्मय नहीं होता। उपयोग भिन्न ही भिन्न रहता है, चाहे किसी भी अवस्था में उपयोग भिन्न ही भिन्न रहता है। उपयोग की दिशा पर की ओर (और) लब्ध की दिशा स्व की ओर - एक परिणाम में दो दिशा होने पर भी वहाँ पर प्रत्ययी दिशावाला अंश (भी) एकत्व नहीं साधता। क्योंकि पर्याय अखण्ड एक है इसलिए। उपयोग पर परिणति का प्रभाव है, परिणति पर उपयोग का प्रभाव नहीं आता। दो अंश में लब्धअंश बलवान है, उपयोग निर्बल है। अतः उपयोग बेकार जाता है। ज्ञानी का बाह्य पदार्थ प्रत्ययी जाता हुआ उपयोग, बाह्य प्रवृत्ति में रहता हुआ उपयोग निष्फल जाता है इसका कारण यही है।

श्रोता :- उपयोग में भिन्नता रहती है, (जब कि) लब्ध में तो भिन्नता है ही !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उपयोग में भिन्नता रहती है, एकत्व नहीं होता, तन्मय नहीं होता। वरना तो जब तीव्र रसपूर्वक क्रोध हो... मान लीजिए ज्ञानी को क्रोध हुआ, क्या ज्ञानी को क्रोध आता है? दूसरों को पता चले ऐसे क्रोध आता है, दूसरों को भी पता चल

जाए कि, अभी गुस्से में हैं, फिर भी उपयोग तन्मय नहीं होता। यही तो उनका जादु है, उनका चमत्कार ही यही है ! तभी तो बंधते नहीं, ऐसा कहते हैं। उपयोग प्रतिबद्धता को प्राप्त नहीं होता इसलिए, तन्मयरूप से प्रतिबद्धता को नहीं साधता इसलिए ज्ञानी भिन्न रहते हैं, यही तो ज्ञानी का ज्ञानत्व है, और कुछ नहीं। वरना प्रक्रिया तो सामान्य मनुष्य जैसी होती है - खाते हैं, पीते हैं, बोलते हैं, राग-द्वेष, मोह सब परिणाम देखे जाते हैं। राग-द्वेष, मोह के परिणाम जैसे सामान्य मनुष्य को होते हो ऐसे ही देखे जाते हैं। परिवार के एक स्वजन की मृत्यु हो तब रोना (भी) आये। दूसरे भी रोते हैं और ज्ञानी भी रोते हैं, रोते हुए दिखेंगे ! ठीक ! (परंतु) तन्मय नहीं है। गुस्सा हो तब उसमें तन्मय नहीं, राग में तन्मय नहीं, यही तो विशेषता है।

श्रोता :- ज्ञानदशा है तो परिणति से भिन्न रहते हैं।

पूज्य भाईश्री :- नहीं... नहीं... नहीं... उपयोग में भी भिन्नता रहती है। उपयोग में तन्मयता नहीं होती। क्योंकि उपयोग और लब्ध ये तो एक परिणाम के दो भेद लिए हैं। वास्तव में तो एक अखण्ड पर्याय है। एक अखण्ड पर्याय में लब्ध बलवान है, उपयोग नहीं। इसलिए भिन्न रहते हैं। बल तो लब्ध का है, प्रभाव लब्ध का है। उपयोग तो बिलकुल ऊपर-ऊपर से गया है (और) ऊपर-ऊपर का उपयोग है इसका कोई असर नहीं होता। अर्थात् इसमें तन्मयता नहीं होती। तन्मय हो जाए तब तो बात पूरी हो गई, दशा पलटकर अज्ञान और मिथ्यात्व में आ जाएगा।

श्रोता :- मिथ्यादृष्टि का उपयोग जहाँ भी जाए वहाँ एकत्व साध लेता है ?

समाधान :- हाँ, एकत्व साध ही लेता है। जहाँ-जहाँ मिथ्यादृष्टि

का उपयोग जाता है वहाँ एकत्व साध लेता है। ज्ञानी एकत्व को नहीं साधते। यह तो उनकी विशेषता है। (समय हुआ है, विशेष कल के स्वाध्याय में लेंगे।)

निज अस्तित्वके ग्रहण हेतु, स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके सम्यक् वचनामृतकी अनुप्रेक्षा करने योग्य है :- `मेरे दर्शन, ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है ।' अवलोकनसे - प्रयोगसे ऐसे देखो । सिर्फ शब्दार्थका विचार करके वाच्यको विचारकी मर्यादामें सीमित नहीं रखते हुए, निज सत्ताके ग्रहणका अभ्यास - प्रयत्न होना चाहिये । परसे विमुख होकर वारंवार ज्ञान-दर्शनमय निजपदका अवलोकन करते हुए स्वयं सुखी हो।

(पूज्य भाईश्री `अनुभव संजीवनी' - १३८)

१२ दि. २३-०३-१९९०

(`सुविधि' का प्रकरण चलता है)। भेदज्ञान के) फलस्वरूप प्रथम शुद्धोपयोग उत्पन्न होता है। शुद्ध उपयोग उत्पन्न होता है यानी कि, उपयोग अपने त्रिकाली द्रव्यस्वरूप के आश्रय से अपने स्वसंवेदनभावस्वरूप परिणमन करता है। कोई अन्य ज्ञेय तब ज्ञान में उपयोगरूप नहीं होता अथवा कोई अन्य ज्ञेय पर उपयोग जाता नहीं है अपितु उपयोग एकाकारभाव से, व्याप्यव्यापकरूप से स्वरूप में एकाग्र होकर परिणमता है तब बुद्धिपूर्वक के शुभाशुभ रागकी उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उसके साथ उपयोग का जुड़ान भी नहीं होता। क्योंकि उस वक्त शुभाशुभ भाव ही नहीं है तो जुड़ान किसके साथ हो ? अपने स्वरूप में एकाग्र है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं।

प्रथम शुद्धोपयोग के वक्त ही अनादि से जिस मिथ्यात्व का अभाव नहीं हुआ, मिथ्यात्वकर्म की प्रकृति के उदय का भी अभाव नहीं हुआ। जीव के परिणाम में दर्शनमोह के उत्पादरूप परिणाम का भी अभाव नहीं हुआ। प्रथम (जो) अभाव होता है वह उपशमरूप अभाव है, क्षयरूप या क्षयोपशमरूप अभाव प्रथम नहीं होता। प्रथम उपशम ही होता है।

यह उपयोग स्वरूपलीनतारूप होने से उसे स्वरूपाचरणचारित्र

भी कहते हैं। आगम विवक्षा से वहाँ अनंतानुबंधी की चारित्र की प्रकृति के उदय का अभाव होने से भाव में भी चारित्र के अनंतानुबंधी के परिणाम का अभाव होने से उसे वहाँ स्वरूपाचरणचारित्र भी कहा जाता है। इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र का और सभी गुणों का आत्मा आश्रित आत्मा में एकाग्र होकर जब परिणमन होता है तब मोक्षमार्ग या धर्म की शुरूआत होती है। यानी कि `**तभी सर्वगुणांश ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है,...**' यह सम्यक्त्व का सर्व गुणों की प्रधानतापूर्वक का वचन है - `सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व'

`**यहाँ से ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है।**' वास्तविक मोक्षमार्ग का प्रारंभ यहाँ से होता है। इसके पहले जो भेदज्ञान का प्रयत्न था और स्वरूप निश्चयपूर्वक दिशा का पलटा हुआ था, फिर भी वास्तव में अभी मोक्षमार्ग शुरू नहीं हुआ। यह मोक्षमार्ग की पूर्वभूमिका है अथवा पात्रता की भूमिका है।

`**मोक्षमार्गी धर्मात्मा को भेदज्ञान याद नहीं करना पड़ता या रटना नहीं पड़ता परंतु सहज यानी कि विकल्प किये बिना सविकल्पदशा में भी भेदज्ञान, परिणतिरूप में निरंतर वर्तता है।**' मोक्षमार्ग में आ जाने के पश्चात् भेदज्ञान की परिणति सहज ही वर्तती है, सहज ही चलती है। पूर्वभूमिका में कभी भेदज्ञान का विकल्प चलता था, कुछ मात्रा में सहजता भी स्वरूपनिश्चय के पश्चात् आयी हो तो भी कभी-कभार इसमें विकल्पपूर्वक थोड़ी कृत्रिमता सहित भी भेदज्ञान वर्तता है। यहाँ अभेद अनुभव के बाद भेदज्ञान सहजरूप से ही वर्तता है। इसे याद करने का, स्मृति में रखने का, रटने का कोई प्रकार नहीं है। सविकल्पदशा में भी परिणतिरूप निरंतर वर्तता है और सविकल्पदशा में उपयोग बाहर जाता है तो भी उपयोग राग में या परपदार्थ में मिथ्यात्व अवस्था में तन्मयता से जो वर्तता था,

वह तन्मयरूप से नहीं वर्तता अपितु ज्ञान में भिन्नता का भाव स्पष्टरूप से बना रहता है।

बाह्य दृश्य में तो राग-द्वेष पहले जैसे राग-द्वेष होते थे ऐसे ही दिखें और उपयोग में भी पहले जो पराश्रित उपयोग की जो परिणति थी - उपयोग की स्थिति थी ऐसी स्थिति लगे तो भी उसमें नीरसता, भिन्नता - ये बहुत बड़ा फ़र्क पड़ा है। एक तो ऐक्यता नहीं होती है, तन्मयता नहीं होती है क्योंकि तन्मयता तो जहाँ तीव्र रस होता है वहीं होती है। तन्मयता नहीं होना यह सूचित करता है कि, काफ़ी मात्रा में इसमें से रस का अभाव हुआ है फिर भी उपयोग अस्थिरतावश जाता है।

प्रश्न :- भेदज्ञान की धारा उपयोग बाहर जाए उस वक्त भी निरंतर चलती है क्या ?

समाधान :- भेदज्ञान की धारा भले ही परिणति में है फिर भी उपयोग में ज्ञान कभी ऐक्यता को प्राप्त नहीं होता, तन्मयता को प्राप्त नहीं होता और नाहीं उतना रस भी होता है। क्योंकि एकाग्र होना, यह रस के बिना एकाग्र नहीं हुआ जाता। विभावरस ही इतनी हद तक - एक भूमिका में इतनी मात्रा में टूट गया है, छूट गया है कि, वहाँ एकत्व नहीं होता परंतु भिन्नता बनी रहती है। अपने भिन्न चैतन्यस्वरूप का ज्ञान उपयोग परपदार्थ के प्रति जाने पर भी स्पष्टरूप से रहता है। क्योंकि अपनी व्यापकता का प्रयोग तो पूर्वभूमिका में हो चुका है। मेरा ज्ञान परपदार्थ की ओर जाने पर भी परपदार्थ में व्याप्त नहीं होता, ऐसा व्याप्ति द्वारा भिन्नता का अभ्यास तो पूर्वभूमिका में ही किया है। वह अभ्यास बहुत प्रगाढ़ होने पर तो यह शुद्धोपयोग हुआ है कि, जिसने बुद्धिपूर्वक के शुभाशुभ विकल्प की श्रृंखला को तोड़ डाली है। एकबार साँकल टूट गई

फिर वह टूटी हुई साँकल में अनंत भवभ्रमण का बंधन करने की परिस्थिति नहीं रहती। इसमें विशेषता यह है कि, उपयोग में ज्ञान परपदार्थ के प्रति जाये तो भी उसमें तन्मयता या एकत्व - यह प्रकार उपयोग में भी नहीं है। लब्ध को तो विषय ही नहीं है परंतु इसे (उपयोग को) तो विषय है। लब्ध परिणति को तो आत्मा के अलावा (दूसरा कोई) विषय नहीं है। जब कि (उपयोग में) आत्मा को छोड़कर पर विषय होने के बावजूद भी तन्मयता या एकत्व का अनुभव नहीं होता है। भिन्नता का अनुभव रहता है और तन्मयता हो जाये उतना रस ही नहीं होता, इतना रस आता ही नहीं है, उत्पन्न ही नहीं होता। सहज ही ऐसे नीरस परिणाम रहते हैं।

प्रश्न :- उपयोग में भिन्नता का अनुभव सतता रहता हैं ?

समाधान :- सतत चलता है। जैसे रास्ते पर सैकडों मकान एक Line में दिखते हो तो भी `मेरे नहीं हैं' क्या ऐसा विकल्प करना पड़ता है ? आप बाज़ार में जाते हो, `भावनगर' में तो पूरी बाज़ार ढलान में है। `घोघा दरवाजा' से लेकर `खारगेट' तक की Line दिखे (इसमें) `मेरे नहीं हैं' ऐसा विकल्प करना पड़ता है क्या ? `इन मकानोंमें से एक भी मकान मेरा नहीं है' ऐसा विकल्प करना पड़ता है क्या ? ज्ञान ही वैसे होता है। ठीक इसी तरह जिस ज्ञान में स्वरूप के साथ एकत्व वर्तता है उस ज्ञान में पर से भिन्नता का अनुभव सहज ही वर्तता है, विकल्प करना नहीं पड़ता।

(मिथ्यादृष्टि को) बिना विकल्प एकत्व हो जाता है। जिन-जिन ज्ञेयों को जानता है उन-उन ज्ञेयों का इतना आश्रय कर लेता है कि, एकत्वभावरूप जानता है, पर के अवलंबनपूर्वक जानता है। ज्ञेयज्ञायकसंकरदोष होता है। जहाँ राग-द्वेष होते हैं वहाँ तो भाव्यभावकसंकर दोष होता है, परंतु जहाँ राग-द्वेष नहीं हो, क्योंकि

ऐसे भी ज्ञेय हैं कि जिससे खुद का राग-द्वेष होने का संबंध नहीं है, सिर्फ जानने में आये भी एकत्वभाव से जानने में आते हैं। ज्ञेय का जानना तन्मयता सहित होता है। वहाँ तन्मय होने के लिए विकल्प कहाँ करना पड़ता है ? सहज ऐसी दशा है। ठीक वैसे ही यह सहज दशा है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग में ज्ञान की स्थिति है। `**श्रद्धा तो अखण्ड स्वरूप में प्रसरित हो जाती है और अपने परमात्मपद के अलावा अन्य किसी द्रव्यभाव को वह स्वीकारती नहीं है।**' श्रद्धा को तो दूसरा विषय ही नहीं है। वह तो अपना जो परमात्मतत्त्व है उसमें जैसे प्रसर जाती है, व्याप्त हो जाती है, भाव से अभेद हो चुकी है। परिणाम परिणाम रहता है, त्रिकाली त्रिकाली रहता है तो भी भाव में परिणाम और त्रिकाली का भेद वहाँ नहीं रहता। इसलिए प्रसर जाती है, व्याप्त हो जाती है, एकमेक हो जाती है, अभेद हो जाती है, ऐसा कहा जाता है और अपने परमात्मपद के अलावा स्व-स्वरूपरूप अन्य किसी भी द्रव्य का या किसी भाव का वह स्वीकार नहीं करती अथवा तो श्रद्धा किसी को नहीं श्रद्धती है। एक अपने परमपद के अलावा श्रद्धा किसी को नहीं श्रद्धती। श्रद्धा का विषय अपना परमात्मतत्त्व ही रहता है और इसके अलावा कोई भी परिणाम या कोई भी द्रव्य, द्रव्य या भाव उसे श्रद्धा नहीं श्रद्धती अर्थात् विषय नहीं करती।

`**स्वयं के परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा का नाश हो जाता है।**' क्या हुआ था ? कि, अनादि से पर्यायबुद्धिवश वर्तमान परिणाम में (ही) अपनी हयाती - मात्र परिणामरूप ही खुद का अवधारण करके अस्तित्व का जो वेदन चलता था कि, `मैं ऐसा और इतना ही हूँ; जो-जो परिणाम, जब-जब जो-जो परिणाम हो तब-तब केवल

उस परिणामरूप ही खुद का अस्तिरूप श्रद्धा में स्वीकार करता था, उस परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा का नाश हो जाता है। अपने ही परिणाममें से (जब) अस्तित्वपने की श्रद्धा का नाश होता है तो फिर परिणाम के विषयभूत कोई भी अन्य पदार्थ - द्रव्य, भाव हों तो उन द्रव्य-भाव में तो श्रद्धा रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्रद्धा का ऐसा ही कोई परिणमन अपने त्रिकाली स्वरूप में होता है कि अनादि से पर्यायरूप जो श्रद्धा में श्रद्धान होता था वह छूट जाता है। यह श्रद्धान मतलब अस्तित्व का स्वीकार। श्रद्धा का विषय सत्ता का स्वीकार करना वह है। निजसत्तारूप स्वीकार होना उसका नाम श्रद्धा है। स्वयं के परिणाम में अनादि से जो अस्तित्वपने की श्रद्धा थी उसका भी नाश हो जाता है।

`**वह शुरूआत से लेकर केवलज्ञान पर्यंत की पूर्णदशा निकट में वर्तती होने पर भी...**' फिर स्वयं के परिणाम में कोई परिणाम बाकी नहीं रहे। फिर तो शुरूआत में खुद - स्वयं सम्यग्दर्शन के परिणाम हो तो उसमें भी खुद अपनेआप को विषय नहीं करती - श्रद्धा नहीं करती और परिपूर्ण केवलज्ञान हो तो भी श्रद्धा उसे विषय नहीं करती है - उसे श्रद्धती नहीं है। श्रद्धा शुरूआत से लेकर केवलज्ञान पर्यंत की पूर्णदशा के साथ रहती होने पर भी, क्षायिक सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान एक समय में साथ में रहते हैं फिर भी श्रद्धा अपने परमतत्त्व में ही जुड़ी हुई रहती है। श्रद्धा वहाँ से उखड़कर केवलज्ञान पर भी नहीं आती।

श्रद्धा का स्वभाव - श्रद्धा गुण का स्वभाव अपने परमात्मतत्त्व का ही स्वस्वरूप में - स्वसत्तारूप स्वीकार करना - इतना ही उसका गुण है। त्रिकाली अस्तित्व भी वहीं है। अपना त्रिकाली अस्तित्व स्वभाव भी परमात्मतत्त्व में ही है। जहाँ अपना त्रिकाली अस्तित्वपना

है वहीं पर अपने अस्तित्व का स्वीकार करे तो वह अस्तित्व का सही स्वीकार हुआ है। बस, इतना ही इसका विषय है। फिर तो समझाने के लिए, स्पष्ट करने के लिए ऐसा कहा जाता है कि, वह अन्य का स्वीकार नहीं करती है, हकीकत में उसका विषय वहाँ पूरा हो गया। स्वयं का परमात्मतत्त्व श्रद्धा के कब्जे में आया कि उसने अपना कार्य पूरा कर लिया। फिर तो उसे स्पष्ट करने के लिए नास्ति से कहना पड़ता है कि, इसके अलावा दूसरा कुछ इसमें नहीं होता, फिर बगल में चाहे केवलज्ञान हो तो भी श्रद्धा उसके सामने देखती तक नहीं। वहाँ से उखड़कर अन्यत्र कहीं वह जाती ही नहीं है न ! अथवा अपना परमपद इतना महान है और इसके आगे सबकुछ अपरमपद के स्थान में होने से श्रद्धा को कहीं और ज़गह जाने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। अतः श्रद्धा को यदि समझ लिया तो उसके बारे में दूसरे विकल्प को अवकाश नहीं है। जिस श्रद्धा को अपना परमात्मतत्त्व हाथ लग गया उस श्रद्धा को अब वहाँ से किसी अन्य को विषय करना, श्रद्धा के रूप में श्रद्धा करना, यह विकल्प होना अशक्य है। इसका कोई विकल्प ही कर्तव्य नहीं है या विकल्प ही होने योग्य नहीं है। श्रद्धा की परिस्थिति ऐसी है।

श्रोता :- श्रद्धा को पर्याय का विषय ही नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, श्रद्धा को कोई भी पर्याय का विषय नहीं है। एक परमात्मतत्त्व ही - इतना ही उसका विषय है, वहाँ उसका विषय समाप्त होता है। फिर इसकी समाप्ती को स्पष्ट करने के लिए कहना पड़ता है कि, इसके अलावा कोई द्रव्य-भाव इसका विषय नहीं है।

`समयसार' की ११ वीं गाथा है। `**भुदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी**

हवदि जीवो।' भूतार्थ के आश्रित जो सम्यग्दर्शन हुआ तो वहाँ `अमृतचंद्राचार्यदेव' ने टीका की कि, समस्त व्यवहार अभूतार्थ (है)। यानी कि व्यवहारनय का विषय ही श्रद्धा को नहीं है। फिर व्यवहारनय के विषय में परिणाम तो आ जाते हैं ऐसे नहीं, जिस परमात्मतत्त्व का उसने आश्रय किया उस परमात्मतत्त्व में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि कथंचित् गुणभेद भी है लेकिन वह भी व्यवहारनय का विषय है। उसको भी श्रद्धा विषय नहीं करती। इसलिए पूरा व्यवहार - समस्त व्यवहार को अभूतार्थ कह दिया है। व्यवहार व्यवहार के स्थान में है, व्यवहारनय का विषय - नय मतलब नयज्ञान का विषय हुआ न ? व्यवहारनय का विषय अपने स्थान में है यह (भी) ज्ञान की प्रधानता से कहना पड़ता है। श्रद्धा को तो वह है या नहीं, दोमें से एक का भी काम नहीं है। क्योंकि `नहीं होना' मतलब जो `है नहीं' उसका नाम `नहीं होना'। `नहीं होना' मतलब ? कि जो `है नहीं' उसका नाम `नहीं होना'। लेकिन `है' तो इसमें पहले आया न ? तो कहते हैं कि, जहाँ है ही नहीं वहाँ फिर `नहीं है' और `है' दो बातें कहाँ रही ? दोमें से एक भी श्रद्धा को नहीं है। श्रद्धा का ऐसा एक विशिष्ट प्रकार का परिणमन है।

इसी प्रकार केवलज्ञान भी श्रुतज्ञान में व्यवहारनय का विषय है। केवलज्ञान में नय के (भेद) नहीं पड़ते, केवलज्ञान के समय नयों की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि वह नयातीत दशा है। श्रुतज्ञान की नयविकल्परूप भूमिका को पार करके केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। परंतु यह केवलज्ञान भी श्रुतज्ञानी को व्यवहारनय के विषय में जाता है। अतः श्रद्धा में वह विषयभूत नहीं है। केवलज्ञान को भी श्रद्धा विषय नहीं करती है या ज़ोर देकर कहना हो तो यूँ भी कह सकते हैं कि, केवलज्ञान हुआ कि नहीं, परमानंद की उत्पत्ति

हुई या नहीं, इसकी दरकार श्रद्धा को नहीं है। श्रद्धा को तो केवलज्ञान और परमानंद से भी अनंतगुणविशिष्ट परमात्मतत्त्व हाथ लग चुका है। इसलिए अब उसको किसी की परवाह नहीं है, कि, कोई है या नहीं ? कुछ हुआ कि नहीं हुआ यह श्रद्धा को शुरू से ही नहीं देखना है। जब से श्रद्धा हुई है तब से यह बात नहीं देखती है कि, सम्यग्ज्ञान वर्तता है या केवलज्ञान वर्तता है ? आनंद अधूरा है या आनंद पूर्ण है ? यह श्रद्धा नहीं देखती। उसको तो परिपूर्ण तत्त्व हाथ लग चुका है। बस, मेरा काम पूरा हो चुका। मुझे जो मेरा सर्वस्व चाहिए था वह सर्वस्व मुझे मिल गया है। मेरी बात पूरी हो गई, मुझे अब कुछ भी देखने का नहीं रहा कि, दशा में कमी है या अपूर्णता है ? यह कोई मेरा विषय नहीं है। वह ज्ञान का विषय है, मेरा विषय है नहीं। इस प्रकार श्रद्धा की मस्ती, जैसे किसी ने नशा किया हो, वैसी है ! श्रद्धा तो नशे जैसी चीज़ है ! दूसरा कुछ भान इसमें नहीं रहता। एक के भान में इस प्रकार वर्तती है। निज परमात्मपद के भान में इस प्रकार वर्तती है कि, अन्यत्र सब ज़गह से बेभान- सी रहती है। ऐसा एक सम्यक्श्रद्धा का सम्यक् परिणमन है।

श्रोता :- `सोगानीजी' ने कहा कि, सिद्धदशा हो तो भी मुझे क्या ?!

पूज्य भाईश्री :- सिद्धदशा हो चाहे निगोददशा हो। न तो सिद्धदशा से मुझे लाभ है न निगोददशा से मुझे कोई नुकसान है ! ऐसा लिया है। लोगों को तो रुपया, आना, पाई में लाभ-नुकसान दिखता है। इसकी Term चाहे आबरू हो चाहे ज़मीन हो परंतु मूल तो सब की कीमत दुनिया में रुपयों से होती है। आबरू का दावा भी लोग रुपयों में ही करते हैं न ? न्यायालय में आबरू का

दावा करते हैं वह किसतरह करते हैं ? दस लाख रुपयों का या एक करोड़ का मेरी आबरू का दावा दर्ज करें। यहाँ तो वह प्रश्न ही नहीं है। ऐसा श्रद्धा का विषय है।

(श्रद्धा) केवलज्ञान पर्यंत की पूर्ण दशा को भी विषय नहीं करती। **`ऐसा ही कोई स्वाभाविक गुण सम्यक्श्रद्धा के विषय में है।'** यह इसका स्वाभाविक गुण है। और किसीका उसको भान नहीं है। एक मात्र अपने परमस्वरूप का ही इसमें भान वर्तता है।

अब ज्ञान की बात है। **`मोक्षमार्ग में वर्तता सम्यक्ज्ञान स्व-पर प्रकाशन में अपने को शुद्धरूप उपासता रहता है और निर्मलता आदि धर्मसहित पूर्णता के प्रति गतिमान रहता है।'** मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कर रहा सम्यग्ज्ञान स्व और पर दोनों को विषय करता है। उसके स्व और पर दोनों विषय होते हैं। छद्मस्थदशा में भी है और केवलज्ञान में भी है। क्योंकि वह इसका स्वभावधर्म है। अतः स्व-परप्रकाशक ऐसा सम्यग्ज्ञान यहाँ अपनेआप को तो शुद्धरूप - स्व के रूप में उपासता है, पर को पररूप जानता है और स्व को स्व के रूप में वेदता हुआ, उपासता हुआ प्रवर्तता है और इसमें ज्यों-ज्यों उस (सम्यक्ज्ञान में) परिणमन का काल बीतता जाता है त्यों-त्यों निर्मलता - ज्ञान की निर्मलता आदि अनेक धर्म जो हैं वे धर्म परिपूर्ण हों वैसे पूर्णता के प्रति ज्ञान की गति चालू रहती है। पूर्णता के प्रति चालू रहती है। पूर्ण निर्मलता हो जाएगी, परिपूर्ण निर्लेपता हो जाएगी, परिपूर्ण स्वच्छता हो जाएगी। सारे के सारे धर्म परिपूर्ण हो जायेंगे। `तत्त्वानुशीलन' में हमने ज्ञान के कौन-कौन से मुख्य धर्म हैं वह लिया है। वैसे तो ज्ञान को अनंत धर्मों का रूप है परंतु मुख्य-मुख्यरूप से समझ में आये ऐसे जो धर्म हैं, वे सब पूर्ण हो जायेंगे।

प्रश्न :- ज्ञान को इतने-इतने धर्म हैं जब कि श्रद्धा को इतने धर्म नहीं हैं ?

समाधान :- श्रद्धा के (भी) इतने ही धर्म हैं। एक गुण को अनंतगुण का रूप है। श्रद्धा को भी इतने धर्म हैं परंतु उसे कहना, विस्तार करना मुश्किल पड़े ऐसा है। जैसे कि श्रद्धा श्रद्धा के रूप में तो निर्मल ही है, निर्मलता उसमें भी है। वैसे तो निर्मलता चारित्र में जाती है। निर्मलता अर्थात् शुद्धता, परंतु वह चारित्रप्रधान धर्म है। एक गुण को अनंतगुण का रूप है इसलिए सभी धर्म उसको लागू होते हैं। परंतु सभी धर्मों को बताया नहीं जा सकता, कहा नहीं जा सकता। (वैसे भी) छद्मस्थ के ज्ञान में अलग-अलगरूप से इतने स्पष्ट होते भी नहीं।

प्रश्न :- सब भले ही न हो किन्तु दस-बीस-पचास जितने तो हो सकते हैं न ?

समाधान :- हाँ, कुछएक होते हैं। जैसे कि श्रद्धा है वह निर्लेप रहती या नहीं ? श्रद्धा श्रद्धारूप से किसी के साथ लेपायमान नहीं होती है (तो) निर्लेपता हुई कि नहीं ? इसके साथ अन्य किसी की मिलावट नहीं है इसका मतलब निर्मल हुई कि नहीं ? निर्मल श्रद्धान कहा जाता है। श्रद्धा कैसी कहलाती है ? दृष्टि को निर्मलदृष्टि कहते हैं। ये सारे धर्म उसको भी लागू होते हैं। श्रद्धा है वह आत्मा की श्रद्धा होने से उसे चैतन्य का भी धर्म है। चेतनामय है, श्रद्धा जड़ नहीं है। चेतनामय है परंतु इसमें जानने का गुण नहीं है।

श्रोता :- वे सब तो सामान्य गुण हैं।

पूज्य भाईश्री :- सब गुणों को - अनंत गुणों को परस्पर प्रत्येक का रूप है। एक गुण को अनंत गुण का रूप है वैसे ही प्रत्येक

गुण को अनंत गुणों का रूप है। अनंतों गुणों को - प्रत्येक को अनंत का रूप है।

प्रश्न :- वह तो ठीक है परंतु दूसरे गुण का कोई विशिष्ट धर्म भी तो होगा न ?

समाधान :- प्रत्येक को अपना विशिष्ट धर्म है - गुण है। उसे गुण कहा जाता है। श्रद्धा का श्रद्धान करना वह गुण है। ज्ञान में विश्वास आना वह श्रद्धापरक धर्म है। ज्ञान विश्वास करता है वह उसका श्रद्धापरक धर्म है, परंतु जानना यह इसका गुण है, वेदन करना इसका गुण है। वह दूसरे गुण में नहीं है। आनंद में आनंद इसका गुण है वह दूसरे गुण में नहीं है। वैसे एक गुण में दूसरा गुण नहीं है, परंतु एक गुण को अनंत गुण का रूप है। जैसे कि सूक्ष्मत्व स्वभाव है। पूरा आत्मा सूक्ष्म है तो इसके अनंतों गुण (भी) सूक्ष्म हैं।

`दीपचंदजी' ऐसी शैली लेते हैं कि, सूक्ष्म(त्व) गुण ने अपनी सूक्ष्मता सभी गुणों को दी है। आत्मा का जो सूक्ष्मत्व नाम का गुण है उसने अपनी सूक्ष्मता सभी गुणों को दी है। सब के सब गुणों को उसने सूक्ष्म कर दिया है। परंतु वह इसका धर्म है ऐसा इसका अर्थ है। वह सभी गुणों का रूप है। सभी गुण स्वभाव अपेक्षा से सूक्ष्म है ऐसा इसका रूप है। ठीक वैसे ही अस्तित्वगुण ने सभी गुणों को कायमी अस्तित्व प्रदान किया है, परंतु वह तो उसका रूप है। अस्तित्व गुण तो अस्तित्व गुण में ही है। अस्तित्वगुण दूसरे गुण में नहीं जाता परंतु इसका रूप आता है। और यही समग्र द्रव्य की अखण्डता व अभेदता का एक मुद्दा है। यह एक समग्र द्रव्य की अखण्डता व अभेदता का मुद्दा है कि, जिसके कारण एक गुण से पूरा द्रव्य विशिष्ट है।

प्रत्येक गुण से पूरा द्रव्य विशिष्ट है। जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है वैसे ही पूरा का पूरा आत्मा आनंदस्वरूप (भी) है। ठीक वैसे ही आत्मा अस्तित्वस्वरूपी है और श्रद्धास्वरूप (भी) है। एक गुण में अनंतवें भाग का कोई प्रतिशत - Percentage लागू नहीं होता। द्रव्य पूरा सभी गुणस्वरूपभूत ही है। आत्मा पूरा ज्ञानस्वरूप है, अनंतवें भाग में ज्ञानस्वरूप नहीं है। अनंत गुण में एक गुण तो अनंतवें भागरूप हुआ तो आत्मा कोई अनंतवें भाग में ज्ञानस्वरूप नहीं है। पूरा आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, पूरा आत्मा आनंदस्वरूपी है, पूरा आत्मा अस्तित्वस्वरूपी है। जैसे एक आदमी अपने पुत्र का पिता है और अपने पिता का पुत्र है। तो पचास प्रतिशत पुत्र और पचास प्रतिशत पिता, ऐसा है क्या ? नहीं, पूरा का पूरा पिता है और पुत्र भी पूरा ही है। पूरा का पूरा है, अधूरा नहीं है।

यह एक विज्ञान है। जैसे शरीर में उसको Metabolism कहते हैं। आपकी आँख में जैसे एक फुँसी हुई हो तो वहाँ तो मरहमपट्टी कर सके ऐसा मरहम नहीं होता। Poisonous मरहम हो उसे आँख में तो नहीं लगा सकते और वह मिटती न हो। सामान्य सुरमा या दूसरा कुछ-कुछ लगाने के बावजूद भी जब मिटती नहीं है तब क्या है कि उसको Injection देते हैं। अब Injection तो नस में देते हैं या Muscle में देते हैं लेकिन आँख की फुँसी मिटती है, वहाँ (आँख में) भी मिट जाती है। उपचार एक ज़गह किया और फायदा दूसरी ज़गह हुआ, क्यों ? दोनों अवयव तो भिन्न-भिन्न है। Muscle में जहाँ Injection मारा और आँख दोनों तो भिन्न-भिन्न है। फिर भी शरीर की रचना वैज्ञानिकरूप से ऐसी है कि एक-दूसरे के साथ एक-दूसरे को कुछ तो संबंध है जो संबंध है वह शरीर की एकता को सूचित करता है कि, यह एक पूरा

शरीर है। एक आदमी को Injection मारने से दूसरे आदमी के शरीर में फेरफार नहीं होता। एक को Injection दे दें तो इसको (दूसरे को) फायदा हो जाये, ऐसा तो नहीं बनता। परंतु एक अवयव पर उपचार करने से दूसरे अवयव पर इसका असर हो, ऐसा तो बनता है क्योंकि शरीर पूरा एक है। आयुर्वेद में उसको `कला' कहते हैं ! उसको कला का नाम दिया है। ऐसी स्थिति है कि पेट में कुछ डालने से पूरे शरीर में चीज़ फैलती है। दवाई पीने से आपका दर्द मिट जाये। रोग कान में हुआ हो, नाक में हुआ हो, आँख में हुआ हो तो (भी) दवाई पेट में डालने से दर्द मिट जाता है। दवाई हरजगह पहुँचती है। ऐसा ही यहाँ भी है।

एक गुण को अनंत गुण का रूप है तो पूरा द्रव्य प्रत्येक गुणरूप होता है। वह इसकी अभेदता है और वह सम्यग्दर्शन का - सम्यक्त्व का विज्ञान है कि, एक सम्यक्त्व होने पर, प्रथम शुद्धोपयोग के समय एक सम्यक्त्व होते ही सभी अनंत गुण आंशिकरूप से उस-उस भूमिका में शुद्ध हो जाते हैं। कोई भी गुण परिपूर्णरूप से अशुद्ध रहे ऐसा नहीं बनता। यह वस्तु की अभेदता को सूचित करता हुआ इसका विज्ञान है।

प्रश्न :- ज्ञान के ४४ धर्म लिए हैं उन विवक्षाओं को समझना क्या ?

समाधान :- हाँ, वे अलग-अलग गुणों की प्रधानता से धर्म लिए हैं। इसीलिए तो कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण इन छः कारकों के जो छः गुण हैं वे पर्याय को लागू पड़ते हैं। क्योंकि उसका परिणमन धर्म वहाँ है। ज्ञान ही कर्ता है, ज्ञान ही कर्म है, ज्ञान को ज्ञान का ही साधन है, ज्ञान को ज्ञान का ही अधिकरण है - ये सब लागू पड़ते हैं। ज्ञानमें से ही ज्ञान आता

है, ज्ञान को ज्ञान का संप्रदान है। इस प्रकार सब - छओं गुण - धर्म लागू पड़ते हैं। षट्कारक का जो विषय है वह पर्याय को इसी तरह लागू पड़ता है। इसीलिए तो विभाव में इसकी स्वतंत्रता ली है। जहाँ विभाव होता है वहाँ विभाव होने का गुण नहीं होने पर भी विभावरूपी कार्य तो हुआ और कार्य कारक बिना तो नहीं होता। विभाव तो एक कार्य है और कार्य कारक बिना (तो होता नहीं)। करनेवाला - कारक अर्थात् करनेवाला। छः कारकों के बिना कोई कार्य नहीं होता। एक कार्य को छओं कारक होते हैं। मतलब इस प्रकार लागू पड़ता है। यह इसकी स्वतंत्रता है - यह पर्याय की स्वतंत्रता है। इस तरह वह लागू पड़ता है। क्योंकि स्वभाव तो है नहीं, स्वभाव में तो अशुद्धतारूप परिणमन करने का गुण ही नहीं है। कर्ता गुण, कर्म गुण, संप्रदान गुण, अधिकरण गुण- इन छओंमें से विभावरूप परिणमन करने का एक भी गुण नहीं है, तो फिर विभाव हुआ कहाँ से ? कि, पर्याय के स्वतंत्र षट्कारकों से हुआ, ऐसा कहना पड़ता है।

प्रश्न :- अनंतमें से कोई गुण ऐसा नहीं है ?

समाधान :- नहीं, कोई गुण ऐसा नहीं है। अनंतमें से एक भी गुण ऐसा नहीं है। परंतु छः कारकों को तो पर्यायरूपी कार्य को करनेवाले कहे जाते हैं। फिर तो (विभाव) हुआ इसका कारक कौन ? तो कहते (हैं) कि, वे पर्याय के स्वतंत्र छः कारक हैं। वरना वह बात सिद्ध नहीं होगी।

(यहाँ चलते हुए विषय में कहते हैं कि) `**मोक्षमार्ग में वर्तता सम्यक्ज्ञान स्व-पर प्रकाशन में अपने को शुद्धरूप उपासता रहता है...**' अर्थात् ऐसा कहकर यों कहना चाहते हैं कि, परद्रव्य को प्रकाशित करता है लेकिन परद्रव्य को उपासता नहीं है। हालाँकि

उपासना वह चारित्रप्रधान बात है परंतु वह ज्ञान की उपासना भी है तो वह स्व को स्व के रूप में उपासता है, पर को मात्र पररूप जानकर छूट जाता है। पर को स्व के रूप में नहीं उपासता, इसके अंदर पर का आराधन नहीं है, उपासना नहीं है और इसके निर्मलता आदि अनेक धर्म हैं जिसके समेत वह पूर्णता को प्राप्त होने के लिये हमेशा - निरंतररूप से गतिमान रहता है। उसकी गति चालू ही रहती है। उसका मोक्ष तो नियत हो चुका। जिसको मोक्षमार्ग प्रगट हुआ उसका मोक्ष तो नियत हो चुका। जब मोक्ष नियत हो चुका तो जितना समय जाता है इसमें मोक्ष के प्रति ही वह गतिमान है। मोक्ष के समीप ही जा रहा है। श्रुतज्ञान है वह प्रतिसमय मोक्ष के - केवलज्ञान के समीप ही जा रहा है। इसलिए ऐसा कहते हैं कि, श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। क्योंकि वह इसके समीप होते जा रहा है, वह बुलाता है इसलिए आएगा। जिसको बुलाते है वह आएगा।

पुनश्चः मोक्षमार्ग में `**ज्ञान की प्रवृत्ति नय-प्रमाणयुक्त होती है।**' मोक्षमार्ग में ज्ञान की जो प्रवृत्ति है वह नय-प्रमाण सहित ही होती है। कभी भी प्रमाणज्ञान न हो और अकेला नय प्रवर्ते ऐसा नहीं बनता। अर्थात् नय-प्रमाण सहित ही उसकी प्रवृत्ति होती है। अनंत नयों में मुख्य दो नय हैं - निश्चयनय और व्यवहारनय। मोक्षमार्ग में - तीनों काल के मोक्षमार्ग में हमेशा `**हमेशा व्यवहारनय की गौणता तथा निश्चयनय की मुख्यता रहने के कारण से निश्चय स्वरूप...**' जो आत्मा है वह `**सधता है...**' सधता जाता है। उसकी साधना चालू रहती है। व्यवहारनय का विषय गौण रहता है, निश्चयनय का विषय हमेशा मुख्य रहता है। व्यवहारनय का प्रतिपादन करे, व्यवहार के स्थान में व्यवहारनय के विषय का आचार्यदेव प्रतिपादन

करे तब भी (वे) निश्चय की मुख्यता को छोड़कर प्रतिपादन नहीं करते। उपयोग में तो ऐसा लगे कि, अभी व्यवहारनय का विषय दर्शाते हुए एक बार ऐसा कहेंगे कि, `तू निश्चयनय के चक्षु को सर्वथा बंद कर' स्पष्टरूप से समझाने के लिए ऐसे भी कहेंगे (`प्रवचनसार' - ११४ वीं गाथा) `सर्वथा बंद कर' यों भी कहेंगे। वास्तव में होता क्या है कि, जीव एक बात में दूसरी बात बीच में ले आता है इसलिए उसको यह विषय समझ में नहीं आता है। उसे स्पष्टरूप से समझाने के लिए ऐसा भी कहेंगे कि, `तू सर्वथा उस चक्षु को बंद कर दे' फिर भी निश्चय की मुख्यता नहीं छूटती, ऐसा समझना।

यह ऐसा है कि, दो भाई के बीच विचारभेद हो, कोई ऐसा भी कहेगा कि, ये दो भाइयों की आपस में जमती नहीं है, परंतु जब तीसरा कोई मारने आ जाए तब आपस में `प्रेम नहीं है' यह बात नहीं रहती। (तब तो) दोनों एक होकर खड़े रहेंगे। उसवक्त भी भीतर का जो विचारभेद है वह कोई छूट नहीं जाता। परंतु उस तीसरे की अपेक्षा दोनों एक होकर खड़े हैं। दो की अपेक्षा तो दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष में ही खड़े हैं। ऐसा बनता है कि नहीं ? इसी प्रकार यह देश के अंदर आपस में पक्षापक्षी है, आमने-सामने हो तो भी तीसरे की अपेक्षा दो एक हो जाते हैं। परदेश की अपेक्षा एक हो जायेंगे अथवा किसी एक पक्ष के सामने दूसरे दो पक्ष एक हो जातें हैं। (- जब कि दोनों के) सिद्धांत तो विरुद्ध होते हैं। अभी राजनीति इसी पर तो चलती है कि नहीं ? अतः ऐसा जो आपस में प्रकार है उसे समझना चाहिए। इस प्रकार हमेशा निश्चयस्वरूप की मुख्यता रहने के कारण निश्चय सधता है।

`**और निश्चय के ज़ोर से अशुद्धता टलती जाती है तथा शुद्धता**

वृद्धिगत होती जाती है।' इस तरह निश्चय की मुख्यता होने से इसकी बलवत्तरता के कारण अशुद्धता टलती जाती है, और शुद्धता वृद्धिगत होती जाती है। **`तो भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ के अनुसार सिद्धि के समय का आधार है।**' यह सिद्धांत है। मोक्षमार्ग का यह सिद्धांत है कि, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सर्व साधक धर्मात्माओं को होने पर भी कोई जल्दी से मुक्ति में जाता है तो कोई देरी से मुक्ति में जाता है, सिद्धदशा की सिद्धि किसी को जल्दी होती है तो किसी को देरी से होती है तो इसका क्या कारण है ? इसका आधार पुरुषार्थ है। जिस जीव का जितना तीव्र पुरुषार्थ उस जीव की सिद्धि इतनी जल्दी।

दृष्टांतरूप से एक जीव (का) हज़ारों-लाखों वर्ष का आयुष्य हो, करोड़ों साल का आयुष्य हो और फिर सिद्धदशा को प्राप्त करेगा। (जब कि) कोई एक जीव का आयुष्य अल्प हो, जो सम्यग्दर्शन पाकर उपशममें से सीधा क्षायिक में आ जाए और दीक्षा आदि तो पहले ले ली हो (इसलिए) क्षायिकमें से चारित्र में आ जाए, केवलज्ञान हो जाए और आयुष्य पूर्ण करके सिद्ध दशा को प्राप्त कर ले। अंतर्मुहूर्त में सारा काम पूरा ! अंतर्मुहूर्त में पूरा !! इस प्रकार पुरुषार्थ जितना तीव्र हो, उस पर सिद्धि का आधार है। **`तो भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ के अनुसार सिद्धि के समय का आधार है। अर्थात् पूर्ण शुद्धि को प्राप्त होने में पुरुषार्थ की तीव्रता से अल्प समय में पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति होती है, जितनी शिथिलता रहती है...**' - मंदता रहती हो **`उतना समय ज्यादा लगता है; परंतु...**' फिर भी, ज्यादा लगता है तो भी **`अल्प (असंख्य) समय में साधकदशा की पूर्णता अवश्य हो जाती है;...**' किसी भी साधक को अनंतकाल लग जाए इतना मंद पुरुषार्थ नहीं होता। फिर चाहे सर्वार्थसिद्धि

का भव हो तो भी असंख्य समय है, इसमें अनंतकाल नहीं है। इस प्रकार साधकदशा की पूर्णता अवश्य हो जाती है।

`पुरुषार्थ की उग्रता में मोक्षमार्गी धर्मात्मा शुद्धोपयोग में परिणमन करते हैं...' जब-जब उनके पुरुषार्थ की तीव्रता होती है तब विकल्प टूटकर वे निर्विकल्पदशा में आते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में भी बारंबार आते हैं, पंचम गुणस्थान में भी (बारंबार) आते हैं और मुनिदशा में तो अंतर्मुहूर्त में शुद्धोपयोगरूप सातवें गुणस्थान में आ जाते हैं। **`पुरुषार्थ की उग्रता में मोक्षमार्गी धर्मात्मा शुद्धोपयोग में परिणमन करते हैं और पुरुषार्थ की मंदता में सविकल्पदशा में रहना होता है;...**' जब-जब मंदता हो तब-तब बुद्धिपूर्वक का राग - विकल्प उत्पन्न होता है, ऐसी उनकी हठरहित सहज दशा है। **`फिर भी परिणति में धर्मध्यान निरंतर चालू ही रहता है,...**' भले ही सविकल्पदशा में आये, इतना ही नहीं सविकल्पदशा में चतुर्थ एवम् पंचम गुणस्थान में तीव्र अशुद्धतापूर्वक अशुभ उपयोग में भी भले ही आये तो भी धर्म की परिणति - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की परिणति और धर्मध्यान तो चालू ही रहता है। **`जिसे स्वरूपआचरणचारित्र अथवा आत्मचारित्र कहने में आता है।**' यह चारित्र तो जो चतुर्थ गुणस्थान में शुरू हुआ वह यथाख्यातचारित्र तक चारित्र की एक ही जाति है। आगम अपेक्षा से उसके चार भेद किये हैं - अनंतानुबंधी प्रत्याख्यानावरणी, अप्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन। इस प्रकार चारित्र की प्रकृति के चार भेद हैं। परंतु स्वरूपाचरणचारित्र की जाति चारों में एक है। ये तारतम्यता की अपेक्षा इसके भेद हैं, जाति अपेक्षा से भेद नहीं है।

`ये सारे परिणाम अभेदरूप से और अविरुद्धपने से वर्तते हैं - ऐसा जानना चाहिये।' यानी कि श्रद्धा के, ज्ञान के, चारित्र के,

पुरुषार्थ के सारे परिणाम एक आत्मा का अवलंबन लेते हैं इसलिये वे एक और अविरुद्धरूप से वर्तते हैं, परस्पर एक-दूसरे का विरोध करके नहीं वर्तते। एक-दूसरे का नाश करे वैसे, घात करे वैसे नहीं वर्तते अपितु एक-दूसरे का समर्थन करते हैं। एक-दूसरे के पूरक बनकर वर्तते हैं और इसतरह अपना जो पूर्णपद है उस पूर्णपद को साधते हैं। ऐसा जानना चाहिये।

`**महात्माओं ने समस्त शास्त्रों की रचना भेदज्ञान होने के लिए की है।**' अब, इतने सारे शास्त्रों की रचना क्यों की ? बात जब इतनी ही है तो फिर इतने सारे शास्त्रों का विस्तार क्यों किया ? किस लिये हैं ? कि, किसी भी तरह जीव भेदज्ञान शुरू कर सके। पूरा `समयसार' इस एक ही विषय को मुख्य रखकर लिखा गया है। प्रत्येक अधिकार में भेदज्ञान का विषय चला है और भेदज्ञान हो इस हेतु से ही मानो जैसे सब शास्त्रों की रचना हुई है। सर्व शास्त्र जैसे अज्ञानी जीव को भेदज्ञान तक ले जाना चाहते हैं - यह हेतु है। फिर तो भिन्न-भिन्न अवस्था में अवस्थित जीव को वहाँ से आगे बढ़ने के लिए पहले क्या करना चाहिए ? इस विषय में चाहे अलग-अलग बातें हों और विस्तार भी हों तो भी समस्त शास्त्रों की रचना भेदज्ञान होने के लिए की है या तो आत्मा को स्वरूपप्राप्ति की विधि का ग्रहण हो इस हेतु से समस्त शास्त्रों की रचना की गई है। चारों अनुयोग में यह बात है।

`**क्योंकि यह उनका अखण्ड जाप है...**' क्योंकि जिन महात्माओं ने शास्त्रों की रचना की उन्हें अखण्डरूप से भेदज्ञान चलता है। जैसे मानो वह उनका अखण्ड जाप है ! वह उनको चालू ही है। अतः वे जब लिखते हैं तब भी इसी बात को लिखते हैं कि जो उनके परिणमन में है वही लिखते हैं।

प्रश्न :- अखण्ड जाप माने क्या ?

समाधान :- अखण्ड जाप है मतलब जैसे जाप होता है न ? लोग कहते हैं न कि, यह चौबीस घण्टों का अखण्ड जाप (है)। तो मतलब इसमें बीच में अंतर नहीं पड़ता। अखण्ड धुन या अखण्ड जाप हो वहाँ क्या होता है कि, एक से अधिक आदमिओं को बैठना पड़ता है। क्योंकि कब किसी को पानी पीना पड़े, किसी को शौच के लिए जाना पड़े इसलिए वरना तो कैसे करे चौबीसों घण्टें ? क्योंकि जाप चालू रहना चाहिए, बंद नहीं होना चाहिए। वैसे यहाँ निरंतर - नींद में भी हरसमय भेदज्ञान चालू ही रहता है। किसी भी समय मोक्षमार्ग में भेदज्ञान बंद नहीं होता। वह उनका अखण्ड जाप होने से `**अथवा स्वधर्म में रहनेरूप प्रवृत्ति है।**' इसलिए इसी बात को उन्होंने शास्त्र में लिखी है। इसीलिए उन्होंने शास्त्रों की रचना की है कि, जिस मार्ग पर हम चल रहे हैं उस मार्ग पर दूसरे जीव भी आये - सर्व जीव इस मार्ग को प्राप्त करें - यह उनकी भावना होती है। इस भावना की विशालता इतनी अत्याधिक है कि, इसमें किसी भी जीव को वे बाकी नहीं रखते। भव्य-अभव्य का भेद भी नहीं रखते। सभी जीव - समस्त जीव - सारा जगत इस मार्ग को - इस शांति को - इस धर्म को प्राप्त हों - ऐसी एक विशाल भावना उनके ह्रदय में सदा होती है। कभी भी नहीं हो ऐसा नहीं बनता। यह एक इस धर्म की सर्वोत्कृष्ट विशालता है। जहाँ संकुचितता नाम भी नहीं है ऐसा कहना होगा।

`**अतः स्वरूपप्राप्ति के अभिलाषी जीवों को समस्त सिद्धांत और उपदेश के सारभूत...**' क्या है (कि), जितने भी सिद्धांत और जितना उपदेश है - सिद्धांतबोध और उपदेशबोध, `श्रीमद्‌जी' ने दो बोध कहे न ? इन दोनों बोध के साररूप `**सम्यक्‌विधि को...**' जो कि

आत्मा को ग्रहण करने की - आत्मा का अनुभव करने की जो सच्ची कार्यपद्धति है उसे `**जानकर अंगीकार करने योग्य है।**' सिर्फ जानना पर्याप्त नहीं है कि, चलो, यह भी एक बात जानने को मिली। जानना... जानना... इस जानने के लोभ में यह भी जाना... यह भी जाना... (ऐसे नहीं)। जानकर अंगीकार करने जैसी है। इसका अमल हो इस तरह उसे जाननी चाहिए, इस प्रकार विधि का विषय यहाँ पूर्ण होता है।

अंत में मोक्षमार्ग के जो मुख्य-मुख्य गुण हैं उन गुणों की प्रवृत्ति का भी संक्षेप ले लिया है - श्रद्धा का, ज्ञान का, चारित्र का और पुरुषार्थ का। वह इस प्रकरण के सारांशरूप में है। सम्यक्‌विधि का - `सुविधि' का प्रकरण यहाँ समाप्त होता है।

श्री वीतराग सत्‌साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर ॅ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००

-

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પંચાસ્તિકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિંશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક- ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३०	निर्भांत दर्शनी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००

६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००

९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती(	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०